साहित्य में लिखित शब्द की सत्ता और श्रव्य-माध्यम में उसके प्रसारण के आयाम

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी0 फिल्0 उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
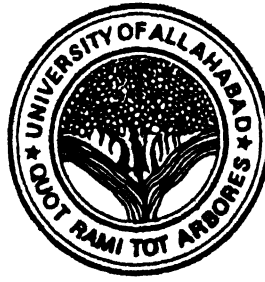
शोध निर्देशक :
डॉ० राजेन्द्र कुमार
प्रो० एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्ता :
मुरलीधर प्रसाद सिंह
शोध छात्र, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
2002

प्राक्कथन

यह रेडियो के सकट का काल है। टेलीविज़न जैसे चमक-दमक वाले दृश्य-श्रव्य माध्यम की चुनौती के फलस्वरूप उसके सामने अस्तित्व-रक्षा का सकट उपस्थित है। हालाँकि, पिछले कुछ वर्षों मे इसकी वापसी हुई है, जैसी कि सर्वाधिक विकसित देशों मे भी हुई, जहाँ कि टेलीविज़न के पाँच-पाँच सौ चैनल उपलब्ध हैं, और हमारे यहाँ से अधिक चमक-दमक वाले। परन्तु, यह वापसी हुई है अपना स्तर खोकर और उन्हीं की तरह सतही लोकप्रियता वाले धूमधामी कार्यक्रमों की बदौलत, उन्ही की तरह एक बेहद नक़ली और अश्लील भाषा और मुहावरे को अपनाकर। मेरे सामने प्रश्न यह था, ख़ुद एक रेडियोकर्मी होने के नाते और भी अकुलाता हुआ, कि क्या रेडियो का वास्तविक रूप सिर्फ़ समाचार-सूचना के संचार-माध्यम और अधिकाधिक श्रोताओ का सस्ता और सतही तथा पलायनवादी मनोरंजन करनेवाले माध्यम का है? यह भी एकमात्र बाज़ार की शक्तियों द्वारा नियंत्रित, सस्ती लोकप्रियता के बॉक्स-ऑफ़िस, वाला सूचना और मनोरंजन-उद्योग का ही एक अंग है अथवा, इसका एक वास्तविक कला-रूप भी है संवेदनशील और संप्रेषण की क्षमता से भरपूर? इसी प्रश्न का प्रतिफलन प्रस्तुत अध्ययन है।

इस अध्ययन के पहले अध्याय मे, साहित्य और श्रव्य-माध्यम रेडियो के संबधों के स्वरूप का विश्लेषण किया गया है तथा एक कला-रूप मे इसके उपकरणो की पड़ताल की गयी है।

दूसरे अध्याय मे, शब्द की पठ्यता और शब्द की श्रव्यता की प्रक्रिया तथा लिखित शब्द के श्रव्य शब्द मे बिंबात्मक-रूपांतरण की प्रणाली की छानबीन की गयी है।
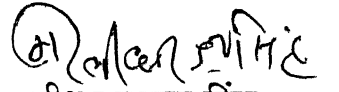
तीसरे अध्याय मे, प्रचलित साहित्य-रूपों के रेडियो-प्रसारण की समस्याओं तथा उनके तरीक़ों पर प्रकाश डाला गया है।

चौथे अध्याय मे, अकाल्पनिक गद्य-विधाओं के प्रसारण की संभावनाओ एव अपेक्षाओं का आकलन किया गया है।

पाँचवे अध्याय मे, श्रव्य-माध्यम रेडियो की चुनौती के फलस्वरूप अस्तित्व मे आये साहित्य एवं कला-रूपो की विवेचना की गयी है।

छठे अध्याय में, उपर्युक्त अध्ययन के निष्कर्षों को प्रस्तुत किया गया है।

यह अध्ययन कभी न हो पाता अगर निर्देशक प्रो0 राजेन्द्र कुमार का अनन्य सहयोग और मार्गदर्शन न मिला होता तथा जीवन-संगिनी डॉ0 शैलजा ठेल-ठेलकर काम मे न लगाये रखती। आकाशवाणी इलाहाबाद के पुस्तकालय, पब्लिक लायब्रेरी, राजकीय पुस्तकालय, हिन्दुस्तानी अकादमी के पुस्तकालय तथा सर्वाधिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन—संग्रहालय के कर्मचारियों के प्रति भी कृतज्ञ हूँ; इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग का भी, जिसने यह अध्ययन करने का अवसर प्रदान किया और आकाशवाणी का भी, जिसकी सेवा ने मन मे सवाल खड़े किये।

मुरलीधर प्रसाद सिंह

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन i-ii

अध्याय-1 साहित्य और श्रव्य-माध्यम रेडियो के संबंध का स्वरूप 1-34

1.1 साहित्य और रेडियो के संबंध का स्वरूप : विवेचना के आधार

1.1.1 तात्कालिकता

1.1.2 संवेदना

1.1.3 अन्वेषण

1.1.4 सहभागिता

1.1.5 भाषिक सर्जनात्मकता

1.2 रेडियो : एक कलारूप की दृष्टि से

1.3 एक कलारूप में रेडियो-संप्रेषण के उपकरण

1.3.1 शब्द

1.3.2 पार्श्व-संगीत अथवा प्रासंगिक भाव-संगीत

1.3.3 प्राकृतिक ध्वनियाँ

1.3.4 म्यूज़िक कॉंक्रीट या रेडियोफ़ोनिक प्रभाव

1.3.5 नीरवता

1.4 निष्कर्ष

अध्याय-2 शब्द की पठ्यता बनाम शब्द की श्रव्यता 35-79

2 1 सप्रेषण

2.1.1 अभिव्यजना

2.1.2 आशंसा और अभिव्यंजना

2.2 आशसक

2.3 अर्थग्रहण

2.3.1 अर्थग्रहण और माध्यम का हस्तक्षेप

2.3.2 साहचर्य और अर्थग्रहण

2.3.3 बिंब और अर्थग्रहण

2.3.4 बिंब : अर्थ और परिभाषा

2.3.5 बिंब-ग्रहण की प्रक्रिया

2.3.6 बिंब-रचना-प्रक्रिया के सोपान

2.3.7 आशंसक और बिंब-ग्रहण

2.4 बिंबात्मक-रूपातरण

2.4.1 बिंबाधायन में रेडियो की विशिष्ट शक्तियाँ

2.4.2 बिंबात्मक रूपांतरण और रेडियो के उपकरण

2.5 निष्कर्ष

अध्याय 3 प्रचलित साहित्य-रूप और श्रव्य-माध्यम में उनके प्रसारण की समस्याएँ 80-149

3.1 कहानी

3.1 1 कहानी का प्रसारण

(ı) कथा-पाठ

(ıı) नाट्य-रूपातरण

(iiı) वाचन-सह-अभिनय

3.2 उपन्यास

3 2 1 उपन्यास का प्रसारण

(i) धारावाहिक प्रसारण

(ıi) नाटय-रूपांतरण

(iii) पाठ-सह-अभिनय

3.3 नाटक

3.3.1 नाटक का प्रसारण

3.3.2 रेडियो-नाटक की शक्तियाँ और सीमाएँ

3.3.3 नाटक की रेडियो-रूपांतरण

3.3.4 नाटक का रेडियो-रूपांतरण करते समय ध्यान रखने योग्य बिदु

3.4 कविता

3.4.1 कविता का प्रसारण

(i) कविता की वाचिक परंपरा

(ii) सस्वर पाठ

(iii) भावपूर्ण पाठ

(iv) नाट्य-प्रस्तुति

(v) संगीतमय प्रस्तुति

(vi) संगीत-सह-नाट्य प्रस्तुति

3.5 निष्कर्ष

अध्याय-4 अकाल्पनिक गद्य-विधाओं का प्रसारण 150-185

4.1 निबंध

4.1.1 निबध का प्रसारण

4.1.2 निबंध के प्रसारण की समस्याएँ

4.2 संस्मरण

4.2.1 संस्मरण का प्रसारण

4.3 जीवनी और आत्मकथा

4.3.1 जीवनी

4.3.2 आत्मकथा

4.3.3 जीवनी और आत्मकथा का प्रसारण

4.4 यात्रा-वृत्तांत

4.4.1 यात्रा-वृत्तांत का प्रसारण

4.5 रेखाचित्र

4.5.1 रेखाचित्र का प्रसारण

4.6 हास्य-व्यग्य

4.6.1 हास्य-व्यंग्य का प्रसारण

4.7 निष्कर्ष

अध्याय-5 श्रव्य-माध्यम की चुनौतियाँ तथा नये साहित्य एवं कला-रूप 186-277

5.1 रेडियो-नाटक

5.1.1 उद्‌गम और विकास

5.1.2 रेडियो-नाटक की प्रकृति

5.1.3 मंच-नाटक और रेडियो-नाटक

5.1.4 रेडियो-नाटक का रूप-विधान

5.1.5 रेडियो-नाटक के उपकरण

5.1.6 रेडियो-नाटक के विभिन्न रूप

5.2 रेडियो-रूपक

5.2.1 रेडियो-नाटक और रूपक में समता-विभिन्नता

5.2.2 रेडियो-रूपक का क्षेत्र

5.2.3 रेडियो-रूपक का इतिहास

5.2.4 रेडियो-रूपक के प्रकार

5.2.5 रेडियो-रूपक का स्थापत्य

5.2.6 आलेख-रूपक

5.2.7 आलेख-रूपक का निर्माण

5.3 रेडियो-वार्त्ता

5.3.1 वार्त्ता की सीमाएँ और शक्तियाँ

5.3.2 सफल वार्त्ता की आवश्यक शर्तें

5 4 संगीत-रूपक

5.4.1 संगीत-रूपक का क्षेत्र

5.4.2 संगीत-रूपक का रूप-विधान

5.5 रेडियो-कार्टून

5.5.1 रेडियो-कार्टून का इतिहास

5.5.2 रेडियो-कार्टून और झलकी

5.5.3 रेडियो-कार्टून की शैली और इसका शिल्प

5.5.4 रेडियो-कार्टून के कुछ नमूने

5.6 निष्कर्ष

अध्याय-6 उपसंहार **278-308**

6.1 निष्कर्षो का साराश

6.2 परिशिष्ट-एक : एक कला-रूप मे रेडियो की वर्तमान स्थिति

6.3 परिशिष्ट-दो : ग्रंथ-सूची

अध्याय 1

साहित्य और श्रव्य-माध्यम (रेडियो) के संबंध का स्वरूप

अध्याय-1

साहित्य और श्रव्य-माध्यम रेडियो के संबंध का स्वरूप

1.1 साहित्य और रेडियो के संबंध का स्वरूप : विवेचना के आधार

1 1.1 तात्कालिकता

1.1.2 सवेदना

1.1.3 अन्वेषण

1 1.4 सहभागिता

1.1.5 भाषिक सर्जनात्मकता

1.2 रेडियो : एक कलारूप की दृष्टि से

1.3 एक कलारूप मे रेडियो-सप्रेषण के उपकरण

1.3.1 शब्द

1 3.2 पार्श्व-संगीत अथवा प्रासगिक भाव-सगीत

1.3.3 प्राकृतिक ध्वनियाँ

1.3.4 म्यूज़िक कॉंक्रीट या रेडियोफ़ोनिक प्रभाव

1 3 5 नीरवता

1 4 निष्कर्ष

साहित्य और श्रव्य-माध्यम (रेडियो) के संबंध का स्वरूप

साहित्य और रेडियो के सबंध का स्वरूप विरोधात्मक मानने की रूढि-सी है। डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार[1]—"यदि बहुत ही स्थूल ढंग से कहा जाय तो साहित्य की प्रक्रिया और संचार-माध्यमों की प्रक्रिया एक-दूसरे की बिल्कुल विरोधी है। ....एक ओर तो तात्कालिकता का दबाव, दूसरी ओर अक्षर के प्रति विमुखता और तीसरी तरफ तेजी से बदलने वाले बिब। इन सबने मिलकर पाठक को धीरे-धीरे साहित्य पढ़ने मे अक्षम बनाया है।"[1]

श्री पकज बिष्ट का मानना है कि "एलेक्ट्रॉनिक माध्यमो में लेखक की, लिखित शब्द की नियति दूसरे दर्जे का, सहायक प्राणी बन जाना है। रचनाकार के लिए, फिर वह चाहे कैसी भी कला का सर्जक क्यो न हो, यह स्वीकार्य स्थिति नही मानी जा सकती, विशेषकर साहित्य के संदर्भ मे जिससे एक पूरे युग का सृजन करने की सामर्थ्य का आनद और गौरव जुड़ा है। ... साहित्य एक व्यक्ति-केंद्रित कला-विधा ही नहीं बल्कि एक व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता का चरम भी है जबकि फ़िल्म और अन्य एलेक्ट्रॉनिक-माध्यम सामूहिक तकनीक-केंद्रित माध्यम है जो बड़ी पूँजी की माँग करते हैं एवं अपनी लोकप्रियता और पहुँच मे विशाल हैं। पर यही तकनीक, मास-प्रोडक्शन, पूँजी (व्यावसायिकता) और लोकप्रियता या पहुँच (रुचि के निम्नतम स्वर पर निर्धारण या सामान्य स्तर या लोकप्रिय स्तर की खोज) उसकी कलागत सीमा भी है।"[2]

---

1 निबंध 'सचार-साधन और साहित्य', डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी साहित्य का परिवेश, सपादक-अज्ञेय—पृ॰ 65-66

2. निबध—ताकि शब्द बचे रहे—पंकज बिष्ट, हस जुलाई 1995—पृ॰ 25-26

कई मायनो मे साहित्य और रेडियो सहित एलेक्ट्रॉनिक संचार-माध्यमो के संबध का स्वरूप विरोधात्मक है भी। प्रथम दृष्ट्या दोनो के संबंध का स्वरूप कुछ इस प्रकार बनता है —

साहित्य	**रेडियो**
अन्वेषण	तात्कालिकता
संवेदना	संदेश
सहभागिता	एकपक्षीयता
विचार	सूचना
परिप्रेक्ष्य-संयुक्तता	परिप्रेक्ष्यहीनता
विमर्श की बहुस्तरीयता	एकलस्तरीयता
भाषिक सर्जनात्मकता	भाषिक तदर्थता

स्पष्ट ही, "साहित्य के अपने चिरपरिचित मूल्यों—जातीय स्मृति, इतिहास और वर्तमान की टकराहट में मूल्य-प्रक्रिया का विकास और इनके साथ-साथ सक्रिय भाषिक संवेदनशीलता के साथ संचार-साधन की इन नयी मान्यताओं का सीधा विरोध उभरता है।"[1]

1.1 साहित्य और रेडियो के संबंध का स्वरूप : विवेचना के आधार–इस प्रकार, तात्कालिकता, सवेदना, सहभागिता, अन्वेषण, संप्रेषण, भाषा की सर्जनात्मकता आदि बिदुओ के अंतर्गत रेडियो और साहित्य के संबंध के स्वरूप पर विचार किया जा सकता है।

1.1.1 तात्कालिकता

रेडियो-प्रसारण का एक बहुत बड़ा हिस्सा है जो तात्कालिकता से परिचालित होता है। तत्काल! उसी समय या कम से कम संभव समय मे प्रसारण! समाचार, विश्व व्यापार—

---

1 साहित्य के नये दायित्व—डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी—पृ॰ ९१

संगठन की बैठक या निर्गुट देशो के सम्मेलन, तूफ़ान, रेल-दुर्घटना, गैस-विभीषिका, राजनेताओ की यात्राएँ/कार्यक्रम, राजनैतिक घटनाओं की रिपोर्ट, ओलम्पिक, एशियाड, क्रिकेट मैच और अब तो युद्ध तक का आँखो देखा हाल और इन सारी घटनाओ पर तत्काल प्रसारित किए जाने वाले कार्यक्रम प्रसारण की इस श्रेणी मे आते हैं।

इस सारे प्रसारण का प्राण है—तात्कालिकता। परंतु तात्कालिकता का दबाव प्रसारण की रचनाधर्मिता को बुरी तरह प्रभावित करता है। "रचना की शर्त तो हमने मानी है कि 'जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक मे स्मृति-सी छाई' तो आज यह सभव कहाँ है कि घनीभूत पीड़ा मस्तक मे स्मृति सी छाई रहे? उसकी गुंजाइश ही कहाँ है? या अज्ञेय ने जो लिखा है 'बरस पर बरस बीते एक मुक्तारूप को पकते'—यह लगभग असाध्य होता जा रहा है, कठिनतर होता जा रहा है। उसका जो पकना है वह यहाँ कहाँ है?"[1]

1.1.2 संवेदना

तात्कालिकता किसी घटना पर सोचने का समय नही देती, चाहे वह घटना क्रेमलिन मे लेनिन की मूर्ति तोड़ी जाने की हो या खाड़ी-युद्ध की या अकाल-तख़्त पर सैनिक कार्रवाई की या फिर आत्महत्या करनेवाले किसानों और नर्मदा परियोजना के डूब क्षेत्र मे आकर बेघरबार हो जाने वाले ग्रामीणों की। इन घटनाओं के समाचार और ब्यौरें भी सिर्फ़ सूचनाएँ हैं–तेज़ी से बदलने वाली सूचनाएँ जो एक क्षणिक कौंध के बाद विलुप्त हो जाती हैं। उस क्षणिक कौंध में भी ये सारे संदर्भो से कटी हुई सूचनाएँ हैं—परिप्रेक्ष्यविहीन सूचनाएँ। इनके साथ कोई स्मृति, कोई विचार नहीं होते। फलस्वरूप इनकी प्रतिक्रिया भी बिल्कुल सतह पर होती है—संवेदना की सबसे ऊपरी सतह पर। या शायद उतनी गहरी भी नही। यहाँ बल तात्कालिक घटनाक्रम पर इतना अधिक होता है कि संवेदन के निथरने के लिए अवकाश ही नहीं रह जाता।

---

1 निबध 'सचार-साधन और साहित्य'—डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी (साहित्य का परिवंश—स॰ अज्ञेय), पृ॰ 68

1.1.3 अन्वेषण

साहित्य का प्राण अन्वेषण है—रचना को डिस्कवर करना! बार-बार अर्थ की बहुस्तरीयता को भेदना! उसका आविष्कार करना। रचना धीरे-धीरे मन मे उतरती है। पाठक रुक-रुक कर, बार-बार उसे आविष्कृत करता है। अमरकांत की सुप्रसिद्ध कहानियाँ 'दोपहर का भोजन' और 'डिप्टी कलक्टरी', मोहन राकेश की 'मंदी', अज्ञेय का उपन्यास 'शेखर · एक जीवनी' और मुक्तिबोध की कविताएँ 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' और 'अधेरे मे' जैसे अनगिनत उदाहरणो से हर भाषा का साहित्य भरा पड़ा है। परंतु, रेडियो का संप्रेषण अन्वेषण का अवकाश कतई नही देता।

1.1.4 सहभागिता

सहभागिता एक अन्य बिदु है जो साहित्य और रेडियो के परस्पर विरोधात्म स्वरूप को रेखाकित करता है। "एलेक्ट्रॉनिक संचार-माध्यम हमारी रचनात्मकता को मारते हैं। सवाद की गुंजाइश एकदम नहीं रहने दी जाती। ये हमारे मस्तिष्क को क्षण भर भी फ़ुर्सत नहीं देते, लगातार व्यस्त रखते हैं। दूसरी ओर, साहित्य या छपे हुए अक्षर पाठक की सारी बौद्धिक क्षमता को जाग्रत रखते हैं और पढ़ी हुई हर चीज़ को अपने मस्तिष्क में फिर से रचने-जानने को मजबूर करते हैं। कला के दूसरे रूपो की तरह साहित्य भी सीधा संवाद क़ायम करता है—पाठक और लेखक के बीच एकबार दिमाग में आने से रह गई चीज़ों को जानने-सुनने के लिए दोबारा-तिबारा पढ़ने की गुंजाइश रहती है।"[1] साहित्य में अवधान की ज़रूरत है। साहित्य हमारी सहभागिता चाहता है और यह सहभागिता दो स्तरों पर अपेक्षित है—रचनात्मकता के स्तर पर और संवेदना के स्तर पर। साहित्य के पाठक के पास मनचाहा अवकाश है, वह पढे हुए शब्दो को मन मे पुनर्सृजित कर सकता है, दुबारा-तिबारा उनका अन्वेषण कर सकता है, नए-नए अर्थ आविष्कृत कर सकता है। सकता ही नही बल्कि साहित्य के पाठक के लिए

---

1 निबध—'शब्द और बाजार', लेखक . अरविंद मोहन, 'आजकल' अगस्त 1995—पृ, 18

अनिवार्य है कि अर्थ और रचनात्मकता के स्तर पर उसका रचनाकार से सवाद हो। परन्तु जिस तरह, 'अपनी कालगति में टी॰ वी॰ का पढ़ना उस तरह संभव नहीं है जिस तरह प्रिंट-मीडियम की पुस्तक को पढ़ना' क्योकि 'टी॰ वी॰ छवियो और ध्वनि का अप्रतिहत प्रवाह करता है'[1] उसी तरह, रेडियो को भी उसकी कालगति मे पुस्तक की तरह पढ़ना संभव नही है क्योकि रेडियो भी ध्वनियों और छवियो का अप्रतिहत प्रवाह करता है। ठीक इसी तरह, जैसे हम टी॰ वी॰ से तटस्थ होकर नहीं सोच पाते, उससे दूरी बनाकर नही सोच पाते; हम जब भी सोचते हैं उसके भीतर रहकर सोचते हैं'[2] वैसे ही, रेडियो से भी तटस्थ होकर उसके प्रसारण का विश्लेषण नही किया जा सकता। हम जो भी सोच सकते हैं, रेडियो-प्रसारण के भीतर रहकर ही। रेडियो के श्रोता के पास वह अवकाश, वह अतराल नही है। क्षण भर के लिए उसका ध्यान भटका और प्रसारण का अगला हिस्सा उसकी पकड़ से जा छूटेगा, ऐसे कि उसे दुबारा पकड़ना असभव होगा। रचता रेडियो का श्रोता भी है। ख़ासतौर से कल्पनाशील और रचनाधर्मी प्रसारण मे लेकिन एक तो, ऐसा प्रसारण कुल प्रसारण का बेहद न्यूनांश होता है दूसरे, रचना से बार-बार साक्षात्कार की सुविधा का एकात अभाव नए-नए अर्थ-स्तर उद्घाटित करने के सुख से श्रोता को वचित रखता है।

सहभागिता का दूसरा स्तर संवेदना का होता है और रेडियो-प्रसारण यहाँ भी साहित्य की तुलना मे उल्टी दिशा में है। ''सचार ने संप्रेषण मे बाधा पहुँचाई है। यह अटपटा लग सकता है पर, संचार संचरित होते हैं, सप्रेषित नहीं करते, संप्रेषण नही होने देते।''[3] पढ़ा-लिखा आधुनिक श्रोता/पाठक/दर्शक दुनियाँ की और तमाम चीज़ों के साथ ख़बरो का भी उपभोक्ता होता है। परन्तु उसके ध्यान में वह सब रोज़ सुबह-शाम लाया जाता है जो पिछले दिन या गई रात या आज दिन कही न कहीं घट चुका होता है और जिसके कुछ अवशेष उस समय भी घट रहे होते हैं जिस समय यह उपभोक्ता समाचार पढ़, देख या सुन रहा होता है। ''उसकी

---

1 'टी॰ वी॰ की भाषा और विज्ञापन की भाषा' लेखक : सुधीश पचौरी, 'हस' नवंबर 1998—पृ॰ 64

2. वही—पृ॰ 64

3. निबंध 'उत्तर आधुनिकता के विभिन्न सदर्भ'—रमेश ऋषिकल्प—'हस' फ़रवरी, 1998—पृ॰ 81

सजगता और ख़बरों की घटना-भूमि के बीच अख़बार, रेडियो या टेलीविजन का पर्दा बना रहता है। यह पर्दा ही पाठक दर्शक या श्रोता को उसकी पहचान देता है—वह पर्दे के इस तरफ है, ख़बरो का पात्र बने लोग और स्थान उस तरफ है।''[1]

एक उदाहरण ले। नर्मदा बाँध-परियोजना, उसके विरोध मे चल रहे आंदोलनो के कारण एक दशक से लगातार समाचारो मे रहा है। इस पर समाचार और समाचार-फीचरो ने हज़ारो शब्द व्यय किए हैं। लेकिन इतनी लंबी अवधि मे लगातार समाचारों के केंद्र में रहने के बावजूद यह मुद्दा उस संवेदना का शतांश भी अर्जित नही कर पाया है, जो इसी पर वीरेंद्र जैन के दो लघु उपन्यासो 'डूब' और 'पार' मे चित्रित टेक्नोलॉजी के जनविरोधी प्रयोग से निस्सृत त्रासदी ने अर्जित की है। इसी तरह विमल राय की 'दो बीघा ज़मीन', गौतम घोष की 'पार' सरीखी फ़िल्मो और महाश्वेता देवी के उपन्यासों—'जंगल के दावेदार', 'एक हजार चौरासी की माँ', 'चेट्टि मुंडा और उसका तीर' आदि मे क्रूर सामंती शोषण और नृशस राजव्यवस्था से उत्पन्न त्रासदी से दर्शक/पाठक की जो संवेदनात्मक सहभागिता कायम होती है, वह किसी भी तरह रेडियो के इन विषयो से संबद्ध समाचारो या समाचार आधारित प्रसारणो से असंभव है। ''साहित्य की प्रक्रियाओ के मूल में भागीदारी का तत्त्व किसी न किसी रूप मे गतिशील होता है। दूरदर्शन ने इसे स्थगित करके तात्कालिकता और एकपक्षीयता को चरम मूल्य स्वीकार किया है। यो दोनो के बीच अशमनीय विरोध की स्थिति बन गई है।''[2] इस उद्धरण मे जो दूरदर्शन के लिए कहा गया है वह रेडियो के लिए भी उतना ही सुसंगत है।

सप्रेषण भी श्रोता/पाठक/दर्शक की सहभागिता से पूरा होता है। संचरित विषयवस्तु से संवेदना के धरातल पर गृहीता की सहभागिता जितनी घनिष्ठ होगी, संप्रेषण उतना ही पूर्ण होगा। लेकिन वास्तविकता क्या है? ईराक़ मे लाखो बच्चे दवाई के अभाव में मर रहे हैं। कई जगह अकाल मौतें होती हैं। शीत-युद्ध की समाप्ति के बावजूद युद्ध जारी है और करोड़ो

---

1. निबध—'एक शब्द की टोह में' लेखक : कृष्ण कुमार—हस, जनवरी 1998—पृ॰ 15

2 'साहित्य के नए रूप' लेखक : डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी—पृ॰ 93

लोग मर रहे हैं। इतना सब कुछ हो रहा है, संचार-माध्यमों के ज़रिए सारी घटनाएँ हम तक पहुँच रही हैं लेकिन कोई आत्मा नही तिड़कती। कारण साफ है। इन माध्यमो का गृहीता सिर्फ ख़बरो का उपभोक्ता बना दिया जाता है। उसके छोर पर बड़ी से बडी त्रासदी के समाचार सिर्फ संचरित होते हैं—संप्रेषित नही होते। इसका कारण एलेक्ट्रॉनिक सचार माध्यमो की चरित्रगत बुनावट में है।

एलेक्ट्रॉनिक सचार-माध्यम रेडियो और टी॰ वी॰ बेहद बड़ी पूँजी की माँग करते हैं। दूसरी तरफ, पूर्व समाजवादी देशो को छोड़ दे तो इसके तंत्र का सम्पूर्ण विकास भी निजी पूँजी ने किया है और यह अनायास नही है कि पश्चिमी दुनियाँ मे, और अब तो सारी दुनियाँ मे, अपनी आरंभिक अवस्था से ही ये माध्यम निजी पूँजी और बाज़ार की शक्तियो द्वारा नियंत्रित और स्वाभाविक रूप से उनके हित मे कार्यरत रहे हैं। बेहद स्वाभाविक है कि साहित्य और एलेक्ट्रॉनिक-माध्यमो के मूल चरित्र मे ही अंतर होगा। साहित्य स्वभावत· हर शोषण-दमन के प्रतिरोध मे खड़ा होता है, समतावादी और शोषणमुक्त समाज के आदर्श को आगे बढ़ाने को कृतसकल्प है, वहीं एलेक्ट्रॉनिक माध्यम शासक-वर्ग के आर्थिक-राजनैतिक हितो का पोषण करता है, हर शोषण और दमन को आसान और तर्कसम्मत बनाने की पहल करता है। साहित्य की संचार-प्रक्रिया के मुक़ाबले एलेक्ट्रॉनिक माध्यमो की संचार-प्रक्रिया मे एक आर्थिक शक्ति लगातार सक्रिय रहती है। इनकी प्रकृति आर्थिक एवं व्यावसायिक है। चूँकि 'हर तकनीक का अपना तंत्र होता है और अपने साथ वह अपनी विचार-व्यवस्था यानी सदेश लाता है; यानी उसका संदेश, उसका तंत्र मूलतः तकनीक का अपना नैसर्गिक तंत्र नहीं, मनुष्यकृत तंत्र है, उसके चरित्र को उसके नियंता के लक्ष्यों से निरपेक्ष रहकर नहीं देखा जा सकता'[1] एलेक्ट्रॉनिक संचार-माध्यम—रेडियो और टी॰ वी॰ को भी उसके नियंता के लक्ष्यो से निरपेक्ष रहकर नही देखा जा सकता चाहे वह नियंता पूर्ण विकसित पूँजीवादी व्यवस्था मे पूँजी हो अथवा अर्द्ध-सामंती—अर्द्धपूँजीवादी व्यवस्थाओं में राजसत्ता पर क़ाबिज शक्तियाँ।

एलेक्ट्रॉनिक संचार माध्यमो में युद्ध-विभीषिका, परमाणु-परीक्षण, अकाल-सूखा,

---

1 'दूरदर्शन . दशा और दिशा' लेखक . सुधीश पचौरी—पृ॰ 31

हत्या-बलात्कार, सांप्रदायिक दंगो और आतंकवादी हिंसा-विध्वंस जैसी घटनाओ मे भी मनोरंजन के काफ़ी तत्त्व सन्निहित कर दिए जाते है। ये घटनाएँ श्रोता/दर्शक को मनोरजनात्मक शैली मे आदोलित करती है। 'शासक वर्गो ने इन संचार-माध्यमों को भावनात्मक और बौद्धिक जरूरत नही रहने दिया है; इन्हे सिर्फ ऐंद्रिक सुख का माध्यम बना दिया है। ये बोध और संवेदना को नष्ट करते हैं और उनके स्थान पर यांत्रिक या प्रायोजित विवेक व भावनाओ को प्रोत्साहित करते हैं। ये वास्तविक घटनाओं के प्रति भी अवास्तविकता का बोध पैदा कर रहे हैं। एकतरफा संचार-माध्यमो ने सामान्य जन की चेतना के अनुकूलन मे गज़ब की भूमिका निभाई है। इन्होंने वंचितों को शोषण की पीड़ा नही पालने दी है, शोषित वर्गो की मिलीटेंसी को स्खलित किया है। स्वामी वर्गो की जीवन-शैलियों और नैतिकताओ का ग्लैमरीकरण करके आम दर्शको को परोसा है। उन्हे गुदगुदाया है ताकि वे नियंता-वर्गो के जीवन-मूल्यो का आंतरिकीकरण करे। उनके यथार्थ को अपना यथार्थ समझें। उनकी ट्रैजेंडी और कॉमेडी को अपने जीवन के हिस्से के रूप मे अपनाएँ।'[1] एलेक्ट्रॉनिक संचार-माध्यम मनोरजन के नाम पर कलात्मक संभावनाओ से वचित मूलतः पूँजी और राजनीकि सत्ता के विस्तार का ही माध्यम हैं और अपने उद्देश्य की प्राप्ति में ये समाज और संस्कृति के हर उपादान का इस्तेमाल करते हैं।

निष्कर्षतः, यह निर्विवाद है कि तंत्र की तरह तकनीक पर भी प्रभु-वर्ग का ही वर्चस्व होता है और तकनीक हमेशा उसकी ज़रूरतो से शुरू होती है और समाज के इस वर्चस्ववादी वर्ग की ही प्रमुख विचारधारा होती है। दूसरे शब्दों में, 'जिसका माध्यम उसका सदेश।'[2]

1.1.5 भाषिक सर्जनात्मकता

भाषा की सर्जनात्मकता एक अन्य महत्त्वपूर्ण कसौटी है जिसके अंतर्गत साहित्य और रेडियो के संबंधों को परखा जा सकता है। भाषिक सर्जनात्मकता का साहित्य मे बेहद महत्त्वपूर्ण

---

1 'सचार-माध्यम और वर्ग-चरित्र'—रामशरण जोशी—हंस सितंबर, 1998—पृ. 37-38

2. 'दूरदर्शन दशा और दिशा' लेखक · सुधीश पचौरी—पृ. 34

स्थान है। किसी भी रचना मे भाषा की सास्कृतिक संवेदना, उसकी जातीय परपरा और स्मृति, उसकी ऐतिहासिक अर्थसत्ता उसकी सवेगात्मकता, उसकी बहुअर्थस्तरीयता आदि का बेहद महत्त्वपूर्ण स्थान होता है लेकिन एलेक्ट्रॉनिक संचार-माध्यमो, रेडियो और टी॰ वी॰ में इसकी क्या स्थिति है? हर तरफ अपने अर्थ-सदर्भ और इतिहास से विलग एक संवेग-शून्य और अर्थबाधित भाषा—जहाँ शब्द अपनी भूमिका का काम चलाऊ निर्वाह तो कर जाते हैं लेकिन कहीं से एक सर्जनात्मक अनुभव नही बन पाते। जबकि भाषिक-सप्रेषण एक मानवीय कार्यकलाप है। इसलिए अनिवार्यतः, वह सर्जनात्मक और सवेदनामूलक उपक्रम है। उसे सूचना देने की यांत्रिक क्रिया-भर नही समझा जाना चाहिए। एक कम्प्यूटर को सूचना 'फ़ीड' करने और एक जीवित-जागृत व्यक्ति तक संवाद प्रेषित करने में बेहद फ़र्क़ है। कम्प्यूटर नितात नियोजित ढंग से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, जबकि वह प्राप्त सूचना को अपने बोध-तंत्र के भीतर संवेगात्मक रूप मे अधिगृहत करता है। उसकी प्रतिक्रिया सदैव एक-सी और पूर्णतः नियंत्रित नही हो सकती; वह एक स्तर पर सौंदर्यमूलक और मानवीय प्रतिक्रिया भी होती है। ''सर्जनात्मकता वस्तुतः भाषिक-संप्रेषण का अपरिहार्य तत्त्व है, जो मानवीय सवेग को एकरैखिक होने से रोकता है और उसे प्रतिक्रियाओं की बहुलता मे मुक्त करता है। लेकिन एलेक्ट्रॉनिक सचार-माध्यम जान-बूझकर मनुष्य की सांस्कृतिक संवेदना और जातीय परपरा को निरस्त कर उसे तात्कालिकता के एक रोमाच भरे अनुभव से उत्तेजित करने का प्रयास करते हैं। उनमे शब्द भी अपनी संपूर्ण तात्कालिकता के साथ, नितांत तदर्थ रूप मे प्रक्षिप्त होते हैं। सोचने का अवसर दिए बिना उनकी एक कौंध स्फुरित होती और बिला जाती है। तत्काल ही एक नई कौंध पैदा होती है। फिर एक सिलसिला शुरू होता है। शब्दो की अविरल कौंध का यह अनुभव श्रोता/दर्शक को एक निष्क्रिय, किन्तु आकर्षक विभ्रम के घेरे मे असहाय छोड़ देता है। एलेक्ट्रॉनिक माध्यमो की भाष में पुरखों की साँसों की गूँज नही, इतिहास का बीता हुआ राग नही, परंपरा की हल्की सी भी आहट नही; बस धू-धू कर जलते वर्तमान की तपिश मे ऐंद्रिक तुष्टि का चतुर उपक्रम है।''[1] यह संवेदना , परंपरा और इतिहास बोध का यह रचाव,

---

1. निबंध—'मिलावटी भाषा का कारोबार', लेखक . जयप्रकाश, पहल-53, जनवरी-फ़रवरी-मार्च 1996, पृ॰ 177

यह सर्जनात्मकता हो भी कैसे, जबकि विश्व भर में उपभोगवाद के जरिए एक सांस्कृतिक वर्चस्व को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जा रहा है। वैश्विक-गाँव की भावी नागरिकता के लिए जनता को तय्यार करते हुए उपभोगवादी एकतंत्र की संस्कृति मे दीक्षित किया जा रहा है। इसके लिए उसे उपभोगवाद के जीवन-दर्शन और सामाजिक प्रतिमानो को ही नही, उसकी भाषा-संवेदना को भी अंगीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। इस काम मे एलेक्ट्रॉनिक संचार-माध्यम तत्परता से लगा हुआ है। वह वैश्विक सूचना-तंत्र की आवश्यकता और माँग के अनुरूप जनता के समुचित प्रशिक्षण और उसकी भाषिक-चेतना के अनुकूलन के लिए सतत् प्रयत्नशील है।

इस सारी विवेचना से साहित्य और रेडियो के संबध का परस्पर विरोधी-स्वरूप ही उभरता है। 'जहाँ तक सूचना-संचार का प्रश्न है दूरदर्शन की (ठीक इसी तरह रेडियो की भी) उपयोगिता निर्विवाद है, पर जहाँ वह कल्पना-प्रधान और सर्जनात्मक साहित्य का स्थानापन्न बनना चाहता है वहीं वह, अपनी समझ से साहित्य का पक्षधर होने की कोशिश मे, साहित्य का कठोर प्रतिपक्ष बन जाता है।'[1] यह भी कि, 'कृति जिस सत्य का अन्वेषण करती है वह किसी अन्य विधि या उपकरण से प्रायः संभव नहीं है।'[2] लेकिन तस्वीर का दूसरा रूख़ भी है। 'रेडियो या टी॰ वी॰ ने कवि को उसकी खोई हुई बाणी फिर प्रदान की है। कविता को सही मायने मे सार्वजनिक क्रिया बनाया है। अपनी सहभागोन्मुखी प्रक्रिया के कारण नए कवियो की कविताओ को उनकी किताबो, कहवाघरो, गोष्ठियों और पार्कों से बाहर निकाला है। टी॰ वी॰ के बाद कवियो ने जनता से अपने सबंध दोबारा कायम करने का अर्थ समझा है।[3]

प्रश्न यह है कि क्या एलेक्ट्रॉनिक संचार-माध्यमों से साहित्य का सबंध अनिवार्यतया नकारात्मक है या उनके बीच कोई सार्थक संवाद संभव है। भूलना नही चाहिए कि नए समाज की ज़रूरते नए माध्यम को जन्म देती हैं। हर समाज अपनी ज़रूरतो को पूरा करने के लिए

---

1. 'संचार-साधन और साहित्य' (साहित्य के नये दायित्व) लेखक : डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी—पृ॰ 93
2 'उत्तर-आधुनिकता . साहित्य और सस्कृति की नई सोच' लेखक · देवेद्र इस्सर इद्रप्रस्थ प्रकाशन—पृ॰ 146
3 'दूरदर्शन दशा और दिशा' लेखक . सुधीश पचौरी—पृ॰ 27

उन्हे ईजाद करता है या अपनाता है। फिर, अगर नए माध्यम नए समाज की ज़रूरत हैं तो क्या उस टेक्नोलॉजी को नकारकर चला जा सकता है? फिर, 'कलाकर्म भी एक माध्यम की रचना का कर्म है। इसलिए कलाकार सर्वप्रथम एक माध्यम के लिए दूसरे माध्यम का इस्तेमाल सबसे पहले करते हैं। जॉर्ज बर्नार्ड शॉ ने अख़बार (तात्कालिकता) को रगमच बनाया। डिकेन्स ने भी ऐसा किया। कीट्स ने भी अपने साहित्यिक प्रभावो के लिए ग्राम्य-संस्कृति को अपनाया। ईलियट ने 'द लव-साँग ऑफ़ जे॰ अल्फ्रेड प्रूफ़ोक' मे जॉज-सगीत के मुहावरे का इस्तेमाल किया। 'वेस्टलैड' मे इस मिश्रण ने महान कविताओ को जन्म दिया। जेम्स जॉयस ने 'उलीसिस' मे फ़िल्मों की तकनीक का उपयोग किया।'[1] तो क्या इस बिन्दु पर रेडियो और साहित्य मे कोई सकारात्मक लेन-देन का रिश्ता बन सकता है? क्या साहित्य-रूपों का ऐसा प्रसारण हो सकता है जो मूल रचना या फ़ॉर्म मे कुछ सर्जनात्मक हस्तक्षेप कर सके? ज़रूरत इस बात की है कि हम आधुनिक संदर्भों में नई टेक्नोलॉजी के उपोग करने का विवेक जागृत करे जिससे मानव-जीवन मे विकास की नई प्रक्रिया शुरू हो सके। टेक्नोलॉजी मानव-मस्तिष्क की एक उपलब्धि है। इसे हम नकार नही सकते। अतः 'प्रश्न टेक्नोलॉजी पर किसी प्रकार के प्रतिबध का नहीं, बल्कि मनुष्य और मशीन की अंतःप्रक्रिया को समझने की आवश्यकता का है। बुद्धिमत्ता इसी मे है कि विज्ञान और टेक्नोलॉजी को चेतना, मार्मिकता, सौम्यता, अहिंसा एवं सौदर्य के हित के लिए इस्तेमाल मे लाया जाय। वास्तव में टेक्नोलॉजी और साहित्य मे कोई द्वन्द्व नही है। दोनो एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं।'[2]

निष्कर्षतः, साहित्य और रेडियो के संबंधों का विरोधात्मक स्वरूप मुख्यतः रेडियो के समाचार एवं सूचना संचारित करने वाले माध्यम को ही लक्षित है। परन्तु, रेडियो का एक अन्य रूप भी है—उसका कला-रूप। आवश्यकता इस बात की है कि साहित्य से उसके संबधो की पड़ताल मे रेडियो के कला-रूप की भी छानबीन हो।

---

1 'दूरदर्शन . दशा और दिशा'—पृ॰ 28

2 'उत्तर-आधुनिकता . साहित्य और सस्कृति की नई सोच' लेखक · देवेंद्र इस्सर, पृ॰ 112

1.2 रेडियो : एक कला-रूप की दृष्टि से

एक कलारूप की दृष्टि से रेडियो की चर्चा प्रथम-दृष्ट्या नितांत बेतुकी लग सकती है। अमूमन हम रेडियो अनुभव के दो ही प्रकार जानते हैं—पहला, समाचार और सूचनाओ के संप्रेषण-माध्यम के (मूलभूत) रूप मे और दूसरा, रेडियो-रिपोर्ट, आँखो देखा-हाल आदि द्वारा किसी परिघटना मे श्रोता की परोक्ष भागीदारी करानेवाले माध्यम के रूप मे। रेडियो-अनुभव के ये दोनो ही रूप मूलभूत और महत्त्वपूर्ण है। परन्तु रेडियो एक कलारूप भी है—पेटिंग और कविता की ही तरह और अगर इसे दृश्य-श्रव्य माध्यमो की चकाचौंध के बावजूद बने रहना है तो उसे एक कलारूप मे अपनी पहचान बनानी होगी। यही वह क्षेत्र है जहाँ उसका कोई विकल्प नही हो सकता और जो उसका अस्तित्व सुरक्षित रखेगा जिस तरह कुछ लोग हमेशा, हज़ारो चमक-दमक वाले माध्यमों के बावजूद संगीत, काव्य और पेंटिंग का आस्वाद पाना ही चाहेगे उसी तरह कुछ लोग एक कलारूप मे रेडियो-संप्रेषण का अभिन्न हिस्सा बने रहेगे।

निजता (Privacy) और कल्पनाशीलता दो मुख्य स्थल है, जहाँ से रेडियो एक कलारूप मे शक्ति पाता है। एक आत्मीय अन्तरंग और निजी एकांत रेडियो के कलारूप के आस्वाद के लिए अपरिहार्य है क्योकि रेडियो अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में एक नितांत निजी अनुभव है। "एकांत ही रेडियो-प्रसारण की सबसे महत्त्वपूर्ण भूमि है जहाँ से वह 'अमुखरित सत्य' को प्रकट करता है।"[1]

यह 'अमुखरित सत्य' क्या है? निश्चित रूप से किसी भी रचना का पाठक/श्रोता/दर्शक द्वारा वह कल्पनाशील और रचनात्मक विस्तार जो उस रचना को पूर्णता और व्यंजकता देता है। दूसरे शब्दो मे, रचना के समवर्ती/समानांतर श्रोता/पाठक/दर्शक की कल्पनाशीलता द्वारा एक और रचना और श्रोता के एकांत में ही रेडियो ऐसा आत्मीय और अन्तरंग हस्तक्षेप कर सकता है जो श्रोता की कल्पनाशीलता को निर्बंध उड़ान भरने के लिए स्वतंत्र कर दे और

---

1 'शब्द की साख'—केशवचन्द्र वर्मा—पृ॰ 18

रेडियो-प्रस्तुति मे अपनी कल्पनाशीलता द्वारा श्रोता का किया गया रचनात्मक सहकार ही है जो रेडियो को कलारूप मे अद्वितीय और अद्भुत अनुभव मे ढालता है—एक रचनात्मक अनुभव मे।

अक्सर किसी खेल का आँखो देखा हाल हमे जो आनंद देता है वह आनंद उस खेल को देखने से नही मिलता। यह इसी तथ्य को पुष्ट करता है कि उतनी उत्तेजना उस खेल को देखने मे निहित नही है जितनी कि उन शब्दो में है जो श्रोता की अन्तर्दृष्टि को जागृत करते हैं और वह उत्तेजना का आधिक्य किसी खेल के आँखों-देखा-हाल मे श्रोता की रचनात्मक कल्पनाशीलता के योगदान से उत्पन्न होता है।

यह कहना विरोधाभासी लग सकता है कि रेडियो का दृश्य-विधान श्रव्य-दृश्य-माध्यमों (टी॰ वी॰, फिल्मों) की तुलना मे कही अधिक समृद्ध है लेकिन यह सच है। हालाँकि सीन-डिज़ाइनर/कला-निर्देशक चमत्कार रच देने की हद तक अपनी कल्पनाशीलता के सबूत देने मे नही चूकते लेकिन समझदार दृश्य-डिजाइनर/कला-निर्देशक के मन में यह तथ्य हमेशा साफ़ रहता है कि उसका मुक़ाबला मानव-मस्तिष्क की कल्पनाशीलता से है और वह तभी अपने दर्शक को प्रभावित कर सकेगा जब उसकी कल्पनाशीलता का अतिक्रमण कर सके; साथ ही यह भी कि दृश्य-विधान जो सिर्फ़ चित्रित करता है, अंत मे सिर्फ़ कार्डबोर्ड का एक टुकडा बनकर रह जाएगा और वही दृश्य-विधान दर्शक की याददाश्त मे जगह पाएगा जो उसकी कल्पनाशीलता को उत्तेजित/उद्बोधित करने के सिर्फ़ कुंजी-संकेत प्रस्तुत करता है।

नाटको मे राक्षस को पर्दे के पीछे रखना हमेशा अधिक प्रभावोत्पादक होता है क्योंकि कभी भी दिखाई न पड़ने के कारण दर्शक की कल्पनाशीलता उसे अधिक डरावना बनाती है। 'इन्विज़िबल मैन' 'किंग-काँग' की तुलना मे इसी कारण कई गुना अधिक भयावह था।

सैम्युएल बैकेट के नाटक 'All that Fall'[1] में मिसेज़ रूनी के फूले अमलतास के पेड़ को अचानक देखकर स्तब्ध/अभिभूत हो जाने का प्रसंग आता है। इसे दृश्य-माध्यमो मे सबसे

---

1 नाटक 'ऑल दैट फ़ॉल'—सेम्युएल बेकेट, कलेक्टेड प्लेज, पृ॰ 21

अधिक प्रभावशाली ढंग से कैसे रचा जा सकता है? अमलतास के खूबसूरत क्लोज़-अप द्वारा तो कभी भी नही। इस सवेगात्मक अनुभव को तो अभिनेत्री को अपने अभिनय से ही दर्शक के मस्तिष्क मे रचना होगा। ठीक यही तरीका रेडियो-प्रस्तुतकर्ता को भी अख़्तियार करना होगा। अल्फ्रेड हिचकॉक की 'Rear Window' अद्‌भुत प्रभाव उत्पन्न करने मे समर्थ है क्योकि यह साफ दिखाई नही पड़ती, आँगन के पार, दूर से, इसकी सिर्फ़ झलक ही मिलती है।

उपरोक्त सारे उदाहरण यही पुष्ट करते हैं कि वही रचना सर्वाधिक प्रभाव छोड़ती है जो पाठक/दर्शक की कल्पनाशीलता को उत्तेजित करे और यह काम दृश्य-माध्यमो की तुलना मे कहीं अधिक सक्षमता से रेडियो कर सकता है क्योंकि यहाँ दृश्य का अवरोध नहीं होता, यह श्रोता की रचनात्मकता और कल्पनाशीलता को निर्बंध उड़ान भरने का और अधिक आकाश देता है। लेकिन आज के रचनात्मकता-विरोधी समय मे इस स्थापना की ग्राह्यता कितनी हो सकती है?

सुनना आज के समय मे दिन-दिन कठिन होता जानेवाला काम बनता जा रहा है—बहुत कुछ पढ़ने की ही तरह। आज का समय पहले ही से पचे-पचाए, बिना किसी परिश्रम के हज़्म हो जानेवाले बिम्ब-विधान का समय है। और अगर यह सुपाच्य सु (पूर्व) परिचित बिम्ब दृश्य हो तब तो सोने मे सुगंध क्योकि उच्चरित शब्दों को पकड़ना कठिन होता है—यह उच्चरित होते ही गुम हो जाता है। हम इसे सुनते तो हैं लेकिन क्या उसे पूर्णतः उसकी बहुस्तरीयता मे ग्रहण भी कर पाते हैं—ख़ासतौर से आज की भागमभाग में, जो हमें कभी भी इतना अवकाश नहीं देती—इतना निजी अवकाश कि हम एक रचनात्मक प्रक्रिया के हिस्सेदार हो सके? हालिया वर्षों में कार्टून-स्ट्रिप्स में इतनी तेज़ी से बढ़ती लोगो की रुचि क्या दर्शाती है? यही तो कि आज पाठक कहानी को भी शब्दों को पढ़ने और उन्हे अपने ज़ेहन मे रचने की ज़हमत उठाए बिना ही 'पढ़ना' चाहता है।

सिनेमा और टेलीविज़न में शब्द सिर्फ़ निर्देशक अथवा संकेतक की हैसियत रखते हैं और उनका काम सिर्फ़ दृश्यों पर बल देना होता है। इन माध्यमो में, जहाँ शब्द द्वितीयक हैसियत रखते हैं, उन्हे बिना उनकी पूर्णता मे ग्रहण किए भी काफ़ी कुछ काम चल जाता है।

लेकिन रेडियो जैसे विशुद्ध श्रव्य-माध्यम में जहाँ अधिकतम बिम्ब शब्द, वह भी उच्चरित शब्द के माध्यम से बनते हो, किसी संवेदना को उसकी पूरी जटिलता मे पकड़ पाना सचमुच बेहद सवेदनशील और कल्पनाशील मस्तिष्क के लिए ही संभव है और ऐसा (ग्राह्य) सप्रेषण ही रेडियो-प्रस्तुतकर्ता के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। 'रेडियो वर्णन नही करता, उद्बोधन करता है'[1] (Radio evokes, rather than depicts) और यही उद्बोधन रेडियो को सप्रेषण का असीम आकाश प्रदान करता है। अपनी विशाल कल्पनाशील व्यंजकता के कारण रेडियो मच और टेलीविजन अथवा फ़िल्मो की तुलना मे कही अधिक सप्रेषणीय है।

1.3 एक कलारूप में रेडियो-संप्रेषण के उपकरण

एक कलारूप में रेडियो के उपकरण इस प्रकार हैं :—

1.3.1 **शब्द**—रेडियो-अनुभव की धुरी शब्दों पर टिकी है—कहने की ज़रूरत नहीं कि 'उच्चरित शब्द' पर। हालाँकि आज यह धारणा स्थापित हो चुकी है कि साहित्य लिखित/मुद्रित पृष्ठो पर ही अपना अस्तित्व रखता है और सिर्फ़ पढ़े जाने मे ही उसकी अर्थवत्ता है, लेकिन यह नहीं भुलाया जा सकता कि लिखित साहित्य का एक बहुत बड़ा हिस्सा ठीक इसके विपरीत ग्रहण किया गया है—पढे जाने के लिए नहीं, सुनने के लिए। निश्चित रूप से प्रभावशाली ढंग से बोले गए शब्द जीवित हो उठते है, रूपाकार और अर्थवत्ता ग्रहण करने लगते हैं—अर्थ की बहुस्तरीयता को खोलने लगते हैं।

एक उदाहरण ले। हो सकता है हम जर्मन का एक शब्द भी न जानते हों। लेकिन अगर हम हिटलर के भाषणों की रेकॉर्डिंग सुनें, उसकी आवाज़ से संप्रेषित उत्तेजना से हम बच नही सकेगे भले ही सिद्धांततः हम उसके विरोधी ही क्यों न हों। कहने की जरूरत नही कि विंस्टन चर्चिल के युद्धकालीन उद्बोधनों का वह असर कभी भी न होता अगर वे सिर्फ़

---

1 दि आर्ट ऑफ़ रेडियो—डोनैल्ड मैकव्हिनी—पृ॰ 27

छपवाकर बाँट दिए गए होते।[1] राममनोहर लोहिया की वक्तृताशक्ति भी इसका एक उदाहरण है।

आवाज भावनाओ को सप्रेषित और उत्तेजित करने का सबसे प्रभावशाली माध्यम है। इस क्षेत्र मे उच्चरित शब्द को लिखित शब्द से थोड़ाभी हीन महसूस करने की आवश्यकता नही है। स्वाभाविक रूप से इस संप्रेषण की सघनता और प्रभाव बोलने वाली आवाज़ और उसके उतार-चढ़ाव (ımflcxıon/modulatıon) पर निर्भर करेगा, लेकिन इसका प्रभाव फ़ौरन और प्रत्यक्ष होगा। मंच पर उच्चरित शब्द आत्यंतिक रूप से प्रभावशाली होता है। स्पॉटलाइट के नीचे से अभिनेता चीखता है—'आह! बहुत ठंड है, हवा जैसे हड्डियाँ भेद रही है!' या रेडियो से एक फुसफुसाहट आती है—'कौन है? कौन है मेरी कुर्सी के पीछे? . ...अपना हाथ मेरी गर्दन से हटाओ! ....हटाओ अपना हाथ......' और श्रोता बालसुलभ सरलता से उन शब्दो पर विश्वास करता है, शब्दो के जादू से पूरी तरह पराभूत हो जाता है।

उच्चरित शब्द के अनिवार्य गुण

उच्चरित शब्द में निम्नलिखित गुण अनिवार्यतः होने चाहिए :—

(i) **आत्मीयता**—संभवतः रेडियो से उच्चरित शब्द की सर्वाधिक शक्तिमत्ता इसकी नज़दीकी ...... इसकी आत्मीयता मे है। यह एक साथ हज़ारो लोगो के सुनने के लिए कृत्रिम रूप से विस्तारित नहीं होता और यही वजह है कि यह वक्ता की निजी दृष्टि, उसके आन्तरिक संसार और मन की गुप्त बातो को संप्रेषित कर सकता है। यह तथ्य कि हम वक्ता से सिर्फ़ उतनी दूर हैं जितना कि वह मायक्रोफ़ोन से; कि वह सबसे छुपाकर, हमारे कान में बोल रहा है, अपने निजी विचार और अनुभव हमसे बाँट रहा है—हम पर वैसा ही आत्मीय और नज़दीकी प्रभाव छोड़ता है जैसे कि वक्ता के अनकहे विचार हम तक पहुँच रहे हो, ठीक

---

1 दि आर्ट ऑफ रेडियो—डोनैल्ड मैकव्हिनी—पृ. 24

वैसा असर, जैसा किसी फ़िल्मी दृश्य के क्लोज़-अप मे अभिनेता की मांसपेशी के फड़कने के क्षणिक शॉट का होता है। हालाँकि विक्टोरियन मेलोड्रामा का असाइड (Aside) या शेक्सपीरियन स्वगत (Soliloquy) कुछ हद तक इस प्रभाव की बराबरी करते हैं लेकिन रेडियो श्रोता के सामने दर्शक-समूह, मचस्थ अभिनेता की दूरी आदि बाधाएँ नही होती और वक्ता/अभिनीत पात्र के मस्तिष्क से सीधे जुड़े होने के कारण उसे विश्वास में लेना और उसके साथ अपनी वास्तविक भावनाएँ बाँटना अपेक्षाकृत बेहद आसान होता है। L. R Adrian के नाटक 'The passionate thinker'[1] मे सचमुच (आपस मे) बोले हुए मुश्किल से आधा दर्ज़न वाक्य हैं लेकिन संवादहीनता के दौर से गुजरते हुए अगल-बगल लेटे, सोने का नाटक करते दम्पत्ति का निजी सोच-जो एक-दूसरे तक पहुँचता भी है, एक-दूसरे से गुंथता भी है, काटता भी है, अलग भी करता है और हैरतअंगेज़ रूप से समरूप भी है; और वास्तव में, जिसे बोलकर अभिव्यक्त नही किया जा सकता, इतनी प्रभविष्णुता से श्रोता तक पहुँचता है मानो दोनो पात्र सीधे श्रोता के मन-मस्तिष्क से किसी टेलीपैथी से जुड़े हो।

(ii) **उद्‌बोधकता और न्यूनोक्ति**—रेडियो-कृति में, ठीक कविता की तरह हम सहजबोध/अंतःप्रज्ञा से उसकी वस्तु के अर्थ तक पहुँचते हैं न कि विस्तारित ब्यौरो से। राजा राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह के सुदीर्घ ब्यौरो को अगर ज्यों का त्यों श्रोता को परोस दिया जाय तो यह उसका दम घोट देने वाला होगा।

आँखे ब्यौरो मे से पैटर्न और अर्थ ढूँढ़ सकती हैं लेकिन कान इस मामले मे बेहद असहिष्णु होते हैं। इन्हें सिर्फ़ कल्पनाशीलता को उत्तेजित करनेवाला उद्‌बोधक-तत्त्व चाहिए। इसका मतलब यह कि रेडियो के लेखक को मुद्रित पृष्ठ की तुलना मे बेहद किफ़ायती और जितना अधिक किफ़ायती उतना ही कल्पनाशील होना होगा। अनुभूति के स्तरों और उसकी

---

1 नाटक 'दि पैशनेट थिंकर'—एल॰ आर॰ ऐड्रियन, कलेक्टेड रेडियो प्लेज़, स॰ लियोनेल गैम्लिन—पृ॰ 67

गहराई को चंद सेकेंड के समय मे उसे व्यक्त करना सीखना होगा। रेडियो मे अधूरी अभिव्यक्ति के लिए कोई जगह नही। यहाँ हर वाक्य को सर्वाधिक संक्षिप्त और सघनित होना होगा। यहाँ शब्द अनुपूरक नही हो सकते, हर शब्द को अर्थ-सघन होना होगा। रॉबर्ट बोल्ट के नाटक 'दि ड्रकेन सेलर'[1] मे समुद्र से दूर रहने वाला और उसकी क्रूरताओ को न जाननेवाला पात्र पतवार को 'डैनो/परों की तरह' कहता है जबकि नाविक कहता है 'खूनी लोहा' और पाँच सेकेण्ड से भी कम समय और सिर्फ़ दो वाक्यांशो मे एक दूसरे से बिल्कुल अलग दो दुनियाँ स्थापित हो जाती है।

बोल्ट के इसी नाटक मे किनारे पर खड़े दो पात्रो की तरफ से दूर दीखते जहाज़ का ब्यौरा आता है :—

मैरी : (ख़ुशी से) टॉबी, समुद्र रेशम की तरह दीखता है ना!

टॉबी : हाँ, बिल्कुल।

मैरी : जैसे......रेशम के एक विशाल टुकड़े से ढका हुआ।

टॉबी : (आत्मीयता से) ओ मैरी, तुम बेहद भावप्रवण हो......बेहद।

मैरी : (स्वप्निल) और पाल......जैसे......जैसे

टॉबी : डैने?

मैरी : हाँ! जैसे डैने!

ये पक्तियाँ पृष्ठ पर फ़्लैट लग सकती हैं लेकिन जब पात्रों के व्यक्तित्व, अभिनेता के अभिनय और कथासूत्र के साथ आती है तो श्रोता के मस्तिष्क पर अमिट छाप छोड़ जाती हैं।

थिएटर में शब्दों की बेहद बर्बादी होती है, इस धारणा के तहत कि दृश्य-क्रियाकलाप की तुलना में कम महत्त्वपूर्ण होने के कारण और दर्शक का ध्यान दृश्य-केंद्रित होने के कारण

---

1 दि ड्रकेन सेलर—रॉबर्ट बोल्ट, रेडियोज बेस्ट प्लेज, सं॰—जोसेफ़ लिस—पृ॰ 257

उनमें से अधिकतर सुने भी नही जाएँगे। यह अनायास नहीं है कि शेक्सपीयर जैसे नाटककार किसी महत्त्वपूर्ण नुक़्ते को कभी भी सिर्फ़ एक बार ही नही रखते। उदाहरणत 'रोमियो और जूलियट'[1] का आख़िरी दृश्य याद किया जा सकता है जिसमे प्रवेश करने वाला हर पात्र क़ब्रिस्तान का वर्णन करता है। शेक्सपियर इस बात को लेकर बेहद चिंतित दिखाई पड़ते हैं कि दर्शक के मन पर क़ब्रिस्तान अच्छी तरह अंकित हो जाय। लेकिन रेडियो मे इसकी कोई जरूरत नही, बल्कि यह प्रभाव खत्म करने वाला और श्रोता को विमुख करने वाला होगा। मचीय दुहरावो (शब्दो के) के मुक़ाबले रेडियो का सबसे असरदार औज़ार न्यूनोक्ति है। शब्दों और पंक्तियो के बीच 'जो नहीं कहा गया है' वही, यहाँ सबसे अधिक कहता है।

गाइल्स कूपर शब्दो की इसी मितव्ययिता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जब उनके नाटक 'Without the grail'[2] मे आत्मकेंद्रित नायक दरवाज़ा खोलता है और अपने मेज़बान की क्रूरतापूर्वक की गई हत्या से उसका साक्षात्कार होता है। उसके शब्द हैं—"सर नही है ....सर नहीं है......"। कूपर शेष सारा ब्यौरा श्रोता की कल्पनाशीलता के लिए छोड़ देते हैं।

(iii) **अप्रत्याशितता**—अप्रत्याशितता उच्चरित शब्द की सबसे बड़ी ख़ूबी होती है। जितने ही अप्रत्याशित शब्द होगे—श्रोता का ध्यान उतनी ख़ूबी से आकर्षित और केंद्रित करेगे। शब्द का यह गुण लिखे/छपे हुए पृष्ठ पर व्यर्थ चला जाता है क्योंकि हमारी आँखें पढ़ते वक्त (चोरी से) आगे झाँक लेने की अभ्यस्त होती हैं।

Peter Gureny के रेडियो-नाटक 'The Mosque of Falsehood'[3] मे Falsehood की पंक्तियाँ आती हैं—

---

1 रोमियो एंड जूलियट—विलियम शेक्सपियर, पृ॰ 246-47

2 विदाउट दि ग्रेल—गाइल्स कूपर, कलेक्टेड रेडियो-प्लेज पृ॰ 66

3 दि मास्क ऑफ फ़ॉल्सहुड—पीटर गर्नी, रेडियोज बेस्ट प्लेज़, सं॰ जोसेफलिस—पृ॰ 77

The price that I ask

to save you from dying

is your grave grey eyes

लिखे/छपे पृष्ठ पर 'your grave grey eyes' हमे उस तरह नही चौंकाते जैसे कि रेडियो पर, जहाँ हमे आनेवाले शब्दो की प्रतीक्षा करनी पड़ती है और उनकी धार ख़त्म नही होने पाती।

अन्ततः, रेडियो पर शब्दों का प्रयोग बेहद संगीतमय, कवित्वपूर्ण, बौद्धिक, प्रभावपूर्ण तथा मन की भीतरी पर्तों मे छुपे भावों को अभिव्यक्त करनेवाले तरीक़े से होना चाहिए। हालांकि, इसमें अलोकप्रिय होने का ख़तरा ज़रूर उठाना होगा, लेकिन पहले ही कहा जा चुका है कि रेडियो का कलारूप पेंटिंग, संगीत और कविता जैसे अल्पसंख्यक रसिको के माध्यम के रूप में ही ज़िदा रह सकेगा।

1.3.2 पार्श्व संगीत अथवा प्रासंगिक भाव-संगीत (Incidental music)—हालाँकि शब्द रेडियो-संप्रेषण के कलारूप की संरचना में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं और सिर्फ़ उच्चरित शब्दो के माध्यम से एक उत्तेजक और तुष्टिदायक कलात्मक संश्लेषण पा लेना संभव है फिर भी, आम तौर से शब्द पूरी संरचना के एकमात्र तत्त्व नहीं होते। उन्हे संबलित करने की ज़रूरत होती है और यही पर शब्द के सर्वाधिक शक्तिशाली कलात्मक सहायक के रूप मे संगीत अपरिहार्य हो उठता है—अपनी ख़ुद की भावनात्मक शक्ति के कारण, शब्द की ही तरह समय मे अपना अस्तित्व रखने के कारण और प्रभविष्णुता के लिए लय पर अपनी निर्भरता के कारण।

रेडियो-संप्रेषण में पार्श्व-संगीत की भूमिका

संगीत न सिर्फ़ क्रिया-कलापों को सर्वाधिक जीवंतता और सुस्पष्टता से संप्रेषित करता है और इस तरह अनावश्यक ब्यौरो और शब्द-चित्रों से बचाता है बल्कि एक भावात्मक तनाव

से दूसरे भावात्मक तनाव तक पहुँचने मे, अनुवर्ती प्रक्रम तक की यात्रा मे एक शॉर्ट-का भी काम करता है। यह तनाव को शीर्ष तक पहुँचाता है, उसका समाधान/निराकरण करता है और इसके लिए पुष्टि और विरोधी टिप्पणी—दोनों का ही इस्तेमाल करता है।

प्रासगिक भाव-संगीत आज नाट्य-कला का स्वीकृत अंग बन चुका है। यह न सिर्फ़ किसी विशेष दृश्य की भाव-दशा से मेल खाता है वरन् स्वयम् अपनी श्रव्य भावोत्तेजकता के द्वारा दृश्य क्रियाकलाप को संबलित करता है। इस प्रकार प्रासंगिक संगीत श्रोता के चित्त पर दृश्य के साथ मिलकर दुहरा भाव-प्रहार करता है।

प्रासंगिक भाव-संगीत के प्रयोग की शर्तें

(i) तकनीकी ज्ञान—रेडियो-प्रस्तुति मे भी प्रासंगिक भाव-संगीत/पाश्र्व-सगीत का वही इस्तेमाल है जो कि नाटक में लेकिन रेडियो-माध्यम के विशिष्ट नियमो के अधीन। उच्चरित शब्दो की ही तरह हर वाद्ययंत्र श्रोता को करीब महसूस होना चाहिए। रेडियो-संप्रेषण मे यह निकटता ही है कि धीरे से छेड़ा गया किसी साज़ का एक सुर पूरे ऑर्केस्ट्रा से अधिक प्रभावोत्पादक हो सकता है। रेडियो पर हर एकल वाद्ययंत्र कंसर्टहॉल की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली होता है और हर यंत्र, हर स्वराघात को जैसे खुर्दबीन के नीचे रख देने की मायक्रोफ़ोन की यही ख़ूबी है जिसे आत्मसात करने की रेडियो के संगीत-रचनाकार को आवश्यकता होती है। निर्दोष संगीत-रचना से कहीं अधिक आवश्यक यह तकनीकी ज्ञान होता है कि किस दूरी से और तारता के किस बिंदु पर, किस वाद्ययंत्र से क्या प्रभाव उत्पन्न होता है?

(ii) अपरिहार्यता—इस तकनीकी ज्ञान के बाद आवश्यकता यह जानने की होती है कि पार्श्व संगीत/प्रासंगिक भाव-संगीत का प्रयोग हम क्यों कर रहे हैं? बिना किसी विशिष्ट उद्देश्य अथवा प्रभाव के, सिर्फ़ रवायती तौर पर पार्श्व संगीत का इस्तेमाल उसका घृणित दुरुपयोग है, जबकि इसके माध्यम से

बेहद जटिल और सूक्ष्म अर्थ संप्रेषित हो सकते हैं। क्या प्रासंगिक भाव-संगीत उच्चरित शब्दों और ध्वनि-प्रभावों द्वारा छोड़े गए अन्तराल मे कुछ भावोत्तेजकता भर रहे हैं? क्या पार्श्व-संगीत उच्चरित शब्दो को अर्थ-सघनता प्रदान कर रहा है? शब्दों के नए अर्थ खोल रहा है? अगर नहीं, तो पार्श्व-संगीत रेडियो-संप्रेषण मे सिर्फ़ एक अवरोध है। अगर शब्द दिलचस्प और मानीखेज़ हैं और पार्श्व-संगीत उनमे अपनी तरफ से कुछ नही जोड़ रहा तो श्रोता यह कामना करता है कि पार्श्व-संगीत न ही हो, क्योंकि वह चिढ़ानेवाला होता है या फिर अगर, संगीत की स्वतंत्र अर्थवत्ता हो तो श्रोता यह कामना करता है कि काश वह सुकून से सिर्फ़ संगीत सुन सकता। दोनो ही दशाओं में पार्श्व-संगीत बेमानी है।

पार्श्व-संगीत/प्रासंगिक भाव-संगीत का उद्देश्य संप्रेषण को और गहराई प्रदान करना होता है न कि भाव-जगत को छिन्न-भिन्न कर देना। उदाहरणतः, जंगल के दृश्य में कंसर्ट-ऑर्केस्ट्रा के इस्तेमाल से अधिक विध्वंसक क्या हो सकता है?

(iii) एकीकृतता—पार्श्व-संगीत हमेशा सम्पूर्ण प्रस्तुतीकरण के एकीकृत और अभिन्न अंग के रूप में कल्पित और नियोजित होना चाहिए। शब्द और संगीत की बुनावट एक इकाई के रूप में हो और वे हाथ में हाथ डालकर चलें। पार्श्व-संगीत भी पूरी थीम के साथ विकसित हो और इस ख़तरे पर संगीत-रचनाकार की सतर्क दृष्टि हो कि जब तक पार्श्व-संगीत पाठ के काव्यात्मक अथवा नाटकीय स्वरूप के अनुरूप या संगीत की ही भाषा मे कहे तो संवादी (Corresponding) नहीं होगा, यह सम्पूर्ण अर्थ-संप्रेषण के रास्ते की रुकावट बन जाएगा। वे संगीतकार सबसे बड़े पाप के भागी हैं जो किसी भी क़ीमत पर सिर्फ़ अपनी संगीत-रचना करने को प्रतिबद्ध रहते हैं

क्योंकि ऐसा संगीत प्रस्तुतीकरण के वास्तविक कार्य-व्यापार से श्रोता का ध्यान हटाकर अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। हालाँकि ऐसा संगीत रचना कुंठाजनक और हतोत्साहित करनेवाला हो सकता है जो सचेतन और स्वतंत्र रूप से सुना भी नही जाएगा पर अपनी स्वतत्र सत्ता स्थापित करने वाला संगीत कंसर्ट हॉल के लिए ही उपयुक्त हो सकता है। रेडियो-प्रस्तुति में यह उसी प्रभाव को सबसे पहले नष्ट करेगा जिसे सघन बनाने की उससे अपेक्षा की जाती है।

(iv) उद्बोधकता—पार्श्व-संगीत का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य शब्दो के उद्बोधक और चाक्षुष अग के रूप में है। 'ऑल दैट फ़ॉल' मे मिसेज़ रूनी द्वारा अमलतास के फूलों से लदे पेड़ को देखने की प्रतिक्रिया सर्वश्रेष्ठ रूप मे सगीत के द्वारा ही संप्रेषित की जा सकती है। फ़िल्म 'दामुल' मे सर्वहारा के सशस्त्र प्रतिरोध को रघुनाथ झा बेहद प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करते हैं—सिर्फ़ पखावज के एकल टुकड़ो से।

अन्ततः, पार्श्व-संगीत/प्रासंगिक भाव-संगीत के औचित्य-अनौचित्य का फैसला एक ही कसौटी से किया जा सकता है कि क्या यह अपरिहार्य है? पार्श्व-संगीत की हमेशा ज़रूरत महसूस की जानी चाहिए न कि इसकी इजाज़त दी जानी चाहिए।

1.3.3 प्राकृतिक ध्वनियाँ—प्राकृतिक ध्वनियाँ वातावरण-निर्माण एवम् कलात्मक-विभ्रम निर्मित करने का बेहद किफ़ायती साधन हैं। इतना ही नहीं दृश्य-बिम्ब उभारने की दृष्टि से, यथार्थ ध्वनि का अतिरिक्त आयाम जोड़ने के कारण अक्सर ये उच्चरित शब्दों की अनिवार्य पूरक भी होती हैं। दरवाज़ा बंद होने की आवाज़ कमरे के अस्तित्व और उसमें किसी के प्रविष्ट होने या बाहर जाने का दृश्य अनायास उपस्थित कर देती है। समुद्री पंछियों के चीख़ने की आवाज़ फ़ौरन समुद्र का जीवंत चित्र खींच देती है। इस तरह की अनेक प्राकृतिक ध्वनियाँ

हैं जो दो-चार पलो मे ही एक समग्र दृश्य श्रोता के समक्ष ला खड़ा करती हैं, जिसका वर्णन करने मे संभवतः कई पैराग्राफ़ भी उतने सक्षम न हो।

मंच पर प्राकृतिक ध्वनियो के प्रयोग की क़रीबी सीमाएँ हैं। प्राकृतिक ध्वनियो और सजीव संवादों में गुणवत्ता की विसंगति प्रभावोत्पादन मे एक बड़ी बाधा बनकर आती है। लेकिन रेडियो इस मामले में फ़ायदे की स्थिति मे है। यहाँ न सिर्फ़ प्राकृतिक ध्वनियो और अभिनेताओं के स्वर के संबंध को संतुलित किया जा सकता है वरन् मनचाही निकटता से श्रोता का ध्यान प्रस्तुत की गई ध्वनि पर केंद्रित किया जा सकता है और क्लोज फ़ोकस मे ध्वनियो को रख सकने की क्षमता के कारण ये सूक्ष्मतम भावों/स्थितियों को संप्रेषित कर सकती है।

प्राकृतिक ध्वनियों की सीमा

प्राकृतिक ध्वनियों के प्रयोग की इकलौती सीमा यह है कि मूल पाठ के वाचिक संकेतो से वियुक्त ये शायद ही प्रभावशाली हो। अक्सर इन संकेतों के बिना ये भ्रम ही उत्पन्न करने वाली होती हैं। ज़रूरी है कि पाठ इनकी माँग करे और यह भी कि इनकी प्रकृति की पहचान के सूत्र भी थमाए। चुस्ती से बंद किए गए प्यानो के ढक्कन की आवाज़ को लें। यह बिना किसी संकेत-सूत्र के कुछ भी हो सकती है। अब इसे अलग-अलग शब्द-संकेतो से जोड़कर देखे। इस ध्वनि के पहले एक उच्चरित शब्द 'नमस्कार' इसे दरवाज़ा बंद होने की ध्वनि का रूप दे देगा तो 'वेल प्लेड' इससे क्रिकेट के बल्ले से निकली ध्वनि संप्रेषित करेगा। अगर संवाद आए—'देखो! उसके पास पिस्तौल है!' तो यह पिस्टल-शॉट हो जाएगी और अगर शब्द हो—'देखो! तुमने क्या कर डाला है!!' तो यह ध्वनि उन कई ध्वनियो में से एक हो सकती है जो पाठ सुझाता हो। कान उसी पर यकीन करते हैं जो उन्हे सुझाया जाता है। यह सही है कि प्राकृतिक ध्वनियाँ उन स्थितियों और भावाभिव्यक्तियों को संबलित करती हैं जो शब्द अकेले नहीं कर सकते, लेकिन तब भी वे शब्द ही हैं जो ध्वनिप्रभाव के अर्थबोध तक श्रोता का मार्गदर्शन करते हैं।

प्राकृतिक ध्वनियों के अर्थबोध में सबसे अधिक घालमेल का ख़तरा इसलिए रहता है कि हमारा ध्वनियों का आवृत्ति-क्षेत्र बेहद सीमित होता है और इसलिए भी कि सिर्फ़ कानों के

द्वारा उन्हें पहचानने का अभ्यास हममे से अधिकतर को नहीं होता। हम दरवाज़ा खटखटाने की आवाज़ पहचानते हैं लेकिन यह भी तो हो सकता है कि कॉरीडोर मे कोई लकड़ी के डिब्बे पर हथौड़ा चला रहा हो। मूसलाधार वर्षा की आवाज़ और तालियो की गड़गड़ाहट में भ्रम हो जाता है। डेस्क पर पेन्सिल से की गई टक-टक को पेड़ पर कुल्हाड़ी चलाने की ध्वनि, उंगलियाँ चटकाने को दीवार-घड़ी की टिक-टिक और घड़ी की टिक-टिक को भ्रमवश घोड़ा दौड़ाने की ध्वनि समझा गया है।

सिर्फ़ ध्वनि-प्रभावों से ही रेडियो-कार्यक्रम बनाने के कई महत्वाकांक्षी प्रयास हुए हैं। ऐसी परिकल्पना काग़ज़ पर बेहद उम्मीद जगाने वाली और आश्वस्तिकारक लग सकती है, लेकिन उनका हश्र श्रोता के भ्रम और अरुचि में ही होता है। वास्तव मे, लेखक अपने कच्चे माल (प्राकृतिक ध्वनि) को बेहद बढ़ा-चढ़ाकर आँक रहा होता है। उदाहरणतः, वह लिखता है—'सड़क पार करने की पदचाप', लेकिन उसके मस्तिष्क में एक दृश्य-परिकल्पना रहती है। जबकि सिर्फ़ कानों द्वारा ग्रहण करने पर वह सड़क पार करने की नहीं फुटपाथ पर चलने की आवाज़ लग सकती है और इसकी भी क्या निश्चयात्मकता है कि वह 'पदचाप' ही हो? वह किसी मज़दूर की लगातार ईंट पर ईंट रखने की आवाज़ भी हो सकती है।

प्राकृतिक ध्वनियों का रचनात्मक प्रयोग

'चयन' प्राकृतिक ध्वनियों के रचनात्मक प्रयोग की कुंजी है। किस ध्वनि का प्रयोग किया जाना है? क्या वह ध्वनि-प्रभाव बिल्कुल वही संप्रेषित करता है जो लेखक-प्रस्तुतकर्ता के दिमाग़ में है? इस प्रभाव की आवृत्ति क्या होगी? ये और ऐसे कई प्रश्न हैं जिनसे कार्यक्रम-प्रस्तुतकर्ता को बार-बार टकराना चाहिए।

दरवाज़ा खुलने की ध्वनि कमरे के अस्तित्व और उसमें किसी के प्रवेश करने या उसमें से निकलने का बोध कराती है। लेकिन एक ही दृश्य में हर पात्र के प्रवेश और निकास पर इस ध्वनि का प्रयोग निरर्थक और चिढ़ानेवाला होगा जब तक कि बार-बार दरवाज़ा खुलने-बन्द होने की आवाज़ ख़ुद ही कुछ विशेष संप्रेषित न करती हो या, उस घर के विशिष्ट चरित्र का अभिन्न अंग न हो। दूसरी तरफ़, किसी निश्चयात्मक प्रस्थान के साथ दृढ़ता से दरवाज़ा

बंद करने का ध्वनि-प्रभाव एक उत्तेजक नाटकीय उपकरण हो सकता है। प्रत्येक पात्र के हर चलने-फिरने की पदचाप असह्य रूप से चिढ़ाने वाली होगी लेकिन निस्तब्ध रात्रि मे किसी अनजाने हत्यारे के चलने की आवाज़ अनायास ही श्रोता की जिज्ञासा को शिखर तक ले जानेवाली होगी। किसी ऐसी स्त्री की कल्पना करे जो अपने ही पति के विरुद्ध गवाही देने आती है। अदालत में पहली बार प्रवेश करते हुए उसके घिसटते-डगमगाते क़दमो का ध्वनि-प्रभाव कितना कुछ कहनेवाला होगा। हर पंद्रह मिनट के अंतराल पर चर्च की घड़ी की ध्वनि कोई श्रोता नही सुनना चाहेगा। लेकिन ठीक बारह बजे, जब शैतान जाग उठता है, घंटे का पहला 'टन्न' ही नाटकीय और उत्तेजक होगा। भावनात्मक आघात के संप्रेषण के लिए ग्लास के हाथ से छूटने और फ़र्श पर गिरकर टुकड़े-टुकड़े हो जाने के ध्वनि-प्रभाव का अक्सर इस्तेमाल किया जाता है और यह आज तक उतना ही प्रभावशाली बना हुआ है, सिर्फ़ इसलिए कि इस जैसे अनेक संभव प्रभावो में यह सबसे सटीक और सुस्पष्ट है।

पैट्रिक हैमिल्टन के नाटक 'कॉलर एनोनिमस'[1] में टेलीफ़ोन की घंटी का इस्तेमाल पाठ में अपनी स्थिति के कारण ऐसा आतंककारी और तनावजनक प्रभाव पैदा करता है, जितना संवादो के कई पैराग्राफ़ नहीं कर पाते।

एक सामान्य दृश्य मे कई बार घंटी बजाना, सन्नाटा, फिर दरवाज़े का हैंडल घुमाना, फिर दरवाज़ा खोलना—इस सारी कसरत का कोई मतलब नहीं लेकिन जहाँ घर मे प्रवेश करते ही किसी अप्रत्याशित अनिष्ट का साक्षात्कार होना हो वहाँ एक-एक ध्वनि-प्रभाव अर्थपूर्ण हो उठता है। एक जड़ और निहायत निस्पंद जीवन जी रहे व्यक्ति के बिस्तर के पास रखी घड़ी की टिकटिक की उसके मस्तिष्क में गूंजनेवाली आवर्धित ध्वनि, एक सार्थक टिप्पणी बनकर आ सकती है।

1.3.4 म्यूज़िक़ कॉंक्रीट या रेडियोफ़ोनिक प्रभाव—इस पारिभाषिक शब्द के प्रयोग का श्रेय फ्रांस के पियरे स्कैफ़र को जाता है जो द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त

---

1. कॉलर एनोनिमस—पैट्रिक हैमिल्टन, रेडियोज़ बेस्ट प्लेज़, सं॰ जोसेफ़ लिस, पृ॰ 126

मे रेडियो में नई ध्वनि-तकनीकों की खोज कर रहा था। 'म्यूज़िक काँक्रीट' यानी ठोस सामग्री से उत्पन्न किया गया संगीत, जबकि पारंपरिक संगीत अमूर्त रूप में कल्पित/धारित किया जाता है। जब यह अमूर्त कल्पना स्वर लिपि का रूप ले लेती है तब कहीं उस वाद्ययंत्र के माध्यम से, जिस पर इसे बजाया जाता है, ठोस शक्ल अख़्तियार करती है।

म्यूज़िक काँक्रीट न तो किसी वाद्ययंत्र से उत्पन्न होता है न ही इसे स्वरलिपि के रूप में लिखा जा सकता है। वास्तव में यह विशुद्ध ध्वनि है या ध्वनि की अभिरचनाएँ जो तकनीकी प्रक्रिया से उत्पन्न होती हैं। इस प्रक्रिया में कोई भी ध्वनि ले ली जाती है और अनेकानेक संक्रियाओ के माध्यम से अलग-अलग गति पर इसे ध्वन्यांकित करके, फ्रिक्वेन्सी-फ़िल्टर्स से फ़िल्टर करके, ध्वनिक-विभिन्नताएँ लाकर और वांछित स्थानो पर क्रम-परिवर्तन कर, इनकी प्रकृति बदल दी जाती है। इस तरह एक ऐसी ध्वनि उत्पन्न की जाती है जो पहले कभी न सुनी गई हो और जिसकी एक अनोखी और अपरिभाषेय गुणवत्ता हो। सिर्फ़ एक आधारभूत ध्वनि, उदाहरणतः सिर्फ़ सुई के गिरने की आवाज़ से उक्त प्रक्रिया द्वारा एक विस्तारित और सूक्ष्म ध्वनि-अभिरचना प्राप्त की जा सकती है। यह वास्तविक ध्वनि के रूढ़िगत प्रयोग की जगह उससे एक नई ध्वनि की रचना का एक निर्णायक रास्ता है।

म्यूज़िक काँक्रीट/रेडियोफ़ोनिक प्रभाव रेडियो की बुनावट मे एक अद्भुत तन्तु है, एक नये रंग और नवीन आयाम के साथ, जिसका किसी भी वर्तमान ध्वनि से कोई संबंध नहीं है, जो असंगत प्रभावों से बिल्कुल मुक्त है और जिसकी स्वयम् की भावाभिव्यंजना है। रेडियो ही नहीं टेलीविज़न, सिनेमा, रंगमंच—हर माध्यम ने इसकी संभावनाओं को देखते हुए, इसके लिए अपने दरवाज़े खोले हैं।

फ्रेडरिक ब्रैडनम का रूपक 'प्राइवेट ड्रीम्स एंड पब्लिक नाइटमेयर्स'[1] रेडियोफ़ोनिक

---

1 प्राइवेट ड्रीम्ड ऐंड पब्लिक नाइटमेयर्स—फ्रेडरिक ब्रैडनम, कलेक्टेड रेडियो प्लेज़ पृ॰ 63

प्रभावो के प्रयोग का एक सुन्दर उदाहरण है। इसका आरंभ होता है :—

ध्वनि-प्रभाव		संवाद
एक संगत रिद्म	प्रथम स्वर :	round & round like a mind from the ground deep and deep a world turns in sleep.
जैसे किसी धूमकेतु का अट्टहास	द्वितीय स्वर :	I fall through nothing, vast, empty spaces.
स्पदित करने वाला बीट मन्द्र होता जाता स्वर		Darkness and the pulse of my life bound, intertmined with the pulse of the dark world.
चीख जैसी, विकसित की गई ध्वनि		Still falling falling but slower now......

द्रष्टव्य है कि शब्द कैसे उद्बोधक हैं और रेडियोफ़ोनिक-प्रभाव उनकी उद्बोधकता को और प्रभावी बनानेवाले।

1.3.5 नीरवता (Silence)—रेडियो प्रस्तुति का अन्तिम संघटक नीरवता है। हालाँकि यह बहुत अस्वाभाविक तर्कदोष नहीं है कि प्रस्तुति के समय का एक-एक पल भर देने के लिए होता है और सन्नाटा (silence) एक चूक है, बिना रुके शब्दों और ध्वनियों की बमवर्षा प्रस्तुतकर्त्ता का परमधर्म है; नीरवता सिर्फ़ मृत प्रसारण-समय (dead air) है और यह प्रसारण का दोष है। लेकिन वास्तव में, एक सुविचारित आकलन के साथ नीरवता का प्रयोग, ऐसी नीरवता जो सटीक बिंदु पर, सटीक संदर्भ में आए और टूटे भी, अनंत संभावनाओ वाला उपकरण है और श्रोता की कल्पनाशीलता के लिए सर्वाधिक उत्तेजक घटक। नीरवता में अपेक्षा, वातावरण, रहस्य, भावनात्मक व्यंजना और दृश्य-सूक्ष्मताओ की

अनुगूंज की सृष्टि की जा सकती है। उदाहरणतः, यूगो बेट्टी के नाटक 'दि बर्न्ट फ़्लॉवर-बेड'[1] का प्रारंभिक भाग है :

(टोमैस्को प्रवेश करता है।)

जियोवैनी : ओऽ! ओऽऽ!! मैंने कभी नही सोचा था कि तुम सचमुच आओगे।

टोमैस्को : मैंने तुम्हे लिखा था। कई बार।

जियोवैनी : हाँ, लेकिन, सोचो! इतनी दूर चलकर तुम्हारा यहाँ आना।

टोमैस्को : मुझे ही आना था। मुझे तुमसे बात करनी थी।

जियोवैनी : तब तो यह जरूरी होगा। बैठो।

टोमैस्को : तुम अब भी काफ़ी जवान लगते हो। क्या तुम ठीक से रह रहे हो?

जियोवैनी : हाँ।

टोमैस्को : और इन सारे सालो मे तुम करते क्या रहे? अपना हाल-समाचार कभी दिया ही नही।

जियोवैनी : आराम करता रहा—छुट्टियो मे।

अगर इस नाट्यांश को बिना अन्तराल के अभिनीत कर दिया जाय तो यह दो पुराने परिचितो का ख़ुशनुमाँ पुनर्मिलन लगेगा। अब इन्ही संवादों को अन्तरालो, लम्बे अंतरालों के साथ प्रस्तुत किया जाय :—

जियोवैनी : ओऽ!!...ओऽऽ...... (अंतराल) मैंने कभी सोचा भी नहीं था....... कि तुम......सचमुच आओगे!

(दीर्घतर अंतराल)

---

1 दि बर्न्ट फ्लॉवर-बेड, ले॰-यूगो बेट्टी, कलेक्टेड रेडियो प्लेज़ संपादक-लियोनेल गैम्लिन पृ॰ 87

टोमैस्को : मैंने तुम्हे लिखा था। (अंतराल) कई बार।

जियोवैनी : हाँ, लेकिन......सोचो, इतनी दूर चलकर तुम्हारा यहाँ आना. . .

टोमैस्को : मुझे ही आना था। (लंबा अंतराल) मुझे तुमसे बात करनी थी।

जियोवैनी : तब तो यह. .. .जरूरी होगा।......बैठो।

(दीर्घ अंतराल)

टोमैस्को : तुम अब भी..... काफ़ी जवान लगते हो। (अंतराल) क्या तुम.... .ठीक से रह रहे हो?

(अंतराल)

जियोवैनी : हाँ......

(अंतराल)

टोमैस्को : और इतने सालों मे. ....तुम करते क्या रहे? अपना हाल-समाचार कभी दिया ही नही......

(सुदीर्घ अंतराल)

जियोवैनी : आराम करता रहा......छुट्टियों मे।

और अचानक हम पाते हैं कि हम एक द्वन्द्वयुद्ध के साक्षी हैं—बिना शस्त्रास्त्रो के लड़े जा रहे द्वन्द्वयुद्ध के, और यह द्वन्द्व एक बेहद जीवंत और आवेशित, गनगनाते हुए अतीत के संदर्भ मे चल रहा है। शब्द तो सिर्फ़ औपचारिकताएँ हैं; वास्तविक भावनाएँ और अनुभूतियाँ तो वे हैं जिन्हे व्यक्त नहीं किया जा रहा। दोनों चरित्र कहीं गहरे जुड़े हैं, एक-दूसरे पर बेहद अविश्वास करते हैं और एक-दूसरे पर हावी होने के लिए सन्नद्ध हैं। और उनके मौन-उनकी अनुभूतियों के धारदार अनुवाद हैं।

निश्शब्दता के दौरान चीज़े अदृश्य रूप से घटित होती हैं—चरित्रो के मस्तिष्क मे और हमारी कल्पना में। मौन हमे अर्थ की उस बहुस्तरीयता में ले जाता है जो उससे बिल्कुल अलग है, जो शब्दो मे कहा जा रहा है।

नीरवता प्रस्तुति मे एक और आयाम जोड़ती है। ध्वनियाँ इससे आती हैं और इस तक लौटती हैं। शब्दो का अस्तित्व निश्शब्दता/मौन से घिरा होता है। निश्शब्दता वह वस्त्र है जिस पर शब्दो की आकृति बुनी जाती है। मौन किसी चुंबक की तरह हमें चरित्र के अदर गहरे खीच ले जाता है। रेडियो-प्रस्तुति मे निश्शब्दता/मौन का वही प्रभाव है जो कि दृश्य-माध्यमो मे शारीरिक अभिव्यक्तियों का। किसी निर्णायक क्षण/प्रश्न के सम्मुख लाइटर या पेपरवेट से किया गया खिलवाड़ या अंगुलियाँ चटख़ाना दरअसल वह मनोवैज्ञानिक समय-अंतराल है जो चरित्र के मुखर होने के लिए आवश्यक है और यह समय-अंतराल वह अभिव्यक्त कर सकता है जो शब्द नही कर सकते। जहाँ कि चरित्र एक लंबे विचार-मंथन से पूर्व शाब्दिक-अभिव्यक्ति के बिंदु तक नही पहुँच सकते, वहाँ तत्परतापूर्वक उठा लिए गए सवाद से अधिक आत्मघाती कुछ नहीं हो सकता।

रेडियो-प्रस्तुति में यह मौन का अंतराल ही है जिसमें श्रोता की रचनात्मकता अपने शिखर पर होती है। वह उस अंतराल को ख़ुद रंगो, गतियो और अनुभूतियों से भरता है। यह अंतराल ही श्रोता की अनुभूति और अंतर्दृष्टि विकसित करता है। अंतत., रेडियो इस मामले मे सौभाग्यशाली है कि वास्तविक नीरवता के उपयोग का अवसर उसे ही प्राप्त है। दृश्य-माध्यमों में वास्तविक नीरवता तभी संभव है जब हर तरह का कार्य स्थगित कर दिया जाय। वर्ना रंगमंच और सिनेमा मे नीरवता भी रंगों और गतियों के शोर से भरी रहती है।

रेडियो-संप्रेषण के उपरोक्त सारे उपकरणो का प्रयोग अनेकानेक प्रकार से हो सकता है—अलग-अलग भी और एक-दूसरे के साथ मिलाकर संश्लिष्ट रूप मे भी। इनके क्रमचय अनंत हो सकते हैं। हाँ, चूँकि इनकी संख्या काफ़ी सीमित है, प्रस्तुतकर्ता को अपने उपगमन में हमेशा ताज़गी की खोज में रहना चाहिए क्योंकि फ़ॉर्मूले तुरंत पहचान लिए जाते हैं और कभी असरकारी नहीं होते।

1.5 निष्कर्ष : उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि साहित्य का विरोधात्मक संबंध मुख्यतः रेडियो के समाचार एव सूचनाओ के जनसंचार-माध्यम-रूप से है न कि कला-रूप से। एक कला-रूप में रेडियो बेहद संभावनाशील माध्यम है और अगर प्रयोगधर्मी हाथो मे हो तो सृजनशीलता को नये आयाम दे सकता है।

एक कला-रूप मे रेडियो साहित्य से लिखित शब्द लेता है लेकिन उसमे उच्चरित शब्द के नये आयाम जोड़ता है। साथ ही, प्रासंगिक भाव-संगीत, ध्वनि-प्रभाव, अतराल आदि उसके विशिष्ट उपकरण हैं जो लिखित शब्द की संप्रेषणीयता मे वृद्धि करते हैं, उसे नवीन प्रभविष्णुता प्रदान करते हैं और कई बार, उसके अधिक सक्षम विकल्प भी बनते हैं। साहित्य और रेडियो की सृजन एवं संप्रेषण-प्रक्रिया एक-दूसरे से भिन्न ज़रूर है परन्तु, अपने सरोकारों मे दोनो एक-दूसरे के सहयोगी और पूरक हो सकते हैं।

□□□

अध्याय 2

शब्द की पठ्यता बनाम शब्द की श्रव्यता

अध्याय-2

शब्द की पठ्यता बनाम शब्द की श्रव्यता

2.1 संप्रेषण

- 2.1.1 अभिव्यंजना
- 2.1.2 आशंसा और अभिव्यंजना

2.2 आशंसक

2.3 अर्थग्रहण

- 2.3.1 अर्थग्रहण और माध्यम का हस्तक्षेप
- 2.3.2 साहचर्य और अर्थग्रहण
- 2.3.3 बिंब और अर्थग्रहण
- 2.3.4 बिंब : अर्थ और परिभाषा
- 2.3.5 बिंब-ग्रहण की प्रक्रिया
- 2.3.6 बिंब-रचना-प्रक्रिया के सोपान
- 2.3.7 आशंसक और बिंब-ग्रहण

2.4 बिंबात्मक-रूपांतरण

- 2.4.1 बिंबाधायन में रेडियो की विशिष्ट शक्तियाँ
- 2.4.2 बिंबात्मक रूपांतरण और रेडियो के उपकरण

2.5 निष्कर्ष

शब्द की पठ्यता बनाम शब्द की श्रव्यता

'अमूर्त्त अनुभूति को मूर्त्त करना अभिव्यक्ति है। इसके लिए हम किसी भौतिक पदार्थ को माध्यम बनाते हैं। सबसे उत्तम माध्यम वही हो सकता है जो हमारी अनुभूति को सबसे अधिक ग्रहण कर सके, जिसमें हमारी आत्मा का सबसे स्पष्ट प्रतिबिंब उतर सके, जिसमें सर्वाधिक 'लोच' हो। हीगेल नामक जर्मन दार्शनिक के अनुसार 'शब्द' हमारी आत्मा के सबसे निकट है। अतएव साहित्य में 'शब्दों' के माध्यम द्वारा हमारा आध्यात्मिक जगत् सबसे अधिक अंकित किया जा सकता है।'[1] इस प्रकार साहित्य का माध्यम शब्द है। हम इसे कानों से सुनते हैं या लिखित संकेतों द्वारा पढ़ते हैं।

इस शब्द की 'पठ्यता या श्रव्यता' में तीन बिन्दु अनिवार्यतया अंतर्निहित हैं :—

(i) संप्रेषण, (iii) सहृदय या आशंसक (पाठक या श्रोता) और (iii) अर्थग्रहण।

2.1. संप्रेषण

संप्रेषण कला का तात्त्विक धर्म है। कला की अभिव्यक्ति के मूल में संप्रेषण की भूमिका प्रमुख होती है। कला-दृष्टि अपनी सम्यक् संप्रेषणीयता पर ही निर्भर होती है, क्योंकि अभिव्यक्ति का तब तक कोई अर्थ नहीं जब तक कि सहृदय द्वारा उसका संग्रहण न हो। अभिव्यक्ति और संग्रहण-दोनों क्रियाओं का एकतार और एकलय हो जाना ही संप्रेषण है।

संप्रेषण मूलतः एक सामाजिक व्यापार है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और इसी

---

1. सौंदर्य-शास्त्र—डॉ॰ हरद्वारी लाल शर्मा—पृ॰ 77

नाते उसने एक सामाजिक मन विकसित किया है। वह जो कुछ अनुभव करता है, चिंतन करता है और जिन निष्कर्षों तक पहुँचता है—जो रचता है, दूसरों को निवेदित करना चाहता है। कोई भी रचना दूसरों तक अपने आपको पहुँचाने के लिए ही होती है और उसके मूल्यांकन में भी उसकी यह क्षमता का महत्त्वपूर्ण बिन्दु होती है। रचना-प्रक्रिया के दौरान भी रचनाकार की चेतना मे यह पाठक/श्रोता/भावक सुहृद अनिवार्यतः होता है।

इस प्रकार संप्रेषण की समस्या के दो पक्ष हैं—एक रचनकार से संबंधित और दूसरा ग्रहीता से, लेकिन अभिव्यक्ति और उसका ग्रहण एक ही क्रिया के उभय पक्ष हैं। किसी भी कृति द्वारा प्रेषित या प्रक्षेपित भाव, संवेदना या विचार जब ग्रहीता द्वारा उसी रूप मे ग्रहण कर लिये जाते हैं जिस रूप में रचयिता ने उन्हें प्रेषित किया हो, तभी सप्रेषण की क्रिया पूर्ण होती है। वैसे यह शत-प्रतिशत हो पाना बेहद कठिन होता है क्योंकि 'प्रेषणीयता ग्रहीता की मनोवृत्तियों, मनोरुचियों एवं सामाजिक विश्वासों के परिप्रेक्ष्य में कलाकृति में अभिव्यंजित को संवर्द्धित, उद्घाटित, अन्वेषित, संवेदित तथा प्रभावित करती है।'[1] फिर भी, इतना तो कहा ही जा सकता है कि कहने और समझने में जितनी ही कम दूरी हो उतना ही अच्छा।

इस प्रकार संप्रेषण की मूल समस्या आशंसक (पाठक श्रोता) के मस्तिष्क के ज्ञान की है। रचनाकार अपने अनुभव और सामान्य व्यवहार के सादृश्य के आधार पर अन्य समान मस्तिष्कों का अनुमान करता है लेकिन आशंसक सिर्फ़ तार्किक अर्थ ही नहीं मनोतार्किक अर्थ भी ग्रहण करता है। संप्रेषण में यह वांछनीय ज़रूर है कि आशंसक वह अनुभव करे जो रचनाकार उसे अनुभव कराना चाहताथा या वह अर्थ पाये जो रचनाकार का मंतव्य था लेकिन प्रथमतः तो संप्रेषण एक इच्छा-ज्ञान-समवाय है क्योंकिआशंसा वैयक्तिक होती है और वैयक्तिक रुचि तथा विश्वास से निर्देशित होती है। संप्रेषण में अर्थ और अनुभव के ग्रहण का द्वैत तथा समन्वय बना रहता है। संप्रेषण में हमेशा अर्थ ही द्विस्तरीयता बनी रहती है। पहला स्तर तार्किक अर्थ का होता है और दूसरा मनोतार्किक अर्थ का। अनुभव शब्द अथवा वाक्य का द्वितीयक अर्थ है जो आशंसक की मनोदशा, रुचि या विश्वासों पर आधृत होता है। द्वितीयतः कला की भाषा विज्ञान की भाषा की भाँति एकल अभिव्यंजना की भाषा नही होती। इसमें अभिव्यंजना–

---

1. अथातो सौंदर्य-जिज्ञासा—डॉ॰ रमेश कुंतलमेघ, पृ॰ 308

बहुलता की संभावनाएँ होती हैं। इसीलिए इसमें अस्पष्टता, दुरूहता, अपूर्णता, अंतर्विरोध आदि प्रेषणीयता की प्रत्यक्षता को अवरुद्ध कर देते हैं और ग्रहीता को आशंसा ही नहीं व्याख्या भी करनी पड़ती है। यही कारण है कि भारतीय काव्यशास्त्र में सहृदय को कवि तथा कृति मे अंतस्थ करके रसनिष्पत्ति की चर्चा हुई है और सहृदय अर्थ में तथा कवि शब्द में तथा दोनों ही अर्धनारीश्वर भाव से एक में प्रस्थित स्वीकार किये गये प्रतीत होते हैं। इसीलिए एक ही प्रतिभा के दो पंख माने गये—कारयित्री (कवि) और भावयित्री (रसिक)।

अतः संप्रेषण के एक दूसरे से अनिवार्यतया जुड़े दो छोर हैं—

(i) अभिव्यंजना और

(ii) आशंसा।

2.1.1 **अभिव्यंजना**—रचनाकार द्वारा अपनी अनुभूतियों, अनुभवों और भावनाओं को एक माध्यम में ढाल कर प्रस्तुत करना अभिव्यंजना है। लेकिन अभिव्यंजना में सिर्फ़ रचनाकार की चेतन और अवचेतन अनुभूतियाँ, अनुभव और भावनाएँ या संवेग ही नहीं होते। माध्यम की भी बेहद महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है क्योंकि माध्यम की अपनी भी अभिव्यंजना-शक्ति होती है और वह रचनाकार की अभिव्यक्ति और रचना को अनिवार्यतः प्रभावित करती है। 'रचनाकार की अभिव्यंजना को माध्यम रूपांतरित करता है। यह रूपांतरण सारांशीकरण (ऐब्स्ट्रैक्शन), प्रतिनिवेदन (रिप्रेज़ेंटेशन), सादृश्य (रिसेंबलेंस), प्रतीकीकरण (सिंबलाइज़ेशन), विरूपीकरण (डिस्टॉर्शन) और अतिरंजना (एग्ज़ेज़ेरेशन) इत्यादि के द्वारा होता है।''[1] उदाहरणतः कुछ खास छंद, रंग या राग-रागिनियाँ विशेष अनुभूतियों की अभिव्यंजना में रूढ़ हो गए हैं। लाल रंग रागात्मकता और सफ़ेद रंग शांति की एवम् भारतीय काव्यशास्त्रमें पांचाली रीति में सुकुमारता तथा गौड़ीया में ओज और कांति की अभिव्यंजना है। साथ ही पर्यावरण का भी प्रभाव रचनाकार

---

1. अथातो सौंदर्य-जिज्ञासा—डॉ॰ रमेश कुंतलमेघ, पृ॰ 262

की अभिव्यंजना पर पड़ता है।

रचनाकार के संदर्भ में रचना को अभिव्यंजना की जगह आत्माभिव्यंजना कहना असंगत न होगा। क्योंकि इसमें अनुभव और अभिव्यंजना दोनों का मिश्रण होता है। अनुभव के अंतर्गत रचनाकार के बौद्धिक, संवेगात्मक और काल्पनिक अनुभव आते हैं और अभिव्यंजना के अंतर्गत अभिव्यक्ति की विभिन्न शैलियाँ जैसे प्रतिनिवेदन, प्रतीकीकरण आदि। अभिव्यंजना, अनिवार्यतः प्रक्रिया और माध्यम की आश्रित और उससे पूरित होती है और इसमें प्रक्रिया तथा माध्यम के अभिव्यंजक गुण भी अंतर्लीन हो जाते हैं। अतएव माध्यम के द्वारा ही हम रचनाकार के व्यक्तित्व का अनुसंधान कर सकते हैं। माध्यम रूप में रचनाकार के संवेगों-अनुभवों की ही नहीं उसके प्रशिल्पी-रूप तथा सामाजिक-मानव-रूप की भी अभिव्यंजना होती है। रचना की विषयवस्तु के चुनाव और ट्रीटमेंट में जहाँ रचनाकार के सामाजिक-मानव-रूप और उसकी दृष्टि के दर्शन होते हैं वहीं, रूपाकृतियों की संरचना में उसके प्रशिल्पी-रूप का उद्‌घाटन होता है। वैसे, रचनाकार के व्यक्तित्व पर भौतिक तथा मानवीय पर्यावरण का भी प्रभाव पड़ता है और उसकी अभिव्यंजना केवल वैयक्तिक ही नहीं होती क्योंकि उसके अनुभव नितांत व्यक्तिगत नहीं हो सकते; उसमें उसके समाज तथा वर्ग की धारणाएँ और प्रतिक्रियाएँ भी होती हैं। उसका वर्ग-चरित्र मूल अनुभवों तक को प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से संचालित करता है जिसके कारण उनमें तत्कालीन सामाजिक संबंधों की चेतना और वर्ग-दृष्टिकोण अनिवार्यतः आ जाते हैं। इसलिए रचनाकार की अभिव्यंजना सामाजिक अभिव्यंजना भी होती है जिसकी अंतर्वस्तु वर्ग-चेतना के अनुरूप मूल्यों को धारण करती है। अतः रचनाकार की अभिव्यंजना एक युग, एक संस्कृति तथा एक सामाजिक वर्ग की द्वन्द्वात्मक अभिव्यंजना भी होती है।

रचना और अभिव्यंजना

रचना एक 'अंतिम उत्पाद' के रूप में श्रोता या पाठक तक पहुँचती है। इसकी अभिव्यंजना अनिवार्यतः वह नहीं होती जो रचनाकार चाहता है। रचनाकार की अभिव्यंजना को माध्यम और प्रक्रिया की अभिव्यंजना तो प्रभावित करती ही है एक तय्यार माल के रूप में जब वह उपभोक्ता (पाठक/श्रोता) तक पहुँचती है तब उसका एक स्वतंत्र व्यक्तित्व भी होता

है। हालांकि रचनाकार रचना मे निष्कर्ष-रूप में अपने मंतव्य रखता है लेकिन कई बार कृति का मंतव्य उसके प्रकट मंतव्य से विपरीत जा बैठता है, कई बार रचनाकार अपने मंतव्यो को छुपाता है लेकिन रचना उसके मूल विचारों को उद्घाटित कर देती है या पाठक/श्रोता उन्हें पकड़ लेता है। यह भी आवश्यक नहीं कि रचनाकार अपने पाठक या श्रोता की जिन अनुभूतियो को संवेदित करना चाहता हो रचना उनके बदले किन्हीं अन्य अनुभूतियों को झंकृत कर दे। वास्तव में, रचनाकार और आशंसक का संबंध विशुद्ध व्यावसायिक अर्थो में उत्पादक-उपभोक्ता संबंध नहीं होता न ही रचना एक व्यवसायिक उपभोग्य वस्तु होती है। रचनाकार और आशंसक के बीच एक मनोवैज्ञानिक सांस्कृतिक संबंध होता है तथा दोनो को उनका वर्ग, समाज और युग प्रभावित करते हैं। रचना की अभिव्यंजकता में रचनाकार की अभिव्यंजकता और आशंसक के बोध का स्तर दोनों ही महत्त्वपूर्ण निर्धारक तत्त्व की भूमिका निभाते हैं। अक्सर ऐसा होता है कि एक ही रचना एक ही आशंसक को विभिन्न मनोदशाओ में और विभिन्न आशंसकों को एक ही या विभिन्न कालों में विभिन्न अर्थ प्रदान करती है, उनमें विभिन्न अनुभूतियाँ और संवेदना जगाती है। अतः रचना की अभिव्यंजना का अर्थ एक ओर माध्यम और प्रक्रिया के रूपांतरणों से युक्त रचनाकार की अभिव्यंजना है जिसमें अंतिम उत्पाद के रूप में प्रस्तुत रचना की स्वतंत्र अभिव्यंजना भी सम्मिलित है; दूसरी ओर रचना द्वारा प्रस्तुत भूमिका पर आगामी चिंतन और विचार का आवाहन भी है क्योंकि रचना द्वारा प्रस्तुत विमर्श पाठक/श्रोता के विमर्शों को उत्तेजित करता है तथा अनेकानेक अनुभूतियो और कल्पनाओं की संभावनाएँ जगाता है।

2.1.2. आशंसा और अभिव्यंजना—आशंसक की अभिव्यंजना दो बिंदुओ से जुड़ी होती है—रचनाकार की प्रेषणीयता और स्वयम् आशंसक के अनुभव से। रचना अनुभवों और संवेगों की अभिव्यंजना करती है लेकिन ये अनुभव और संवेग रचना में नहीं होते। रचना सिर्फ़ इनका विमर्श करती है। यदि ये रचना में होते तो एक परिनिष्ठित दशा में सारे आशसकों को समान अभिव्यंजना का बोध होता। इसमें न कुछ भी जोड़ घटना वे पाते। लेकिन ऐसा होता नहीं।

किसी भी रचना में अभिव्यंजना के दो स्तर होते हैं—पहला, ऐंद्रियक तत्त्वों के बोध का और दूसरा, इनके द्वारा उद्बुद्ध विमर्श का। बोध के तत्त्व एक होते हैं फिर भी प्रत्येक आशंसक अपने अभ्यास, रुचि और पृष्ठभूमि के अनुसार इनका ग्रहण करते हैं। विमर्शक तत्त्व अनेक होते हैं और आशंसक अलग-अलग इनकी अनुभूति करता है। विमर्श ही आशंसक के वास्तविक अनुभव का सार हैं और रचना केवल आशंसक की अभिव्यंजना को अनुरंजित करती है, दिशा देती है।

इस प्रकार अभिव्यंजना सिर्फ़ रचना द्वारा संप्रेषित को ही उद्घाटित नहीं करती आशंसक की चेतना का भी विकास करती है और प्रत्यक्षीकरण के माध्यम से आशंसा को रचनाधर्मिता के आयाम प्रदान करती है।

2.2. आशंसक (पाठक/श्रोता)

भारतीय शास्त्रीय परंपरा में आशंसक को सचेतस-सज्ञान, सहृदय, भावक और ग्रहीता कहा गया है। सचेतस आशंसक का वह व्यक्तित्व है जो कला की चेतना से दीप्त है तथा कलाकृति में अभिव्यंजित भावों के ग्रहण में अपनी वैयक्तिक चेतना से नवान्वेषण भी करता है। 'सज्ञान' वह आशंसकी व्यक्तित्व है जो कलाकृति के साथ-साथ कलात्मक परंपराओं का बौद्धिक संधान करके अनुभव और चिंतन को एकीकृत करता है। 'सहृदय' आशंसक का वह व्यक्तित्व है जो कलाकार के मूल अनुभवों को प्राप्त करके उनसे कलाकृति के माध्यम से तादात्म्य का आदर्श समीकरण प्राप्त करता है। यहाँ सहृदय के स्वकीय व्यक्तित्व का तिरोभाव-सा हो जाता है। 'भावक' कृति के सौंदर्य और अपनी कल्पना के संयोग से मनस्तात्विक तृप्ति करता है। इस तरह आशंसक में जहाँ कलात्मक चेतना-संपन्नता और वैयक्तिक चेतना होनी चाहिए, वहीं उसे कलात्मक परंपराओं का बौद्धिक ज्ञान भी होना चाहिए; वह कलाकृति में प्राप्त कलाकार के मूल अनुभवों से निर्वैयक्तिक रूप में तादात्म्य स्थापित करने में भी सक्षम हो और कृति में अपनी कल्पना और चेतना से अर्थ और सौंदर्य के नवीन संधान भी कर सके। संक्षेप में,उसे प्रबुद्ध और ग्रहण-सक्षम-दोनों ही होना चाहिए। साथ ही, उसमें शिक्षा, अध्ययन-

अभ्यास आदि के संयोग से परिष्कार या परिवर्तन की गुंजाइश भी हो।

आशंसक और मूल्यांकनकर्त्ता (आलोचक) मे अंतर किया जाना आवश्यक है। पाठक/श्रोता व्यक्तिगत अभिरुचि और रुझानो के आधार पर रचना का आस्वादन करता है जबकि आलोचक या मूल्यांकनकर्त्ता तर्क और दर्शन के आधार पर कृति का मूल्यांकन करता है और निष्कर्षों तक पहुँचता है। आशंसक की अभिरुचि आत्मगत और आवेशमूलक होती है और तर्क एवं विवेक का इसमें विशेष योगदान नहीं होता। अभिरुचि धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और जलवायवीय परिवर्तनों से प्रभावित होती है। फ़ैशन भी अभिरुचि को बदलता है। अभिरुचि के निर्धारक तत्त्वों में परिचय-अपरिचय का भी महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। हमेशा ऐसा होता है कि पाठको/श्रोताओं की एक पीढ़ी या वर्ग अनुभवो या शैली के एक सीमित दायरे का अभ्यस्त हो जाता है। उस दायरे से बाहर की रचना शुरू में अपरिचय के कारण उसकी अभिरुचि के एकदम बाहर जा पड़ती है लेकिन धीरे-धीरे जब बार-बार वैसी कृतियों से उसका साक्षात्कार होता है तो वह उनसे परिचित होने लगता है और नवीन अनुभव और शैली उसकी अभिरुचि के दायरे में प्रविष्ट होने लगते हैं। शिक्षा, अभ्यास आदि द्वारा भी अभिरुचि में बदलाव आता है। हम क्या पसंद करते हैं हमेशा इस पर निर्भर करता है कि हम क्या जानते हैं? दूसरे शब्दो में, किसी रचना को पसंद या नापसंद करने के लिए उसे समझना पहली शर्त होती है। स्वाभाविक रूप से, जैसे-जैसे हम अपने ज्ञान का क्षेत्र बढ़ाते जाते हैं, नये ढंग की कृतियाँ भी हमारी पसंद के दायरे में आने लगती हैं।

2.3. अर्थ-ग्रहण

रचनाकार और आशंसक के बाद अब प्रश्न उठता है अर्थग्रहण का। किसी लिखित अथवा उच्चरित शब्द के अर्थग्रहण की क्या प्रविधि है?

शब्द मूलत; या तो 'संकेत' (साइन) होते हैं या 'बिंब' और 'प्रतीक' के रूप में भाषा में स्थित होते हैं। इन्हीं संकेतान्वयनों (denotations) और धारणान्वयनों (Conotations) द्वारा हम अर्थ का साक्षात्कार करते हैं, संवेगों और अनुभवों की अभिव्यंजना करते हैं तथा

रचनाकार के अशयों और विश्वासो तक पहुँचते हैं।

शब्द या तो उच्चरित होगा या लिखित और श्रव्य अथवा पठित रूप मे श्रोता/पाठक को प्राप्त होगा। प्रथमतः, शब्द बिंब की रचना करता है। यह बिंब श्रव्य या दृश्य हो सकताहै जो इंद्रियगम्य होता है और इसे संकेत माना जाता है। यह बोध कराता है और यह बोधकता ज्ञानेद्रियों से सिद्ध होती है। इसे अभिधा–वाचकता कह सकते हैं। लेकिन अभिधा–वाचकता के साथ ही मन की अवस्था के कारण इसमे अतींद्रिय और काल्पनिक भाव भी आ जुड़ते हैं, जिससे इसमे प्रतीकात्मकता भी सम्मिलित हो जाती है। बोधकता शब्द को नियत अर्थ देती है, लेकिन शब्द के अन्य अर्थ भी हो सकते हैं जो कि प्रयोग की स्थितियो पर निर्भर करते हैं। यह अर्थान्वयन धारणधर्मी (conotation) या विमर्शधर्मी (suggestion) हो सकताहै जिसे काव्यशास्त्र की भाषा में 'लक्षणा' और 'व्यंजना' कहते हैं।

शब्द साहचर्यमूलक बिंब की रचना करते हैं जिनमें हम अनुपस्थित को उपस्थित करते हैं, यानी अभिज्ञान और प्रत्याह्वान (recognition & recall) करते हैं। ये बिंब रचनाकार के प्रतिनिवेदन पर आधारित होते हैं। इस प्रकार साहचर्य और प्रतिनिवेदन मिलकर अर्थ को बोधकता प्रदान करते हैं। मीन जैसे, कमल जैसे और मृगी जैसे नेत्र व्याकुलता, अरुणाई और चंचलता का बोध कराते हैं। आमतौर से शब्द एक अर्थ के स्थान पर अर्थ-परिवार को अभिव्यक्त करते हैं और किसी शब्द का अर्थ भाषा में उसके प्रयोग पर निर्भर करता है।

शब्द का अर्थ एक आरंभिक ऐंद्रिय-संकेत से शुरू होता है लेकिन प्रयोग के अनुरूप उसका दायरा बढ़ता जाता है। राम को जब 'रघुकुल-तिलक' या 'रघुकुल-सूर्य' कहा जाता है तो 'तिलक' या 'सूर्य' का अर्थ उसके ऐंद्रीय-संकेत से कहीं विस्तृत शोभा या गौरव की अवधारणा से संयुक्त हो जाता है। यहाँ हम वस्तु 'सूर्य' का प्रत्यक्षीकरण न करके उसकी अवधारणा ग्रहण करते हैं।

शब्द का एक तीसरा अर्थ भी होता है लेकिन कल्पना और साहचर्य द्वारा इसका अनुसंधान या अन्वेषण करना पड़ता है। यहाँ हम व्याख्या, चिंतन और अनुभव को सादृश्य–संबंध के द्वारा प्रतीकों का रूप प्रदान करते हैं। यह शब्द का व्यंजक गुण है और यहाँ अर्थ

के ज्ञान से परे अर्थ की मानवीय अभिव्यंजना का अन्वयन होता है। इसमें हम अपने अनुभवों के आधार पर शब्द की प्रतिनिवेदनात्मक अभिव्यक्ति के बदले उसके प्रतीकात्मक मंतव्य की अभिव्यंजना करते हैं क्योकि प्रतीक अर्थक से अधिक विमर्शक होते हैं। प्रतीको तक आकर शब्द का अर्थ क्षीण होने लगता है और अनुभूतियो का उद्बोधन होने लगता है।

इस प्रकार शब्द के तीन अर्थ होते हैं—सूचकता और वाचकता आधृत (denotation), धारणा–आधारित (conotation) और विमर्श-आधारित (Suggestion)। सकेत जहाँ स्पष्ट और ठोस अर्थ वाले होते हैं, धारणा कुछ धुंधली होती है और प्रतीक तक आते-आते अमूर्तीकरण का प्रवेश होने लगता है।

2.3.1 **अर्थग्रहण और माध्यम का हस्तक्षेप** रचना और आशंसा एक ही रचनात्मक प्रक्रिया के दो छोर हैं। एक ही कृति दो प्रकार की रचनाएँ—पहले प्रकार की रचनाकार द्वारा और दूसरे प्रकार की आशंसक द्वारा इस मूल रचना की पुनर्रचना होती है। लेकिन कृति की इन दो प्रकार की रचनाओं के बीच माध्यम की बहुत बड़ी भूमिका होती है। जहाँ रचनाकार माध्यम, तकनीक, यंत्र और औज़ार आदि की मदद से कलाकृति को मूर्त रूप में प्रस्तुत करता है वही आशंसक को रचना की तकनीकी बरीक़ियों में नहीं उलझना पड़ता। जबकि रचनाकार के मूल अनुभव, विचार और कल्पनाएँ जब माध्यम के संपर्क में आते हैं तो उन्हें माध्यम की जटिल तकनीकों की चुनौती का सामना करना पड़ता है। परिणामस्वरूप भाव, विचार और कल्पना में कई संशोधन-परिवर्तन-परिवर्द्धन होते हैं। कभी-बेहद प्रीतिकर विचार या भाव माध्यम में ढलने पर असंतोषजनक हो जाते हैं और कभी धुंधले और अस्पष्ट भाव उचित माध्यम का संस्पर्श पाते ही अद्भुत रूप से विकसित होने लगते हैं। एक ही भाव या विचार, पत्थर पर छेनी-हथौड़ी द्वारा कैनवस पर रंग-कूँची द्वारा और काग़ज़ पर शब्दों द्वारा मूर्तिमान करने पर आशंसक को बिल्कुल एक और समान तीव्रता से अर्थबोध नहीं कराएँगे। आशंसक की पुनर्रचना चूँकि अनिवार्यतः भौतिक कृति पर आश्रित होती है और

रचनाकार के सृजन-क्षणो और रचना प्रक्रिया एवं माध्यम के प्रभावो से उसका कोई सरोकार नही होता अतः वह रचनाकार के भावों और संवेगो का शत-प्रतिशत साक्षात्कार नही कर सकता।

2.3.2 **साहचर्य और अर्थ-ग्रहण** : किसी रचना के अर्थ-ग्रहण मे साहचर्यों यानी अतीत तथा वर्तमान के अनुभवों का महत्त्वपूर्ण अवदान होता है। साहचर्य के मुख्य आधार स्मृति तथा कल्पनात्मक प्रत्याह्वान (imaginative recall) हैं। 'स्मृति' में अनुभवो का अभिज्ञान (recognition), प्रत्याह्वान (recall), पुनः सीखना (relearning) और स्मरण (remembering) इत्यादि क्रियाएँ आती हैं। कल्पनात्मक प्रत्याह्वान में स्मृति में कल्पना का भी योगदान होता है। ये मूल वस्तु के प्रत्यक्षीकरण को प्रचुरता देते हैं।

साहचर्य कृतिसंभूत और जीवन संभूत-दोनों प्रकार के होते हैं और अर्थबोध में दोनों का योगदान होता है। एक ही रचना से बार-बार गुज़रना उसके तत्त्वों से अधिकाधिक परिचय कराता है और पिछले अनुभवो का प्रत्याह्वान अर्थ को बहुआयामी तथा बहुस्तरीय बनाता है। जीवन–संभूत स्मरण और प्रत्याह्वान के द्वारा आशंसक कृति का वैयक्तीकृत ढंग से प्रत्यक्षीकरण करता है।

2.3.3 **बिंब और अर्थग्रहण** : सारे शब्द अपने मौलिक रूप में ऐन्द्रिय तथा मूर्त होते हैं। प्रत्येक शब्द अपने-आप में एक रूपक (Metapher) होता है। कालांतर में शब्दों का यह बिंबाधायक रूप विस्मृत या विलुप्त हो जाता है और शब्द मात्र सूचनात्मक चिह्न या संज्ञा रह जाते हैं। व्यावहारिक और कल्पनात्मक प्रयोग के आधार पर शब्दों (समूह रूप में भाषा) के यही दो रूप होते हैं—वैज्ञानिक तथा संवेगात्मक (imotive)। वैज्ञानिक या व्यावहारिक प्रयोग के शब्द-रूप आम बोलचाल अथवा सूचनात्मक आदान-प्रदान के उपयोग में आते हैं और शब्दों का संवेगात्मक प्रयोग भावों तथा संवेदनाओं को जगाने के लिए होता है। सामान्य व्यवहार और अमूर्त चिंतन (दर्शन, विज्ञान, समाज-विज्ञान आदि) की भाषा

प्रतीकात्मक (symbolic) होती है जबकि काव्य एवं शब्दों का उपयोग करने वाले कला-माध्यमो की भाषा का काम सिर्फ़ सांकेतिक अथवा प्रतीकात्मक शब्दों से नहीं चलता। उनका ऐंद्रिय और चित्रात्मक होना आवश्यक है। व्यवहार और विज्ञान की भाषा का काम एक नियत अर्थ का बोध कराना होता है जबकि कवि-कलाकार की भाषा कहीं अधिक गहरी और अनेकानेक अर्थों की व्यंजना करती है। कला-माध्यमों में हम सिर्फ़ अर्थ-ग्रहण ही नहीं करते, प्रमुखता उस अर्थ तक पहुँचने की ऐंद्रिय-प्रक्रिया की होती है जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श, आस्वाद—सबकी भूमिका होती है। अगर यहाँ 'फल' का ज़िक्र होगा तो वह अनाम-अरूप सामान्य फल न होकर एक विशेष देश-काल नाम-रंग-रूप-गंध-स्वाद वाला फल होगा। साहित्य में लिखित और रेडियो माध्यम में उच्चरित शब्द का संबंध शब्द के इसी प्रयोग से है जैसा कि शब्द का उपयोग करने वाले हर कला-माध्यम में होता है, चाहे वह साहित्य हो, ख़ासतौर से कविता अथवा रेडियो।

शब्द मूल रूप में ऐंद्रिय अनुभव पर आधारित होते हैं लेकिन सभ्यता के विकास के साथ-साथ भाषा के विकास की दिशा ऐंद्रिय अनुभव से सूक्ष्म बौद्धिक विचारों की ओर गतिशील हो जाती है। फलस्वरूप, व्यवहारिक और वैज्ञानिक उपयोग शब्दों को एक पारिभाषिक निश्चितता प्रदान कर देते हैं; शब्द का मूल ऐंद्रिय रूप समाप्त हो जाता है और वह किसी सार्वभौमिक तथ्य या अमूर्त विचार का सूचक बनकर रह जाता है। उदाहरणतः, 'प्रवीण' और 'कुशल' जैसे शब्द मूलतः वीणा-वादन और कुश चुनने की योग्यता से संबंधित थे लेकिन कालांतर में किसी भी कार्य की निपुणता के अर्थ में रूढ़ हो गये। इस प्रकार उनकी मूल चित्रात्मक शक्ति और व्यंजनाक्षमता में परिवर्तन हो गया। परन्तु शब्द का कलात्मक व्यापार उसके ठेठ अभिधात्मक रूप से नहीं चलता। यहाँ शब्दों का इस्तेमाल कच्चे माल की तरह पाठक/श्रोता की संवेदनाओं को झंकृत करने के लिए होता है और उसके लिए अनिवार्य होता है कि शब्द बिंबों की रचना करें।

हर भाषा ऐसे शब्दों से भरी होती है जो कालांतर में अपनी मूल ऐंद्रिय चित्रात्मक-

शक्ति, अपने रूपक से विच्छिन्न होकर मात्र सूचनात्मक चिह्न बनकर रह जाते हैं, जिन्हें मृत रूपक कहा जाता है। कला-माध्यम में इन प्राथमिक (radical) रूपकों को एक नये स्तर पर पुनर्जीवित करना होता है, जिससे ये अमूर्त विचारों की परिधि से बाहर जाकर ठोस वस्तु से आशंसक का साक्षात्कार करा सके। इसके लिए बिब-निर्माण की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि बिंब उसके स्मृति-बोध को तीव्र करता है, अतीत की संवेदनात्मक अनुभूति की अनुगूँज अथवा अवचेतन से मानसिक धरातल पर कल्पना की एक कौंध उत्पन्न कर देता है।

'मनुष्य का सम्पूर्ण भाव-व्यापार और चिंतन-क्रिया, किसी-न-किसी रूप में, बिंब से अनिवार्यतः संबद्ध होती है। हमारे पास यथार्थ को जानने का एकमात्र सुलभ साधन ऐंद्रिय संवेदन है। मन के स्तर पर प्रत्येक बाह्य संवेदन दृश्य अथवा अनुभवगम्य बिंब के रूप में परिवर्तित हो जाता है। दर्शन के क्षेत्र मे जिसे अमूर्त अथवा शुद्ध चिंतन कहते हैं उसका आधार भी बिंब ही होता है।'[1] यह ऐद्रिय-संवेदन कलात्मक संप्रेषण के दोनों छोरों पर होती है। जहाँ रचनाकार किसी अनुभव, विचार या संवेग को ऐंद्रिय-बिंब निर्माण में सक्षम शब्दों में ढालता है वहीं आशंसक भी शब्दो को उनके बिंब-रूप में ही ग्रहण करता है।

2.3.4 बिंब : अर्थ और परिभाषा—प्रारंभ में बिंब को सिर्फ़ 'दृश्यता' में ग्रहण किया जाता था, परन्तु अद्यतन कला और साहित्य में वह दृश्य, श्रव्य, घ्रातव्य, स्पृश्य, आस्वाद्य और अनुमेय-सबको अंतर्भुक्त करता है। वह अब आँख का नहीं, कल्पना का विषय है। उसका बोध इंद्रियों के किसी भी स्तर पर हो सकता है। वह सब कुछ जिसका प्रत्यक्षीकरण हम किसी इंद्रिय के द्वारा करते हैं, बिंब हो सकता है। कह सकते हैं कि 'ऐंद्रियता बिंब की प्रथम और अंतिम कसौटी है।'[2]

विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर डॉ॰ नगेंद्र ने बिंब के विषय में निम्नलिखित धारणाएँ प्रस्तुत की हैं—[3]

---

1. आधुनिक हिन्दी कविता में बिंब-विधान—डॉ॰ केदारनाथ सिंह—पृ॰ 46
2 वही—पृ॰ 21
3. काव्य-बिंब—डॉ॰ नगेन्द्र—पृ॰ 5

(i) बिंब पदार्थ नही है वरन् उसकी प्रतिकृति या प्रतिच्छवि है। मूल सृष्टि नहीं, पुनः-सृष्टि है।

(ii) बिंब एक प्रकार का चित्र है जो किसी पदार्थ के साथ विभिन्न इंद्रियों के सन्निकर्ष से प्रमाता के चित्त में उद्‌बुद्ध हो जाता है।

(iii) पदार्थ के साथ हमारी इंद्रियों का सन्निकर्ष प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में होता है—प्रत्यक्ष सन्निकर्ष मे इंद्रियों की क्रिया मुख्य रहती है, परोक्ष सन्निकर्ष में कल्पना का योगदान प्रमुख हो जाता है, यद्यपि इंद्रियाँ भी गौण रूप से सक्रिय रहती हैं।

(iv) बिंब का मूल विषय मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार का हो सकता है अर्थात् पदार्थ का भी बिंब हो सकता है और गुण का भी। किन्तु उसका अपना रूप मूर्त ही होता है। अमूर्त बिंब नहीं होता; जिन बिंबों को अमूर्त माना जाता है वे अचाक्षुष होते हैं, अगोचर नहीं।

(v) काव्य बिंब (अन्य कला बिंब भी) उद्दीपक पदार्थ की अनुपस्थिति में कल्पना के द्वारा उद्‌बुद्ध होते हैं, इनमें ऐंद्रिय-तत्त्व परोक्ष रूप से विद्यमान रहता है।

संक्षेप में, 'बिंब वह शब्दचित्र है जो कल्पना के द्वारा ऐंद्रिय अनुभवों के आधार पर निर्मित होता है।'[1]

स्पष्ट है कि बिंब अपनी ध्वनियों और संकेतों से भाषा को अधिक संवेदनशील और पारदर्शी बनाता है। उसका आधार कोषगत अर्थ नहीं, सम्पूर्ण जीवन और इतिहास होता है। बिंब संदर्भों से सीधे जुड़ता है क्योंकि वह यथार्थ का सार्थक टुकड़ा होता है। यह भाषा को संघनित और व्यंजना-सम्पन्न करना है। बिंब जब भी आता है, किसी गहरे विचार या जीवन-दृष्टि का संवाहक बनकर आता है। श्रेष्ठ बिंब जीवन के प्रत्यक्षात्मक तथा धरणात्मक दोनों ही गुणों से संयुक्त होता है। वह सिर्फ़ यथार्थ के स्थूल पक्षों का ही, जिनकी व्याप्ति प्रत्यक्ष इंद्रिय-

---

1. आधुनिक हिन्दी कविता में बिंब-विधान—डॉ॰ केदारनाथ सिंह—पृ॰ 23

ग्राह्य वस्तुओं तक ही होती है, उद्घाटन करके नहीं रह जाता, बल्कि यथार्थ के पार या परे देखने की कल्पना और विचार-शक्ति को भी उद्बुद्ध करता है।

बिंब के प्रकार : चूँकि बिंब प्रमुखतः ऐंद्रिय होते हैं अतः, ऐंद्रियता के आधार पर दृश्य, श्रव्य या नादात्मक, स्पर्श, गंध और आस्वाद्य बिंबों के भेद किये जा सकते हैं। हरीतिमा, गड़गड़ाहट, मखमली, सुगंध, मीठा आदि शब्द क्रमशः इन प्रकारो के सहज उदाहरण हैं। लेकिन इनका साहचर्य भी चलता रहता है। 'रूप' मधुर, 'स्वर' कठोर और 'व्यंजन' कोमल हो सकता है।

बिंब स्मृति या कल्पना पर आधारित भी हो सकते हैं। इन्हे स्मृत और कल्पित बिंब कहते हैं। अनुभूति के आधार पर सरल, मिश्र, जटिल, खंडित या विकीर्ण आदि प्रकार हो सकते हैं।

रचना की दृष्टि से बिंबों को हम एकल और संश्लिष्ट प्रकार मे बाँट सकते हैं। कथावस्तु के हिसाब से घटना बिंब, प्रकरण बिंब आदि विभाजन भी हो सकते हैं क्योकि प्रत्येक घटना की अभिव्यक्ति और अनुभूति बिंब रूप में ही होती है।

काव्य-दृष्टि को आधार बनाकर बिंबों के वस्तुपरक अथवा यथार्थ और रोमानी अथवा स्वच्छन्द के भेद भी किये गये हैं और मनोविज्ञान के आधार पर स्वप्न-बिंब और आद्य-बिंब के भेद भी। फ्रायड के अनुसार,[1] अवचेतन मानव-मन समस्त कल्पनाओं की गंगोत्री है। वहीं से बिंब की सृष्टि होती है। युंग के अनुसार,[2] मनुष्य अपने मन के अचेतन-स्तर में अपने अतीत के अंशों को अनवरत संजोये रखता है और इस अवचेतन का ढाँचा मानवमात्र में एक समान होता है। मिथक और आदिम बिंब (Archetypal image) इसी सामूहिक अवचेतन की अभिव्यक्तियाँ हैं जिनके विषय प्रत्येक में देश पुनर्जन्म, युद्ध, प्रेम, घृणा, मृत्यु आदि होते हैं। जादू-टोना, धार्मिक संस्कार, दंतकथाओं तथा पुराणों में स्थित

---

1. फ्रायड-मनोविश्लेषण, अनु0- देवेंद्र कुमार वेदालंकार, पृ. 129
2. साइकॉलॉजिकल टाइप्स—सी. जी. युंग, अनुवाद एच. जी. बायनेस—पृ. 476

वृक्ष, सूर्य, समुद्र, पर्वत, सिंह, मत्स्य, अग्नि, नक्षत्र, आकाश, जलप्लावन आदि के बिंब सामूहिक अवचेतन की परतों के नीचे दबे इन आदिम अनुषंगों, इन प्रागैतिहासिक स्मृति-बिंबो के एक विशाल कोष का हिस्सा हैं। स्वप्न और आद्य बिंबो की बहुत हद तक बौद्धिक व्याख्या नहीं हो सकती। एक सीमा तक इनकी प्रतीकात्मकता को ही पकड़ा जा सकता है।

अंततः प्रज्ञात्मक और भावात्मक बिंब के भेद भी हो सकते हैं। 'परन्तु बौद्धिक या प्रज्ञात्मक बिंब वास्तव मे धारणा-रूप होते हैं और धारणाबिंब नही होती। क्रोचे ने बिंब और धारणा को आत्मा की दो भिन्न उपक्रियाओं की सृष्टि माना है। उनके अनुसार, आत्मा की मूलतः दो क्रियाएँ होती हैं—व्यवहारिक तथा विचारात्मक। विचारात्मक क्रिया के भी दो भेद होते हैं—सहजानुभूति और प्रज्ञा। सहजानुभूति बिंबों का उत्पादन करती है और प्रज्ञा प्रत्ययो या धारणाओं का। बिंब कारूप विशेष होता है और धारणा का सामान्य। बिंब का विषय पदार्थ होता है और धारणा का विषय होता है पदार्थों का संबंध। अतः धारणा प्रायः बिंब का विपरीतार्थक शब्द है। ऐसी स्थिति में धारणा के बिंब अथवा प्रज्ञात्मक बिंब की प्रकल्पना अधिक संगत नहीं हो सकती। न्याय, पाप, पुण्य, सत्य, अहिंसा, क्षमा आदि धारणा भौतिक कर्म अथवा घटना पर आरूढ़ होकर उसी की पर्याय बन जाती हैं जैसे कि न्याय या पाप विचार रूप में बिंबहीन है परन्तु कर्म-रूप मे वह बिंबात्मक बन जाता है।[1] इसी प्रकार पीड़ा, संशय वासना, लालसा, क्रोध आदि भावों में धारणा की अपेक्षा ऐंद्रिय तत्त्व अधिक होते हैं, लेकिन इनके बिंब इनसे संबद्ध ऐंद्रिय-मानसिक क्रियाओं के बिंबों के रूप में ही उपस्थित होते हैं।

2.3.5 **बिंब-ग्रहण की प्रक्रिया** : बिंब-ग्रहण की प्रक्रिया निम्नलिखित दो प्रक्रमों से होकर गुज़रती है :—

1. **ऐन्द्रिय-सन्निकर्षण**—जब किसी वस्तु का इंद्रियों से सन्निकर्षण होता है तो चेतना के सबसे ऊपरी सतह पर ऐंद्रिय संवेदना [illegible] होती है। यह इंद्रियबोध

1. काव्य-बिंब : डॉ॰ नगेंद्र—पृ॰ 15

केवल वस्तु का स्थूल परिचय होता है और इस प्रतिबिब का संबंध वस्तु से अपरोक्ष रूप से बना रहता है।

2. **प्रत्यक्षीकरण**—यह ऐद्रियबोध का अगला चरण है जहाँ वस्तु का ऐद्रिय प्रतिबिंब पूर्ण मानसिक बिंब के रूप में उपलब्ध हो जाता है। ऐद्रिय-बोध का जब अर्थ के साथ संबंध हो जाता है तो उसे प्रत्यक्षीकरण कहते हैं। हमारे सामने किसी वस्तु के आते ही हमें उसके विभिन्न गुणो का एक साथ अनुभव होना ही उसका अर्थ कहलाता है। इस प्रत्यक्षीकरण मे हमारी संचित स्मृतियों और ज्ञान का काफ़ी योगदान रहता है।

प्रत्यक्षीकरण की क्रिया में बेहद दिलचस्प बात यह है कि हम वस्तु के किसी विशेष गुण का ही प्रत्यक्षीकरण करते हैं। प्रत्यक्षीकरण जब भी होता है 'विशेष' का होता है, 'सामान्य' का केवल ज्ञान हो सकता है। उदाहरणतः रंग निश्चित रूप से लाल, नीला, पीला आदि में से एक होगा, गंध मृदु-कटु, तीव्र या मंद होगी; स्पर्श ठंडा-गर्म, कोमल या कठोर होगा।

एक बात और ध्यान रखने की है कि एक सामान्य व्यक्ति के प्रत्यक्षीकरण और रचनाकार के प्रत्यक्षीकरण में मौलिक अंतर होता है। रचनाकार के देखने में अन्वेषण और उद्घाटन की प्रवृत्ति होती है; वह द्रष्टा ही नहीं स्रष्टा रूप में भी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करता है। प्रत्यक्षीकरण उसके लिए विशुद्ध नैसर्गिक और आदिम क्रिया और उसका मानसिक प्रतिफलन ही नहीं है। प्रत्यक्षीकरण रचनाकार के लिए वस्तु को उसके प्रतीकात्मक अर्थों में पकड़ने की क्रिया है।

इसके बाद बिंब क्षीण होने लगते हैं और निम्नलिखित दो चरणो की ओर चेतना अग्रसर होने लगती है :—

(i) अभिमत—अभिमत में चेतना इंद्रिय-संवेदित किसी एक वस्तु तक सीमित नहीं रहती बल्कि उस प्रकार की विभिन्न वस्तुओं के गुणों का समाहार करती है। अभिमत

में सामान्यीकरण की प्रवृत्ति होती है और यह ऐंद्रिय/वस्तुगत अनुभव तथा सूक्ष्म/अमूर्त धारणा के बीच का प्रक्रम है।

(ii) धारणा—धारणा तक आते-आते ऐंद्रिय अनुभव समाप्त हो जाता है और इंद्रिय-संवेदित वस्तु का ज्ञान एक अमूर्त भाव या विचार के रूप मे रह जाता है। धारणा चेतना की वास्तविक प्रतिबिंब से पूर्णतः विच्छिन्न एक विश्लेषणात्मक स्थिति है। जहाँ ऐंद्रिय-बोध और प्रत्यक्षीकरण में संश्लेषण की प्रवृत्ति होती है और इसका पर्यवसान भाव अथवा अनुभूति में होता है वहीं धारणा में विश्लेषण की प्रवृत्ति होती है और यह ज्ञान और तर्क मे परिणति पाता है।

2.3.6 **बिंब-रचना-प्रक्रिया के सोपान :** अपनी रचना-प्रक्रिया मे बिंब निम्नलिखित सोपानो से गुज़रता है :—

(i) **निर्वैयक्तिक संवेदना**—बिंब रचनाकार की अनुभूति से आते हैं और ये अनुभूतियाँ जीवन और परिवेश से आती हैं। जीवन एकान्त आंतरिक भी होता है और उसके बाह्य सामाजिक संबंध भी होते हैं। परिवेश भी देश-काल में बँटा होता है और इन सीमाओं को आक्रांत कर अनुभूति को प्रभावित करता है। बिंब-निर्माण में अनुभूति की ये सारी जटिलताएँ अहम भूमिका निभाती हैं। बिंब की उत्पत्ति सर्वप्रथम मन में होती है लेकिन एक सृजन-प्रक्रिया से परिष्कृत होकर वह कला की श्रेणी में पहुँचता है। मानव-मन में प्रथमतः संवेग आते हैं और वे व्यक्तिगत रुचि-अरुचि, प्रेम-घृणा आदि भावों मे संपृक्त होते हैं। इन संवेगों को अनुभूति में ढालना पड़ता है जो कि संवेग की आत्मा-परकता के बरक्स वस्तुपरक और अनिवार्यतः व्यक्तिगत प्रेम-घृणादि से असंपृक्त और यथार्थोन्मुख होती है। अनुभूति का संकेत हमेशा किसी बाह्य यथार्थ की ओर होता है। दूसरे शब्दों में, 'स्वगत अनुभूति भोग

का विषय है और भोग निष्क्रिय होता है—वह सर्जना नहीं कर सकता। सर्जना के लिए आवश्यक है कि अनुभूति की भोगावस्था समाप्त होकर वह संस्कार बन जाय, तभी उसके आधार पर बिंब-निर्माण हो सकता है। संस्कार बन जाने के बाद फिर इस अनुभूति का व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त होना आवश्यक है क्योकि जब तक अनुभूति व्यक्ति अथवा विषयी का अभिन्न अंश रहेगी, उससे पृथक विषयभूत नहीं बनेगी। विषय बनने के लिए उसे आत्मतत्त्व से पृथक होना पड़ेगा और यह कार्य निर्वैयक्तीकरण की प्रक्रिया से सम्पन्न होता है। निर्वैयक्तीकरण कल्पना या भावन के व्यापार द्वारा सिद्ध होता है—यह साधारणीकरण व्यापार का ही अंग है। इसकी सिद्धि आत्म-तत्त्व से असंपृक्त उपकरणों के प्रयोग, जिनमें हमारी अहंता लिप्त नहीं है और जो हमारी वासना के विषय न होकर तटस्थ अनुभव के विषय हैं अथवा अपने व्यक्तित्व से स्वतंत्र व्यक्तियों अथवा पदार्थों पर अनुभूति के आरोपण से होती है।'[1]

(ii) **स्मृति**—स्मृति से ही सारे बिंबों की उत्पत्ति होती है। जीवन-एकांत आंतरिक और बाह्य सामाजिक संबंधों से आबद्ध तथा परिवेश-देश और काल के समस्त प्रभावों से युक्त, रचनाकार की चेतना में स्मृति-रूप में ही रहता है। लेकिन, रचना में आने से पूर्व स्मृतियों को एक मानसिक प्रक्रिया से छन कर आना पड़ता है। संचयित और संरक्षित स्मृतियो का स्वरूप भी जब तक निर्वैयक्तिक नहीं हो जाता, रचनाकार के व्यक्तिगत संबंधों और स्मृति-मोह से अलग और निर्लिप्त एक वस्तुगत अवस्था में नहीं पहुँच जाता तब तक उसमें वह प्रतीकात्मकता नहीं आ पाती जिनसे बिंबात्मक-ढाँचा निर्मित होता है।

---

1 काव्य-बिंब—डॉ॰ नगेंद्र—पृ॰ 50

इसके लिए 'सृष्टिविधायिनी कल्पना' और 'जागरूक अंतदृष्टि'[1] की आवश्यकता होती है।

निष्कर्षतः, निर्वैयक्तिकता वह आधार भूमि है जिस पर खड़ी होकर संवेदनाएँ और स्मृतियाँ बिंब-निर्माण की क्षमता प्राप्त करती हैं।

बिंब-रचना में इसके अलावा अन्य दो चीज़ें बेहद महत्त्वपूर्ण हैं—संश्लिष्टता और प्रभाव की समग्रता। बिंब-रचना को दो लक्ष्य सिद्ध करने होते हैं। पहला, वह रचनाकार के कथ्य को प्रभावशाली ढंग से संप्रेषित करने में सहायक बने और दूसरा, कथ्य की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि और बाह्य परिवेश से अधिकाधिक संश्लिष्ट हो। दूसरे शब्दो में, अनुभूति को व्यंजित करने वाले विभिन्न क्षेत्रों से लिये गये बिंबों में एक आनुषंगिक संबंध हो।

2.3.7 आशंसक और बिंब-ग्रहण—रचनाकार के स्तर पर बिंब-निर्माण की प्रक्रिया के बाद आशंसक के छोर पर बिंब-ग्रहण का प्रश्न आता है। दूसरे शब्दों में, जब आशंसक (पाठक/श्रोता) किसी रचना से गुज़रता हुआ उसके बिंबों के समक्ष पहुँचता है तो उसके भीतर क्या प्रतिक्रिया होती है? उसके द्वारा बिंब-ग्रहण और बिंब से वस्तु तक की यात्रा की क्या प्रविधि है? आशंसक द्वारा बिंब-ग्रहण की प्रक्रिया अथवा बिंब की प्रेषणीयता के महत्त्वपूर्ण बिन्दु इस प्रकार हैं—

(i) **आशंसक की ग्रहण-क्षमता** का प्रश्न बिंब की प्रेषणीयता में रचनाकार की सफल बिंब निर्माण-क्षमता के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण है। हर व्यक्ति में बिंब की ग्रहण-क्षमता एक समान नहीं होती। इतना ही नहीं, यह क्षमता विभिन्न इंद्रियों के संदर्भ में भी परिवर्तनशील होती है। कई आशंसक दृश्य-बिंब ग्रहण नहीं कर पाते लेकिन नाद-बिंबों को पकड़ने की उनमें अद्‌भुत क्षमता होती है।

---

1. आधुनिक हिन्दी कविता में बिंब-विधान—पृ॰ 81-82

आशंसक की ग्रहण-क्षमता अनिवार्यतः उसकी **संवेदनशीलता, कल्पनाशीलता और उसके स्मृति-कोष पर** निर्भर करती है। आशंसक की संवेदनतंत्रियाँ जितनी सुगमता और जितनी तीव्रता से झंकृत हो सकती होगी उसकी बिंब-ग्रहण-क्षमता उतनी ही अधिक होगी।

कल्पना की उर्वरता ग्रहणशीलता में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती है। कल्पनाशक्ति से वंचित व्यक्ति सरल से सरल बिंब तक नहीं पहुँच सकता, क्योंकि आशंसक बिब का साक्षात्कार नहीं, अपने स्तर पर उसका पुनः निर्माण करता है।

बिंब-ग्रहण मे **स्मृति-कोष** का भी अनन्य महत्त्व है। जिस आशंसक का स्मृति-भंडार जितना ही समृद्ध, जितना ही विशाल होगा, वह बिंब-ग्रहण में उतना ही सक्षम होगा क्योकि स्मृति और कल्पना के ही सहारे वह रचनाकार द्वारा निर्मित बिंब का पुनर्निर्माण करता है।

आशंसक के **अनुभव और संस्कार** भी उसके द्वारा बिंब-ग्रहण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। रचनाकार द्वारा निर्मित बिंब तभी सफल माना जाता है जब उसका पूर्ण संप्रेषण हो सके। अर्थात्, उसका बिंब आशंसक की कल्पना में समरूप बिंब की सृष्टि करे। लेकिन आशंसक का मस्तिष्क कोई कोरी स्लेट नहीं होता। उसमें बहुविध अनुभव और संस्कार होते हैं और इसकी आशंका हमेशा बनी रहती है कि रचनाकार के अनुभव से विपरीत होने पर वह इस सामंजस्य की प्रक्रिया में अवरोध उत्पन्न करे और अभीष्ट प्रतिक्रिया न होने दे। एक श्रद्धालु कर्मकांडी हिन्दू रचनाकार गोबर या गोमूत्र का प्रयोग परम पवित्र और पावनकारी वस्तु के रूप में कर सकता है लेकिन इसकी प्रबल आशंका रहेगी कि एक आधुनिक मस्तिष्क के आशंसक में यह घोर वितृष्णा उत्पन्न करने वाला अनुभव जगा दे।

(ii) **प्रत्यक्षीकरण**—बिंब मूर्त्त होता है और उसका ग्रहण हमेशा प्रत्यक्षीकरण के आधार पर होता है। 'मन के भीतर रूप-विधान दो तरह का होता है। या तो यह कभी प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओं का ज्यों-का-त्यों प्रतिबिंब होता है अथवा

प्रत्यक्ष देखे हुए पदार्थों के रूप-रंग, गति आदि के आधार पर खड़ा किया हुआ नया वस्तु-व्यापार-विधान। प्रथम प्रकार की आभ्यंतर रूप-प्रतीति स्मृति कहलाती है और द्वितीय प्रकार की रूपयोजना या मूर्ति-विधान को कल्पना कहते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनो प्रकार के भीतरी रूपविधानों के मूल हैं प्रत्यक्ष अनुभव किये हुये बाहरी रूपविधान।'[1] दूसरे शब्दों में, आशंसक बिंब-ग्रहण चाहे स्मृति के आधार पर करे या, कल्पना के आधार, पर प्रक्रिया प्रत्यक्षीकरण की ही होती है। लेकिन प्रत्यक्ष का अभिप्राय केवल चाक्षुष ज्ञान नहीं है। रूप शब्द के भीतर शब्द, गंध, रस और स्पर्श भी समझ लेना चाहिए।[2] 'बिंब अनुभूति की मूर्त्तन-क्रिया का अंग है—मनोगोचर को इंद्रिय-गोचर बनाने का साधन'[3], अतः, इसे केवल एक इंद्रिय नेत्र तक ही सीमित कर देना ठीक नहीं।

संक्षेप में, आशंसक के समक्ष कोई बिंब उपस्थित होता है और उसकी वस्तु के रूप, स्पर्श, स्वाद, गंध या नाद तक पहुँचने का उसके पास एक ही रास्ता होता है—कभी उनके किये गये प्रत्यक्ष अनुभव की स्मृति या उस प्रत्यक्ष अनुभव की स्मृति के आधार पर उनकी कल्पना।

(iii) **साधारणीकरण**—किसी रचना के चरित्र और उसके कार्यकलापों एवं स्थितियों का रसात्मक बोध आशंसक को साधारणीकरण की प्रक्रिया द्वारा होता है। 'साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि किसी काव्य में वर्णित आलंबन केवल भाव की व्यंजना करने वाले पात्र (आश्रय) का ही आलंबन नहीं रहता बल्कि पाठक या श्रोता का भी—एक ही नहीं अनेक पाठकों और श्रोताओं का भी

---

1. रस मीमांसा—आचार्य रामचंद्र शुक्ल—पृ॰ 211
1. वही—पृ॰ 213,
2. काव्य-बिंब—डॉ॰ नगेन्द्र—पृ॰ 17

आलंबन हो जाता है।......जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नही लाया जाता कि उस काव्य को पढ़ने या सुनने वाले सहस्रों मनुष्य करुणा, रति, क्रोध, आदि उन्हीं भावों और सौंदर्य, रहस्य आदि भावनाओ का अनुभव कर सकें तक तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना साधारणीकरण कहलाता है।'[1] पुनः, 'आलंबन उन सब वस्तुओ और व्यापारों को सम्मिलित करता है जिनके प्रति हमारे मन मे कोई भाव उदित होता है।'[2]

जिस प्रकार काव्य-विषय का रसात्मक बोध साधारणीकरण द्वारा होता है उसी प्रकार बिंब का ग्रहण भी साधारणीकरण की प्रक्रिया द्वारा होता है। क्योंकि बिंब भी विभाव पक्ष का ही अंग है और उसकी स्थिति आलंबन और उद्दीपन दोनों के ही अंतर्गत होती है। समस्या सिर्फ़ इतनी है कि चरित्र का साधारणीकरण सहज होता है। एक विशेष परिस्थिति में एक विशेष पात्र कौन-सा आचरण करेगा, उसके संबंध मे हमारी कुछ पूर्व-निश्चित धारणाएँ होती हैं। वह उस धारणा के विपरीत आचरण करे तब भी हम एक मनोवैज्ञानिक आधार पर उसके औचित्य को अंशतः स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु बिंब कही अधिक सूक्ष्म और अनिश्चित होता है। उसके संबंध में हमारे पास कोई पूर्वधारणा नहीं होती। वह एक आकस्मिक झटके की तरह हमारी कल्पना में आता है और एक गूँजी-सी छोड़कर विलीन हो जाता है। 'बिंब ग्रहण की क्रिया घंटे की उस चोट की तरह होती है जो एक बार ध्वनित होकर धीरे-धीरे वातावरण में बड़ी देर तक गूँजती रहती है। इस दृष्टि से वह ध्वनिवादियों के 'प्रतीयमान' अर्थ मे अधिक निकट है जो वर्जित वस्तुओं का अतिक्रम करके किसी 'अन्य' वस्तु की प्रतीति

---

1. रस-मीमांसा—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—पृ॰ 217, 219
2. वही—पृ॰ 302

से उत्पन्न होता है।'[1]

एक श्रेष्ठ बिंब जब भी आता है उसके साथ एक जीवन-दृष्टि, एक विचार आता है। उसमें सिर्फ़ प्रत्यक्षात्मक ही नहीं धारणात्मक गुण भी होते हैं। वह सिर्फ़ यथार्थ के स्थूल पक्षो का ही उद्घाटन करके नहीं रह जाता, उनके पार देखने का उद्बोधन भी करता है। अतः बिंब-ग्रहण में साधारणीकरण उस सहजता से काम कर ही नहीं सकता। फिरभी, एक सीमा तक ही सही, साधारणीकरण भी बिंब-ग्रहण में सहायक होता है।

2.4 बिंबात्मक रूपांतरण

रचना, संप्रेषण और आशंसा में बिंब के महत्त्व को देखते हुए समस्या उपस्थित होती है एक माध्यम से दूसरे माध्यम में बिंब के रूपांतरण की। दूसरे शब्दों में, लिखित शब्द की पठ्यता को उच्चरित शब्द की श्रव्यता मे रूपांतरित करने की। हालाँकि, 'शैली, शिल्प, अभिव्यक्ति-भंगिमा और प्रेषणीयता के माध्यम की दृष्टि से कलाओ मे चाहे जितनी भिन्नता हो; किन्तु तत्त्व-समास की दृष्टि से सभी कलाएँ समान हैं और इनमें एक तात्त्विक अंतःसंबंध अनिवार्य रूप से विद्यमान है। कल्पना, बिंब, प्रतीक, प्रेषणीयता, विषय; विधान इत्यादि अनेक ऐसे प्रमुख और गौण तत्त्व हैं, जो स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, काव्य और संगीत—सभी ललित कलाओं में समान रूप से समाविष्ट हैं। जब हम पाते हैं कि एक ऐसी सामान्य भूमि है जहाँ दृश्य-कलाओं और श्रव्य-कलाओं के मुख्य व्यावर्त्तक गुण, क्रमशः, चाक्षुश-प्रत्यक्ष और स्वर-बोध परस्पर मिल जाते हैं (जिसे मनोविज्ञान की भाषा में सिनेस्थेसिया कहते हैं) तब यह स्वतः प्रमाणित हो जाता है कि सभी ललित-कलाओं के बीच किसी तात्त्विक अंतःसंबंध की स्थिति अवश्य है।'[2]

अक्सर हम अनायास ही किसी स्वर को किसी विशिष्ट रंग से जोड़ लेते हैं। यह

---

1. आधुनिक हिन्दी कविता में बिंब-विधान—पृ॰ 43
2 सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व—डॉ॰ कुमार विमल—पृ॰ 22

अंतःसंबंध स्वर और रंग की आनुषंगिक निर्भरता तक ही सीमित नही है। श्वेत रंग से सात्विक भावनाएँ, नीले रंग से प्रतिष्ठा और कुलीनता तथा लाल रंग से राग कहीं-न-कहीं जुड़ते हैं। संगीत-कला जैसी अमूर्त श्रव्य-कला चित्रकला जैसी मूर्त दृश्य-कला के अनेक गुणों को धारण करती है; रागमाला चित्रावली के द्वारा राग-रागिनियों के चित्र तक बनाये गये हैं। कविता मे रंग और रूपाकार का महत्त्व उसे चित्रकला से संबद्ध करता है। दूसरी तरफ काव्यों के आधार पर चित्रांकन हुए हैं जैसे, गीत-गोविद आदि कृष्ण-काव्य का अंकन। रवींन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य मे संगीत-तत्त्व इतना अधिक है कि उस पर प्रबंध लिखे गये हैं। स्पष्ट है कि कलाओ में एक सह-संवादिता होती है। बावजूद इसके , 'प्रत्येक माध्यम की अपनी 'भाषा' हुआ करती है। सूरदास के पदों में रास के वर्णन की और कांगड़ा के चित्रों में रास के चित्रण की दो अलग भाषाएँ हैं। चित्रकला एक स्थानिक कला है जो रूपो तथा रंगों का उपयोग करती है और काव्य कालमूलक कला है जो उच्चरित ध्वनियो का उपयोग काती है। उनकी जो भी अभिव्यक्ति होगी वह क्रमशः स्थानप्रधान और कालप्रधान ही होगी। यह ठीक है कि सभी वस्तुएँ केवल स्थान में ही नहीं काल में भी अस्तित्वमान हैं, और उनमें सातत्य भी है। अप्रधान रूप से चित्रकला कार्यों का भी अनुकरण कर सकती है; किन्तु वैसा ही, जैसा कि रूपों के द्वारा उनका विमर्श हो। इसी तरह काव्यकला भी वस्तुओं का विवरण दे सकती हैः किन्तु वैसा ही, जैसा कि कार्यों के द्वारा अपरोक्ष ढंग से वे प्रकाशित हों। चित्रकला कार्यव्यापार का एक क्षण अंकित कर सकती है, और काव्यकला वस्तु के एक लक्षण का। सारा चमत्कार उस 'एक' के वुनाव का है।[1]

प्रत्येक माध्यम की अपनी शक्तियाँ और सीमाएँ होती हैं जो कि उसके भौतिक आधारों, जैसे मिट्टी, पत्थर, लकड़ी, सोना आदि और मनोवैज्ञानिक आधारों—प्रतीक, शब्द, ध्वनि आदि पर निर्भर होती है। यही आधार उसे भौतिक ऐंद्रिय, विमर्शक और तकनीकी विशेषताएँ प्रदान करते हैं। पत्थर में कठोरता और मिट्टी में कोमलता उनकी भौतिक विशेषताएँ हैं; रंग और ठोस आकृतियाँ, प्रकाश-तरंगें तथा स्वरमान, शब्द आदि ध्वनि-तरंगें प्रसारित करते

---

1. अथातो सौंदर्य जिज्ञासा—डॉ. रमेश कुंतलमेघ—मैकमिलन—पृ. 108

हैं और ये ऐद्रीय विशेषताएँ हैं। शब्दो मे संगीतात्मकता और चित्रात्मकता का तथा आकृतियो मे काव्यात्मक भावों एवं संवेगो आदि का ग्रहण विमर्शक विशेषताएँ हैं। सिनेमा मे कैमरे की, शिल्प मे छेनी-हथौड़ी की, चित्रकला मे कूँचियो की, संगीति में वाद्य-यंत्रो और मानव-कंठ एवं शरीर की और रेडियो में स्वर-विस्तारक यंत्रो एवं कंठ-स्वर की विशेषताएँ तकनीकी विशेषताएँ हैं। विज्ञान और तकनीकी की उन्नति के साथ-साथ माध्यम की जटिलता और फलस्वरूप नये कलारूपों का विकास और पुराने कलारूपों की परिष्कृति बढ़ती जाती है। वैसे, एक कला के भी कई माध्यम हो सकते हैं। चित्रकला में काग़ज़, कपड़ा, भित्ति, काष्ठ-पटल; लेपन, धूलि, रस, तैलरंग, जलरंग खड़िया आदि का उपयोग एक ही कला को कई माध्यमों में अभिव्यक्त करने के उदाहरण हैं। लेकिन, एक ही मूर्ति काँसे, पत्थर, मिट्टी और मोम से बनाने पर माध्यम बदलते ही उसमें अनुभूति भी बदल जाएगी क्योकि वह पत्थर की कठोरता या मोम की कोमलता को भी कुछ अंश तक ग्रहण करेगी।

सृजनात्मक कार्य और माध्यम का संबंध अद्‌भुत होता है। इसमे माध्यम की प्रकृति (लचीलापन, दृढ़ता कोमलता आदि) का विषयवस्तु की प्रकृति से मिलन होता है और दोनो, अपने अनुरूप बनाने के उपक्रम में एक-दूसरे को उसकी नमनीयता की सीमा में बदलते चलते हैं। विषयवस्तु के विचार, बिंब और आवेश माध्यम के बिंबों में ढलने लगते हैं तथा माध्यम भी विषय के अनुरूप ढलता है। कई बार माध्यम की सृजनात्मक क्षमता के कारण कई अजन्मे विचार उभर आते हैं और कई बार माध्यम की सीमाओं के कारण कई विचार पूर्णतः विकसित नहीं हो पाते। साथ ही, 'माध्यमों ने यथार्थ के साथ हमारे संबंध को बदल दिया है। हम सीधे ऐंद्रिक-बोध से पुष्ट यथार्थ को ग्रहण नहीं करते, तनिक उसके माध्यमीकृत रूप (दृश्य अथवा श्रव्य अथवा पठ्‌य) को ग्रहण करते हैं।'[1]

शब्द की पठ्‌यता को शब्द की श्रव्यता में रूपांतरित करने की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण

---

1. निबंध—'उत्तर-आधुनिकता : कुछ विचार'—सुधीश पचौरी—'उत्तर-आधुनिकता और मार्क्स।', सं॰-देवीशंकर नवीन और सुशांत कु॰ मिश्र, पृ॰ 18

बिन्दु यह होगा कि शब्द की रूप-ध्वनि, प्रतीकात्मकता और संवेगात्मक उत्तेजनाओं को रेडियो-माध्यम कहाँ तक वहन कर सकता है। रेडियो का बिंबाधायन लिखित शब्द के बिंबाधायन के समक्ष कहाँ ठहरता है—उससे कमतर या तीव्रतर। रेडियो के बिंब लिखित शब्द के बिंब में क्या-कुछ जोड़ते-घटाते हैं।

2.4.1 **बिंबाधायन में रेडियो की विशिष्ट शक्तियाँ**—सृजन के क्षणों में रचनाकार की अमूर्त्त अनुभूतियो को बिंबो के द्वारा ही आकार और इंद्रिय-ग्राह्यता मिल पाते है तथा रेडियो-माध्यम की जो ऐंद्रिय, विमर्शक और तकनीकी विशेषताएँ हैं वे लिखित शब्द की तुलना में रेडियो के बिंबाधायन को कई विशिष्ट शक्तियाँ प्रदान करती हैं—

(i) **अग्रगामिता**—रेडियो के श्रव्य शब्द का बिंब हमेशा लिखित/मुद्रित शब्द के बिंब की अपेक्षा एक क़दम आगे रहता है क्योंकि उसमें पढ़ने की क्रिया का, पुस्तक और अक्षरों का व्यवधान नहीं होता। सुनना हमेशा पढ़ने की तुलना में अधिक सहज और अनायास होता है। सुनने मे सामान्यतः कोई प्रयास नहीं करना पड़ता जबकि पढ़ने में प्रयास करना पड़ता है। यही कारण है कि सुने हुए शब्द का बिंब-ग्रहण तीव्रतर होता है।

(ii) **प्रभविष्णुता**—श्रव्य शब्द के बिंब लिखित शब्द की तुलना में अधिक सहजता से और अनायास संप्रेषित होने के कारण कहीं अधिक प्रभावोत्पादक भी होते हैं।

(iii) **श्रावण-बिंबों की तीव्रता**—लिखित शब्द द्वारा निर्मित श्रव्य-बिंब (Auditory image) रेडियो में कई गुना अधिक प्रभावशाली होते हैं। इलियट के वेस्टलैंड के 'ड्रिप-ड्रॉप ड्रिप-ड्रॉप ड्रॉप-ड्रॉप, ड्रॉप-ड्रॉप' को लिख हुआ पढ़ें और उच्चरित रूप में सुनें तो यह अंतर सुगमता

से समझ में आ सकता है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के मेघगीत की पंक्तियाँ हैं—[1]

मेघ-रंध्र मे मंद्र-सांद्र ध्वनि-
द्रिम-द्रिम-द्रिम उन्मद मृदंग की ।

रिमझिम-रिमझिम, रुनझुन-रुनझुन,
छुनकिट तच्छुम, रनरन-रुनरुन,
छुम-छुम छननन, झननन-झुनझुन

मुक्तकेश सरका श्यामाम्बर ।
हरित-शस्य-अंचल अंचलतर ।।

ताल-ताल पर उच्छल-उच्छल-
चल-जल छलछल टलमल-टलमल,
कुलकुल-कुलकुल कलकल-कलकल,

प्रति-पदगति नति शत-तरंग की ।
तड़ित भंगिमा अंग-अंग की ।।

इसी तरह महाकवि निराला के बादल-राग की पंक्तियाँ हैं—[2]

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घनघोर ।
राग-अमर! अंबर में भर निज रोर ।
झरझर कर निर्झर गिरि-सर में
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में,

1. मेघगीत—जानकीवल्लभ शास्त्री—आधुनिक कवि-14—पृ. 89

1 परिमल—सूर्यकांत त्रिपाठी निराला—पृ. 175

है कि यह शब्द का लिखित नहीं उच्चरित रूप होगा। ऐसा रूप जो उच्चरण से उसे अभिव्यक्ति-सघन बनाने मे सक्षम हो।

निर्मल वर्मा की कहानी 'माया-दर्पण'[1] में एक प्रसंग है जब अपने वैभवशाली अतीत से मुक्त न हो सकने वाले सामंत दीवानजी एक रात दीवार पर टंगे एक पुराने, धूल से धुंधले पड़ आये फ़ोटो में रियासत के अंग्रेज़ रेज़ीडेंट और अन्य राज्याधिकारियो के बीच शान से बैठे अपनी तस्वीर को 'पहचानने का प्रयास कर रहे' हैं। उभरी हुई नीली नसों से भरे, काँपते, बूढ़े हाथों से वह फ्रेम पर जमी हुई धूल की परतों को साफ़ करने की कोशिश करते हैं। लेकिन धूल कहाँ साफ़ हो पाती है। केवल उनकी उंगलियों की छाप तस्वीर के पुराने ज़र्द शीशे पर उभर आती है। इस प्रसंग का रूपांतर संभवतः इस मोनोलॉग से ही हो सकता है—

(समय-रात। गहरे सन्नाटे और झिंगुर, कुत्तों आदि का ध्वनि-प्रभाव। हाँफने और थके पैरों को घसीट-घसीट कर चलने का ध्वनि-प्रभाव। चलने का प्रभाव रुक जाता है।)

दीवान साहब : [स्वगत, (ईकों में) त्रासद-करुण हँसी] हँ : हँ : - हः ये......जॉर्ज पंचम के सिल्वर-जुबली के समारोह का फ़ोटो! ...... ये रियासत के अंग्रेज़ अफ़सर ...... मि॰ मार्टिन, मि॰ टॉम, मि॰ डिसिल्वा ...... और ये ख़ज़ाँची हरबंस लाल, सेनापति वीरविक्रम, ये महाराज ...... और ये, उनके बग़ल में मैं! ...... दीवान भानुप्रता सिंह! ...... मैं! दीवान!! (वही त्रासद हँसी) ...... मैं! मैं!! दीवान भानुप्रताप!! (स्वर पीड़ा से टूट जाता है, हँसी का मूक रुदन में पर्यवसान हो जाता है।)

हेमिंग्वे की एक कहानी 'ऐन इंडियन कैंप'[2] में एक प्रसंग आता है कि बिना

---

1. कहानी 'माया-दर्पण'—निर्मल वर्मा—प्रतिनिधि कहानियाँ—पृष्ठ 70
2. कहानी 'ऐन इंडियन कैंप' अनुवाद - अनुराधा महेंद्र—अर्नेस्ट हेमिंग्वे, बीसवीं सदी की कथा-यात्रा, अनु॰- अनुराधा महेन्द्र, पृ॰ 140

एनेस्थीसिया के एक औरत का नौ इंच लंबा चीरा लगाकर बच्चा पैदा कराने के बाद जब डॉक्टर बग़ल में मुँह ढाँपे घायल पड़े उसके पति का कम्बल हटाता है तो पाता है कि पत्नी की तकलीफ़ और चीख़े बर्दाश्त न कर पाने के कारण उसने उस्तरे से अपना गला काट लिया है। बिना शब्दों के इस प्रसंग का रूपांतरण असंभव है। अब देखा जाय कि उच्चरित शब्दों मे इसका रूपांतरण कैसे हो सकता है :—

डॉक्टर : मैं कल सुबह फिर आऊँगा। दोपहर तक सेट इग्नेस से नर्स भी आ जाएगी। वह ज़रूरत का सारा सामान ले आयेगी। (उल्लास-समिश्रित उत्तेजना के स्वर में) जॉर्ज! यह वाक़ई मेडिकल-जर्नल मे दर्ज करने लायक है। उपकरणो के बग़ैर सिज़ेरियन, वह भी खटकेदार चाकू से और फिर नौ इंच के चीरे को टाँकोंसे सिलना।

जॉर्ज : ओह वाक़ई! आपका जवाब नहीं, आप ग्रेट हैं।

डॉक्टर : अब बच्चे के पिता से मिल लेना चाहिए। वह गर्व से भर उठा होगा। (हँसकर) ऐसे समय उनकी हालत सबसे ख़राब होती है। लेकिन मानना होगा कि इस पूरे वक़्त उसने बड़े धीरज से काम लिया है। जॉर्ज ज़रा कम्बल तो हटाना। ये महाशय अब तक मुँह ढ़ाँपे क्या कर रहे हैं?

जॉर्ज : जी, अभी लीजिए। अरे भाई, कम्बल तो हटाओ देखो तो तुम बाप (अचानक तीव्र आतंककारी संगीत) डॉक्टर! ओऽऽह!! इसने तो ...... उस्तरे से अपना ही गला (फिर तीव्र संगीत)।

डॉक्टर : (आतंकित) निक को झोपड़ी से बाहर ले जाओ जॉर्ज!

हम देख सकते हैं कि गिनती के शब्दों—'डॉक्टर! ओह! इसने तो ...... उस्तरे से अपना ही गला ......', से इस घटना का पूरा चित्रण हो गया है।

अमरकांत की एक कहानी[1] में दस-बारह साल का, सुदूर नेपाल के अपने गाँव-घर से भाग कर आया हुआ नौकर सुबह से देर रात तक घर के सारे काम निपटाने और तमाम बदसलूकियाँ झेलने के बाद रात के एकांत में अपनी टूटी-झलँगी-बँसखट पर, अपनी जतन से इकट्ठी की गयी प्रिय वस्तुएँ निकाल कर सजाता है—कंचे, पुराने ताश की गड्डी, ख़ूबसूरत पत्थर, ब्लेड, काग़ज़ की नावें, छोटा सा आईना; नेपाली टोपी लगाकर आईने में अपना मुँह देखता है—गोया असमय ही बिछड़ गये अपने खिलंदड़े बचपन को उसने जतन से संजो रखा है और कुछ पल के लिए उसे जी लेता है।

कहानी में यह-सब ब्यौरे में है। लेकिन इससे जो बेहद संवेदना-सघन बिंब निर्मित होता है उसका रूपांतर शब्दों द्वारा ही हो सकता है :—

गृहस्वामिनी : (कौतुक से हँसती हुई) अजी सुनते हो। ज़रा इधर तो आओ। उठो ना, एक बहुत मज़ेदार चीज़ दिखाती हूँ।

स्वामी : ऊँ .... क्या है? अब इतनी रात को ...... सोने दो।

स्वामिनी : बस एक मिनट के लिए ...... उठो ना ...... तुम्हें मेरी क़सम।

स्वामी : (चिढ़कर) लो उठ गया। क्या है?

स्वामिनी : शिः शिः ...... ज़रा धीमे। इधर तो आओ ज़रा देखो तुम्हारा नेपाली बंदर इतनी रात को क्या कर रहा है। आओ तो ......लेकिन चुपचाप। (दबी हँसी के साथ) देखा? नेपाली टोपी में कैसा सज रहा है! और कैसे आईने में बंदर की तरह अपना मुँह देख रहा है! (हँसी) और महाशय का ख़ज़ाना तो कभी देखा ही नहीं! **(हँसी)** देखो गोलियाँ, पत्थर, ताश, ब्लेड, काग़ज़ की नाव (हँसी) पता नहीं कहाँ छुपाकर रखता है

---

1 कहानी 'बहादुर'—अमरकांत, अमरकांत की संपूर्ण कहानियाँ, पृष्ठ 120

बदमाश। दिन भर तो इतना सयाना बना रहता है और इस समय ......

(अंतिम शब्द फ़ेड-आउट होते हैं और सुपर-इंपोज़ होती है बहादुर की धीमी मीठी गुनगुनाहट। साथ ही कंचे और पत्थर के टुकड़ों तथा ताश की गड्डी से खेलने का ध्वनि-प्रभाव। पार्श्व मे वंशी पर उसी उदास नेपाली धुन की अनुगूँजे।)

(ii) कण्ठ-स्वर और स्वराभिनय—जब हम रेडियो के संदर्भ में शब्द की बात करते हैं तो वह उच्चरित शब्द होता है और उच्चरित शब्द मे अनायास ही कण्ठ-स्वर और स्वराभिनय सम्मिलित हो जाता है क्योकि रेडियो के महत्त्वपूर्ण ही नहीं अनन्य (Exclusive) उपकरणों मे ये दोनों आते हैं। इस्तेमाल तो इनका दृश्य-माध्यमो—नाटक, सिनेमा, टेलीविज़न आदि में भी होता है लेकिन वहाँ इनका वह महत्त्व नहीं जो रेडियो मे है क्योंकि, वहाँ न सिर्फ़ दृश्य की प्राथमिकता होती है वरन् दृश्य इनकी अभिव्यक्ति में अवरोध भी बन जाता है।

रेडियो-प्रसारणकर्त्ता की सधी-संस्कारित (cultured) आवाज़ लिखित शब्द के उच्चारण में अनायास ही बहुत-कुछ जोड़ देती है और रेडियो अभिनेता का स्वराभिनय शब्द के सारे बिंबों और मंतव्यो को श्रोता तक पहुँचाता है–कहीं अधिक संवेदन-सघन बनाकर।

उपर्युक्त 'मायादर्पण' के दीवान के एकालाप और 'ऐन इंडियन कैंप' के जॉर्ज के संवाद लिखे हुए शब्दों में कभी भी वह प्रभाव नहीं छोड़ सकते हैं, न ही बिंब-निर्मित कर सकते हैं जो कि वे एक सक्षम अभिनेता के अभिनय में ढलने के बाद करेगे।

(iii) संगीत—गेय कविताओं को संगीतबद्ध कर देने से उनका संप्रेषण कई गुना बढ़ जाता है। शर्त बस इतनी है कि संगीत-रचनाकार कवि के मंतव्यों और बिंबों तक ख़ुद पहुँच सके और उन्हे श्रोता तक पहुँचाने की क्षमता रखता हो।

आकाशवाणी इलाहाबाद से प्रसारित महाकवि निराला के वर्षा संबंधी गीतों पर आधारित संगीत-रूपक 'बादल-राग'[1] में संगीतकार रघुनाथ सेठ ने संगीत का ऐसा ही रचनात्मक प्रयोग किया है। समवेत स्वर में गीत की पहली पंक्ति आती है—

'झूम-झूम मृदु गरज-गरज घनघोर।'

इसमें 'झूम-झूम' के उच्चारण में बोल-तान का इस्तेमाल किया गया है जिससे शब्द 'झूम-झूम' अपने सांगीतिक उच्चारण में और झूमते लगें और 'घनघोर' का उच्चारण विस्तारित है—'घनघोऽऽर' जिससे घनघोर का बिंब पूरी तरह संप्रेषित हो।

दूसरी पंक्ति—**'राग-अमर! अंबर में भर निज रोर'** सोनल मानसिंह के एकल-स्वर में है। सोनल 'राग-अमर' को मध्य-सप्तक के आरंभ से उठाती हैं लेकिन 'अंबर में भर निज रोर' में स्वर की तारता बढ़ती जाती है और 'रोर' तक आते-आते स्वर तार-सप्तक मे पहुँच जाता है। यहाँ तार-सप्तक में विस्तारित 'रोऽऽर' जैसे सचमुच आकाश में अपनी अनुगूँजें भरने लगता है।

अंतरे की पंक्तियों—**'झर-झर-झर निर्झर गिरि सर में/ घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में'** के हर शब्द का उच्चारण अलग-अलग किया गया है और रघुनाथसेठ ने पार्श्व में सितार के झाले का इस्तेमाल किया है जो 'झर-झर-झर' के बिंब को और गहरे रेखांकित करता है। पंक्ति 'मन में, विजन गहन कानन में' एक बार फिर एकल स्वर में है और यह पुरुष एकल स्वर 'कानन में' के 'में' को लम्बा खींचता है, इतना लंबा कि मेघ-राग सारे वातावरण को भरता हुआ लगे।

इसी तरह जानकीवल्लभ शास्त्री के मेघगीत के शब्दों—**'मेघ-रंध्र में मंद्र-सांद्र ध्वनि द्रिम-द्रिम-द्रिम उन्मद मृदंग की'** के पार्श्व में मृदंग या पखावज का प्रयोग और 'रुनझुन-रुनझुन, रनरन-रुनरुन, छुम-छुम छननन, झननन-झुनझुन' की पृष्ठभूमि में अलग-

---

1. संगीत-रूपक—'बादल-राग'—लेखक केशवचंद्र वर्मा—पृ. 71

अलग सप्तक की घंटियों और घुंघरुओ का प्रयोग बिंब को उभारने वाला होगा।

(iv) **पार्श्व-संगीत**—संगीत की तुलना में पार्श्व-संगीत का कहीं व्यापक इस्तेमाल होता है क्योंकि यह गेय शब्दों तक सीमित नहीं है और उच्चरित शब्दों को रेखांकित करने में, उसके मूड्स और शेड्स को संप्रेषित करने में और कई बार जो बोला नहीं गया, उसे भी व्यंजित करने मे इसकी व्यापक संभावनाएँ होती हैं।

निर्मल वर्मा की कहानी 'माया दर्पण'[1] में नायिका एक 'निर्भेद्य मौन को सुनती है, जो सारे घर में छाया है, जिसके भीतर से आवाज़ें परायी, अपरिचित, भयावह-सी जान पड़ती हैं।' रेडियो में इस निर्भेद्य मौन का रूपांतरण कैसे करेंगे? निश्चित रूप से सन्नाटे से नहीं। वहाँ मौन का संप्रेषण उच्चरित शब्दों का निषेध हो सकता है लेकिन सारी ध्वनियो से शून्य कर देने का अर्थ होगा 'डेड एयर' जिसका रेडियो-संप्रेषण की दृष्टि से कोई मतलब नहीं। श्रोता समझेगा कि प्रसारण व्यवधानित हो गया है या उसके रेडियो-सेट में कोई ख़राबी आ गयी है। प्रसारण में मौन चाहे जितना ही अभेद्य हो उसका अनुवाद भी ध्वनि से ही करना पड़ता है। शब्दहीनता की भी अपनी एक आवाज़ होती है और रेडियो संप्रेषण में उसे पकड़ना होता है। जंगल की निश्शब्दता और बस्ती की रात की शब्द-विहीनता अलग-अलग होती है। कहानी के उक्त अंश के निर्भेद्य और भयावह मौन का रूपांतरण भी किसी ध्वनि से ही होगा और क्लैरियोनेट के अनुगूँज (ईको) भरे एकल मद्र स्वर के आंशिक 'फ़ेड-इन-फ़ेड आउट' (स्वर-भार बढ़ा-घटाकर) के आतंककारी, भाँय-भाँय करते पार्श्व-संगीत से या सिंथेसाइज़र से उत्पन्न ऐसे ही किसी संगीत-प्रभाव से यह प्रभावी रूप में हो सकता है।

इसी कहानी में दो अंश ऐसे हैं जहाँ एक चरित्र के धम-धम करते हुए सीढ़ियाँ चढ़ने-उतरने का ज़िक्र है। वह 'ऐसे धम-धम करते आते हैं कि सारा घर लि उठता है' और 'खट-

---

1. मायादर्पण—निर्मल वर्मा—प्रति॰ कहानियाँ—पृ॰ 59

खट करके जब सीढ़ियाँ उतरते हैं' तब भी सारा घर हिल उठता है। लेकिन वास्तव में हिल उठता है नायिका का आंतरिक संसार, हिल उठती हैं सामंती परिवेश की जकड़बंदियाँ। फिर 'हिल उठने' में भी अंतर है। इंजीनियर बाबू के आने पर जो हिल उठना है वह उछाह और उत्तेजना की हिलोरो से है लेकिन सीढ़ियाँ उतरकर जाते समय का हिल उठना पीड़ा और भय से हिल उठना है।

इन दोनो स्थितियों का रूपांतरण सिर्फ़ पार्श्व-संगीत से ही संभव है—जैसे सीढ़ियाँ चढ़ते समय सितार के आनंदोन्मत्त झाले और उतरते समय सरोद के करुण विलंबित आलाप से।

इसी कहानी के अंत में नायिका के ख़यालों में एक बिंब उभरता है—'कही बहुत दूर चाय के बाग़ों के झुरमुट में उनका बँगला छिपा होगा। कहते हैं, वहाँ स्टीमर पर जाना पड़ता है। न जाने, स्टीमर में बैठकर कैसा लगता होगा। संभवतः वंशी पर किसी पहाड़ी धुन और चाय के बाग़ों में गोरखा औरतों द्वारा गाये जाने वाले गीत के ध्वनि-चित्र से ही यह बिंब संप्रेषित हो सकता है।

(v) **ध्वनि-प्रभाव**—ध्वनि-प्रभाव रेडियो-संप्रेषण में आत्यंतिक महत्त्व रखते हैं। प्रयोग इनका दृश्य-श्रव्य माध्यम-मंच-नाटक, सिनेमा, टेलीविज़न आदि भी करते हैं लेकिन दृश्य सम्मुख होने के कारण इनमें ध्वनि का वह प्रभाव नहीं होता इसीलिए इनमें उनका वह महत्त्व भी नहीं। लेकन रेडियो जैसे माध्यम में तो ध्वनि ही सब-कुछ है।

रेडियो में ध्वनि से ही सब-कुछ रचना है और ध्वनि का प्रभाव भी यहाँ उतना ही है। दरवाज़े पर दस्तक या घंटी का ध्वनि-प्रभाव अनायास ही किसी आगंतुक की दरवाज़े पर उपस्थिति दर्ज कर देती है; सिटकिनी गिरने और दरवाज़े के क़ब्ज़ों की हल्की-सी चर्र-मर्र दरवाज़ा खुलने की। पगचाप का प्रभाव आगमन-प्रस्थान-चलना-दौड़ना-रुकना-पीछा करना पूरी तरह संप्रेषित कर देते हैं। रेल और रेलवे-स्टेशन का प्रभाव, ताँगा-बस-कार-हवाई जहाज़-

नाव चलने, सीटी-भोपू, मशीनों की आवाज़, कुल्हाड़ी-आरी चलाने का स्वर, नल से पानी चलना, प्रेशर-कुकर की सीटी, टेलीफोन, घड़ी की टिक-टिक और घंटे के टन्न-टन्न आदि हज़ारो ध्वनि-प्रभाव हैं जो क्षणांश मे श्रोता के सम्मुख पूरा दृश्य रच डालते हैं।

शिवमूर्ति की कहानी 'केशर-कस्तूरी'[1] के अंत में अपनी ग़रीबी और अन्य विषमताओ से जूझती नायिका केशर गई रात मे सिलाई का काम करती हुई गा रही है और गाते-गाते रो रही है। गा रही है कि पिता, तुम्हारी मूँछ की हेठी नही होने दूँगी, पगड़ी नहीं उतरने दूँगी, टूटी मड़ई में ज़िंदगी गुज़ार लूँगी लेकिन किसी दूसरे के दरवाज़े भी नहीं जाऊँगी—तुम्हारे भी नहीं। लेखक ख़ुद कही गहरे अपराध-बोध से ग्रस्त है कि मुँह खोलकर मदद माँगने पर भी वह पापा पुकारने वाली बेटी-सी दुलारी केशर की कोई मदद नहीं कर सका। अब उसके आगे एक मिश्रित बिंब उभरता है—'सिलाई मशीन के सामने बैठी गाते-गाते रोती केशर ...... शर्त जीतकर छोटी-छोटी चीज़ें बटोरती केशर ...... छत्राकार घाघरा फैलाकर नाचती केशर ...... खिलखिलाती केशर ...... और बाप के कंधे को थपथपाकर आश्वस्त करती केशर, कि—

नाहीं जावै आन की दुआरी हो बपई ।'

कहानी में लोकगीत की जो पंक्तियाँ हैं—

मोछिया तोहार बप्पा 'हेठ' न होई है

पगड़ी केहू ना उतारी, जी-ई-ई।

टुटही मड़इया मा जिनगी बितउबै,

नाही जाबै आन की दुआरी जी-ई-ई।

इन्हें करुण स्वर और धुन में गवा लेना आसान है, बीच-बीच में सिसकियाँ काफ़ी होंगी। लेकिन लेखक के ज़हन में जो मिश्रित बिंब बन रहा है उसके रूपांतरण के लिए हमें

1. कहानी—'केशर-कस्तूरी'—शिवमूर्ति—संग्रह 'केशर-कस्तूरी'—पृ॰ 164

ध्वनि प्रभावों की शरण मे जाना पड़ेगा। गीत फ़ेड-आउट करके उसके ऊपर अनुगूँजों के साथ बच्ची केशर की उत्तेजनापूर्ण हँसी आएगी और संवादो के अंश आएँगे 'मैं जीती, मैं जीती, लाओ अपना रिबन' आदि; नाचते वक्त ताली-चुटकी आदि का प्रभाव आएगा, नाचते हुए गाये गये गीत के टुकड़े आएँगे और उछाह भरी खिलखिलाहट आएगी, कुछ ख़रीद देने का मनुहार भरा संवाद आएगा और फिर आएगा वयस्क, शादीशुदा केशर का, पति को कही छोटी-मोटी नौकरी दिला देने का अनुरोध और तब फिर वापस लोकगीत की पंक्ति—'नाहीं जाबै आन की दुआरी हो बपई।' ध्वनि-प्रभावो के ऐसे मोताज से कहीं सप्रेषित हो पायेगा यह बिंब।

(vi) **प्राकृतिक ध्वनियाँ**—ध्वनि-प्रभाव में प्राकृतिक-ध्वनियाँ–जीव-जंतुओं के स्वर, आँधी-पानी, तूफ़ान, समुंदर की लहरों-नदी के बहने आदि की आवाज़ें भी सम्मिलित हैं। अवसरानुकूल इनका एक प्रभाव उपयुक्त दृश्य श्रोता के समक्ष उपस्थित कर देता है।

(vii) **रेडियोफ़ोनिक प्रभाव**—ये ऐसे प्रभाव हैं जो स्टूडियो में तकनीकी उपकरणों से उत्पन्न किये जाते हैं। कई ऐसे दृश्य होते हैं जिनके स्वर न तो मानव-रचित संसार न ही प्रकृति में उपलब्ध हैं। जैसे कि राक्षस या भूत की आवाज़ या किसी पुच्छल तारे के गुज़रने का स्वर। ऐसे स्वरों के लिए तकनीक का सहारा लेना पड़ता है और किसी एक प्राकृतिक, मानवकृत अथवा तकनीकी स्वर को बार-बार फ़िल्टर करके, उसका स्वर-भार घटा-बढ़ाकर, उसके मूलभूत गुणों में परिवर्तन लाकर, उसमें अनुगूँजें उत्पन्न कर, उसकी मूल गति घटा-बढ़ाकर इच्छानुकूल प्रभाव उत्पन्न किया जाता है।

ध्वनि-प्रभाव और बिंबात्मक-रूपांतरण

ध्वनि-प्रभाव लिखित शब्दों के बिंबात्मक-रूपांतरण के सर्वश्रेष्ठ उपकरणों मे एक हैं। लेखक जिस आँधी-पानी-तूफ़ान-बाढ़-भूकंप-युद्ध आदि की विभीषिका के वर्णन में सफ़े-के-सफ़े रग डालता है ध्वनि-प्रभाव चंद सेकेंड में वे बिंब श्रोता के ज़हन में रच डालते हैं। समवेत कंठों की मर्मर-ध्वनि सभा का, उत्तेजित स्वरों का एक प्रभाव मैच का और मदारी के डमरू, बाँसुरी वाले की धुन और कोलाहल का एक छोटा सा मोताज मेले का दृश्य उपस्थित कर देता है। चंद लहरें समुद्र का, कल-कल कर स्वर पहाड़ी-नाले का, छपाक-छपाक की आवाज़ नदी का, चिड़ियों की चहचहाहट सुबह का, पशुओं का रंभाना और सामूहिक पग-ध्वनि गाँव की शाम का, झिगूरों की आवाज़ और बीच-बीच में कुत्तों का भौंकना रात का, जंगल के सन्नाटे मे गूँजने वाली एक विशेष लकड़ी के कीड़े की आवाज़ जंगल का तथा चमगादड़ों की फड़फड़ाहट और चंद रहस्यमय रेडियोफ़ोनिक प्रभाव भुतहा इमारत का बिंब निर्मित कर देते हैं। और ये बिंब लिखित शब्दो द्वारा निर्मित बिंबों से कहीं अधिक जीवंत और प्रभावशाली होते हैं क्योकि रेडियो अपने ध्वनि-प्रभावों से केवल संकेत देता है; श्रोता उन संकेतो के उद्बोधन की उंगली थाम अपने संचित अनुभवो से अपना बिंब ख़ुद रचता है।

केट चोपिन की कहानी 'तूफ़ान'[1] में दो स्तरों पर तूफ़ान चल रहा है। छप्पर की पाटियों पर बूँदें इतनी ताक़त से गिर रही हैं जैसे उसे तोड़कर भीतर आने को बेसब्र हों; गिरती हुई बिजलियो की गरज-तड़क इतनी भयंकर है कि फ़र्श का बोर्ड हिल रहा है और दूसरी तरफ़, सारे पितृसत्तात्मक मूल्यों को चुनौती देता एक तूफ़ान नायिका केलिक्स्टा को अपनी चपेट में लिए है जिसमें एक पति-इतर पुरुष के साथ मैथुनरत उसकी स्त्री-देह पहली बार अपने जन्मसिद्ध अधिकार का अनुभव कर रही है। स्पष्ट है कि विध्वंसक बारिश और बिजली गिरने, बादलों की गड़गड़ाहट और तेज़ हवा के प्रभाव दोनों स्तरों पर घटित हो रहे इस तूफ़ान के संप्रेषण में कितने महत्त्वपूर्ण होंगे।

---

1 कहानी—'तूफ़ान'—केट-चोपिन—अनु॰ इंद्रमणि उपाध्याय—संग्रह 'खामोशी की परतें'—पृ॰ 9

शिवमूर्ति की ही एक अन्य कहानी 'सिरी उपमा जोग'[1] में प्रसंगवश अधिकारी नायक के मस्तिष्क मे सालों पहले पीछे छोड़ दिये गये गाँव और पत्नी-बच्चे उभरते हैं। इस 'मस्तिष्क मे उभर रहे' गाँव को प्रसारण मे ध्वनि-प्रभाव ही साकार कर सकता है। रहट की आवाज़, गाय-बकरियो का स्वर और हलवाहे की 'हाँ-हाँ-च्च-च-टिक-टिक'—बस इतना-सा ध्वनि-चित्र गाँव के खेत को उभारने के लिए काफी है। इसके ऊपर कहानी के ब्यौरे जिसमे कव्वा 'काँ-काँ' कर रहा है और एक दुधमुँही बच्ची तोतली आवाज़ में उसकी नक़ल उतार रही है।

ग्राहम ग्रीन की एक कहानी[2] में अंधेरे मे चल रहे चोर-सिपाही के खेल में अंधेरे से अत्यन्त डरने वाले कमज़ोर दिल के अपने भाई को हौसला बँधाने की कोशिश मे पीटर चुपचाप उसके पास पहुँचकर उसका हाथ थाम लेता है और फ्रांसिस अंधेरे में चुपचाप यूँ हाथ पकड़ लिए जाने से ही डर के मारे मर जाता है। कहानी मे पीटर के फ्रांसिस के पास पहुँचने का पूरा विवरण है लेकिन रेडियो मे ध्वनि-प्रभाव इस प्रकार यह बिंब निर्मित करेगा :—

(सन्नाटा। फिर एक आतंककारी संगीत-प्रभाव। फ्रांसिस की डरी सिसकरी। पाँव दबाकर चलने की आवाज़। एक लकड़ी के तख्ते का चरमरा उठना। फ्रांसिस की धौंकनी बनती साँसें। पदचाप। आलमारी का पल्ला खुलने की चूँऽऽ। तीव्रआतंककारी संगीत।)

(viii) माइक का आत्मीय प्रयोग—रेडियो में माइक का प्रयोग एक कैमरे की तरह करते हैं। अभिनेता ज़रा सा आफ़ दि माइक (माइक से हटकर) बोलता है और श्रोता छवि बनाता है कि वह मुख्य घटना-स्थल से दूर स्थित है; सामान्य संवादों/ध्वनियो के समानांतर कम स्वर-भार के संवाद/ध्वनियाँ सुनता है और अपने-आप उसके मस्तिष्क में दृश्य का दूसरा परिपार्श्व उभर आता है। फ़ेड-इन/फ़ेड-आउट की

---

1. कहानी—'सिरी उपमा जोग'—शिवमूर्ति—संग्रह 'केशर-कस्तूरी'—पृ॰ 63
2. कहानी—'एक पार्टी का अंत' ले॰ ग्राहम ग्रीन, अनु॰ अनुराधा महेंद्र, संग्रह 'कहानियों से गुजरती बीसवीं सदी' पृ॰ 31

तकनीक से दूर से पास तक आती ट्रेन और क़रीब से दूर जाते घोड़े का दृश्य उपस्थित किया जा सकता है। लेकिन माइक का जो सबसे महत्त्वपूर्ण इस्तेमाल है, वह है कैमरे के क्लोज़-आप की तरह चरित्र को जैसे बिल्कुल खुर्दबीन के नीचे रखकर देखने का; बल्कि उससे भी एक क़दम आगे उसके मन में क्या चल रहा है, यह श्रोता तक संप्रेषित कर देने का। दृश्य माध्यमो नाटक-सिनेमा-टेलीविज़न को यह सुविधा उस सीमा तक उपलब्ध नही है। नाटक मे स्वगत से काम चलाना पड़ता है और यह बेहद अस्वाभाविक लगता है, सिनेमा और टीवी मे तो स्वगत खल जाता है और वहाँ सिर्फ़ क्लोज़-अप में और मुखाभिनय अथवा आंगिक अभिनय से जितना कहा जा सके वहीं तक कहना संभव है। लेकिन रेडियो में इस तकनीक की संभावनाएँ निस्सीम हैं। वहाँ माइक के आत्मीय प्रयोग का रास्ता सीधा श्रोता के अंतर्मन तक जाता है, बिना किसी व्यवधान, संकोच और अस्वाभाविकता के।

ओ॰ हेनरी की एक कहानी[1] मे भूख से दम तोड़ती निर्धन नायिका अपने दड़बे जैसे कमरे के रोशनदान से दीखते आकाश के छोटे से टुकड़े में स्थित अपने परिचित तारे 'बिली जैक्सन' को अंतिम विदा के शब्द कहती है—"गुड बाय बिली! तुम लाखों मील दूर हो और एक भी बार टिमटिमाए तक नहीं। तुम वहीं रहे जहाँ से मैं तुम्हें देख पाऊँ। जब मेरे पास देखने के लिए अंधेरे के सिवा कुछ भी नहीं था। थे न तुम वहीं पर? ...... लाखो मील दूर ...... गुड बाय, बिली जैक्सन!"

यह संवाद भूख से मरती हुई नायिका बोलती है, इतनी दुर्बल कि बिली जैक्सन को

---

1. कहानी 'रोशनदान वाला कमरा'—ओ॰ हेनरी—अनु॰ मीनू मंजरी—संग्रह 'ओ॰ हेनरी की कहानियाँ'—पृ॰ 96

एक हवाई चुंबन देने के लिए हाथ उठाने में उसे तीन बार कोशिश करनी पड़ती है। यह टूटती हुई अस्फुट आवाज़ रेडियो का माइक ही पहुँचा सकता है—एकदम अपने श्रोता के हृदय तक।

फ़े वेल्डन की एक कहानी[1] मे घर के मोर्चे पर भी खपती हुई कामकाजी नायिका परिवार की पुरुष-सत्तावादी सरचना के शोषण और अपमानो पर लगातार रिऐक्ट करती रहती है, लेकिन भीतर-ही-भीतर। कहानी मे प्रकटतः बोले गये जितने सवाद है, उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं अनबोली ये प्रतिक्रियाएँ और रेडियो के माइक का आत्मीय प्रयोग ही भीतर-ही-भीतर कुढ़ती-छीजती, टूटन और अवसाद का शिकार होती, सीनिकल-सी हो आई नायिका के बिंब श्रोता तक संप्रेषित कर सकता है।

(ix) **अंतराल (पॉज़)**—अंतराल प्रसारण के महत्त्वपूर्ण उपकरणो मे एक है। लिखे हुए पृष्ठो मे सिर्फ़ संवाद ही नही होते, विवरण भी होते हैं। लेकिन प्रसारण मे हम दोनों को अक्सर मिला नही सकते। वहाँ संवादों के बीच दूसरे ब्यौरों की गुंजाइश नहीं रहती। कई बार ऐसी स्थितियाँ होती हैं जहाँ शब्द (संवाद) अक्षम प्रतीत होने लगते हैं अथवा, शब्द उन्हे उतनी प्रभविष्णुता से व्यक्त नहीं कर सकते जितनी कि मौन। पॉज ऐसे ही स्थलो पर अभिव्यक्ति का एक रचनात्मक औज़ार बनता है।

रॉबर्ट बोल्ट के नाटक[2] मे सर रिचड्स के जवान बेटे की मौत की खबर सुनाने जहाज़ का कप्तान आता है। वह कहता है :—

कप्तान : "सर रिचर्ड्स! (पॉज़) आपका बेटा (पॉज़) नहीं रहा! (पॉज़) समंदर मे डूबकर ......"

इसके बाद एक लम्बा, बेहद लम्बा पॉज़ आता है जिसके पार्श्व में सिर्फ़

---

1. कहानी—'सप्ताहांत'—ले॰ फ़े वेल्डन, अनु॰—इंद्रमणि उपाध्याय, सग्रह 'ख़ामोशी की परतें'—पृ॰ 24।
2. रेडियो-नाटक 'दि ड्रंकेन सेलर'—रॉबर्ट बोल्ट—रेडियोज बेस्ट प्लेज—पृ॰ 69

समुद्र के हहराने का ध्वनि-प्रभाव है। कहने की ज़रूरत नही कि जवान बेटे की अकाल मृत्यु की ख़बर सुनकर बूढ़े बाप के निश्शब्द हाहाकार का इससे अच्छा बिब सैकड़ों शब्दो के विलाप से भी नहीं बन सकता।

एक ऐसी स्थिति की कल्पना करे जिसमें दो पात्रो के वार्तालाप में उनके संबंधों के तनाव को उभारना हो। ब्यौरों में बहुत-सी बातें बताई जा सकती हैं—तनाव का इतिहास, शब्दों की प्रतिक्रियाएँ, लेकिन सवादों मे इस तनाव को व्यक्त करने का सर्वश्रेष्ठ साधन पॉज़ है।

उदाहरणत :—

नायक : और, कैसी हो तुम?

नायिका : ठीक हूँ। अपनी सुनाओ।

नायक : मैं भी ठीक ही हूँ। मम्मी-पापा कैसे है?

नायिका : अच्छे हैं। नलिनी कहाँ है आजकल?

बिना अंतराल के यह बिल्कुल सामान्य वार्त्तालाप है। अब शब्दो के बीच सिर्फ़ पॉज़ डाल दे :—

नायक : और ...... कैसी हो तुम?

नायिका : ...... ठीक हूँ। ...... अपनी सुनाओ।

नायक : मैं भी ...... ठीक ही हूँ। ...... मम्मी-पापा कैसे हैं?

नायिका : ...... अच्छे हैं। ...... नलिनी कहाँ है आजकल?

अंतराल साफ़-साफ़ बता रहे हैं कि जो कहा जा रहा है वह उतना ही नहीं है। हर जुमले का एक संदर्भ है और संदर्भ सहजता का नहीं तनाव का है।

निष्कर्ष : उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि रेडियो का बिबाधायन लिखित शब्द के बिबाधायन से कही अधिक सहज, त्वरित और तीव्र होता है क्योकि सुनना पढने की अपेक्षा अधिक सहज है, इसमे न तो लिखित शब्द को पढ़ने का तनाव होता है न ही, रेडियो-प्रस्तुतकर्त्ता और श्रोता के बीच वह व्यवधान होता है, जो कि लेखक और पाठक के बीच लिखित शब्द का होता है। द्वितीयतः, लेखक के पास अभिव्यक्ति का सिर्फ़ एक माध्यम है—शब्द जबकि, रेडियो के पास शब्द के अतिरिक्त बिब-निर्माण के सशक्त साधन—कण्ठ-स्वर, भावप्रवण वाचन, अभिनय, ध्वनि-प्रभाव, अंतराल, माइक और सगीत उपलब्ध है। स्वाभाविक रूप से, लिखित शब्द द्वारा निर्मित बिबो के रेडियो-माध्यम मे रूपांतरण के लिए रेडियो-प्रस्तुतकर्त्ता के पास अनेक विकल्प होते हैं और सामान्यतया रेडियो मे रूपांतरित बिब कही अधिक सजीव और उद्बोधक होते हैं।

❑❑❑

अध्याय 3

प्रचलित साहित्य-रूप और श्रव्य-माध्यम में उनके प्रसारण की समस्याएँ

अध्याय 3

प्रचलित साहित्य-रूप और श्रव्य-माध्यम में उनके प्रसारण की समस्याएँ

3.1 कहानी

3.1 1 कहानी का प्रसारण

(i) कथा-पाठ

(ii) नाट्य-रूपांतरण

(iii) वाचन-सह-अभिनय

3.2 उपन्यास

3.2.1 उपन्यास का प्रसारण

(i) धारावाहिक प्रसारण

(ii) नाटय-रूपांतरण

(iii) पाठ-सह-अभिनय

3.3 नाटक

3.3.1 नाटक का प्रसारण

3.3.2 रेडियो-नाटक की शक्तियाँ और सीमाएँ

3.3.3 नाटक की रेडियो-रूपांतरण

3.3.4 नाटक का रेडियो-रूपांतरण करते समय ध्यान रखने योग्य बिंदु

3.4 कविता

3.4.1 कविता का प्रसारण

(i) कविता की वाचिक परंपरा

(ii) सस्वर पाठ

(iii) भावपूर्ण पाठ

(iv) नाट्य-प्रस्तुति

(v) संगीतमय प्रस्तुति

(vi) संगीत-सह-नाट्य प्रस्तुति

3.5 निष्कर्ष

प्रचलित साहित्य-रूप और श्रव्य-माध्यम में उनके प्रसारण की समस्याएँ

प्रचलित सभी साहित्य-रूप लिखित शब्द के माध्यम को ही ध्यान में रखकर अवधारित किए जाते हैं। लिखित/मुद्रित शब्द-यानी जिसतक बार-बार लौटा जा सके, जिसका दुबारा-तिबारा पाठ संभव हो। जबकि रेडियो की सबसे बड़ी सीमा ही यही है कि यहाँ दूसरा मौका नही मिल सकता। रेडियो में, आपके शब्द, आपके वाक्य और परिच्छेद पहली बार मे ही स्पष्ट हो जाने चाहिएँ अन्यथा ये खो जायेगे। मुद्रित शब्द की तरह, यहाँ मौक़ा नही मिलता कि आप उन्हे दुबारा पढ़े।[1] यह एक बहुत बड़ी सीमा है। बहुत बड़ी चुनौती भी। 'उलझी हुई अभिव्यंजना और कठिन भाषा के लिए रेडियो में कोई स्थान नही।'[2] यहाँ संभवतः जटिल अभिव्यंजना होना चाहिए क्योंकि अभिव्यजना के उलझाव और भाषा की दुरूहता के लिए मुद्रित साहित्य में भी कोई स्थान नहीं है। लेकिन सच पूछा जाय तो यह भी एक रूढ़ोक्ति ही है क्योकि रेडियो को अगर एक कला-माध्यम के रूप में अपने-आप को स्थापित करना है तो उसे एक बेहद जटिल समय के जटिल यथार्थ को अभिव्यक्ति देनी ही होगी। उस यथार्थ को प्रतिबिंबित करनेवाली साहित्यिक रचना को उसकी सूक्ष्मताओं और बहुस्तरीयता मे पकड़ पाने का कमाल कर दिखाना होगा। अन्यथा रोचकता और बोधगम्यता के मद्दे अतिसरलीकरण और एक साथ ही अधिकतम श्रोता-समूहों को संतुष्ट कर लेने की बेतुकी क़सरत उसे चौथे दर्जे का कलारूप बनाए रखेगी। यक्ष प्रश्न यह है कि क्या रेडियो का माध्यम साहित्यिक अभिव्यक्तियों

---

1. दि टेकनीक़ ऑफ़ रेडियो-राइटिंग-लूथर वीवर, पृ॰ 22
2. 'रेडियो-लेखन'—डॉ॰ मधुकर गंगाधर—पृ॰ 107

को वहन करने मे सक्षम है भी।

प्रमुख साहित्य-रूप इस प्रकार हैं :—

गद्य विधाएँ : (i) कहानी

(ii) उपन्यास

(iii) नाटक

कविता

अकाल्पनिक गद्य-विधाएँ : (i) निबंध

(ii) संस्मरण

(iii) जीवनी

(iv) आत्मकथा

(v) यात्रा-वृत्तांत

(vi) व्यंग्य-विनोद

3.1 कहानी

कहानी एक प्रमुख कथा-विधा है। 'कथा शब्द का व्यवहार लंबे समय तक किसी ऐसी निश्चित घटना के लिए किया जाता रहा है जिसका परिणाम भी निश्चित हो। 'अमरकोश' में 'कथा' को ऐसा साहित्य रूप स्वीकार किया गया है जिसमें कल्पनातत्त्व की प्रधानता हो—'प्रबंधकल्पना कथा'। दण्डी ने अपने ग्रंथ 'काव्यादर्श' मे कथा और आख्यायिका को एक ही माना है। उनके अनुसार इनमें केवल नामभेद है—

तत्कथाऽऽख्यायिकेत्योकाजातिः संज्ञा द्वयाङ्किता।

अत्रैवान्तर्मविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ।।

'साहित्यदर्पण' में श्री विश्वनाथ कविराज ने गद्यकाव्य के अवांतर भेदो में गद्यकाव्य के उस प्रभेद को कथा की संज्ञा दी है जिसमे सरस इतिवृत्त की रचना होती है—

कथायां सरसं वस्तुगद्यदैव विनिर्मितम् ॥

ध्वन्यालोककार श्री आनंदवर्धनाचार्य ने कथा के संबंध मे लिखा है कि उसमे गद्य की संगठित रचना की बहुलता होने पर भी बंधवृत्ति रसगत औचित्य के अनुसार ही संघटन का निर्माण होना चाहिए—

कथायां तु विकट बंध प्राचुर्येऽपि गद्यस्य रस बन्धोक्तमौचित्य मतानुसर्तव्ययम्।

किन्तु 'प्राचीन उपाख्यानों (चाहे वे हितोपदेश के हों या पंचतंत्र के) की सीमा है कि उनमे कहानीकला की रचनाधर्मी प्रकृति का विकास नही हो पाता। सारी घटनाएँ किसी विचार-सूत्र या नीतिपूर्ण उक्ति में निःशेष हो जाती है।...जबकि चेखोव, मोपासाँ जैसे प्रख्यात कहानीकारों से लेकर अर्नेस्ट हेमिग्वे तक जाने कितने प्रतिभाशाली कहानीकारो ने कहानी के रूप-विधान को परिवर्तित करते-करते उसे नया, सूक्ष्म, सार्थक साहित्यिक एवं कलात्मक माध्यम बना दिया है।'[1]

यह है आधुनिक कहानी-सूक्ष्म और सार्थक साहित्यिक एवं कलात्मक माध्यम साहित्य-रूप ही नही जीवन को समझने का एक स्वतःसंपूर्ण माध्यम। 'कला के माध्यम से अभिव्यक्त अनुभव जहाँ व्यक्ति के प्रति सत्य और ईमानदार है वहीं व्यापक परिवेश को समझने मे सहायक भी है। वर्ना उस अनुभव को दूसरे के साथ शेयर करने या उसमे भागीदार होने का सवाल ही नहीं उठता। इस दृष्टिकोण तथा अनुभूति और अभिव्यक्ति की प्रामाणिकता के आग्रह ने नई कहानी को आज न तो इतना इकहरा रहने दिया है, न कटा-छँटा। स्थिति को उसके जीवंत रेशों के साथ, उसकी संपूर्णता में पकड़ने के आग्रह के कारण आज कहानी ध्वनियों, संकेतों, प्रतीकों और बिंबों के अनेक स्तरों पर एकसाथ चलती है, भाषा को अधिक

---

1 हिन्दी कहानी की रचना प्रक्रिया—परमानंद श्रीवास्तव पृ॰ 28-31

प्रभावोत्पादक और अर्थ-गंभीर बनाती है। घटना या स्थूल परिस्थिति को या तो बहुत लापरवाही से ज़िक्र भर के लिए लेती है या बहुत ही अमूर्तता के साथ। जीवित मांस के टुकड़े की तरह उसके सिरे और ततु अभी-अभी कही बड़ी जगह से जुड़े होने का अहसास देते है, जहाँ से वह टुकड़ा काटा गया है उसी के साथ और संदर्भ मे रखकर उसे समझा जा सकता है।'[1]

इतना ही नही, 'कहानी के आतरिक रूप में भी काफ़ी परिवर्तन हुआ है। कहानी का रूप इतना विस्तृत हो गया है कि बहुत से निबंध, स्केच और रिपोर्ताज भी कहानी की सीमा मे आ घुसे हैं। इसका यह मतलब है कि कहानी मे जो चीज़ पहले कथानक नाम से जानी जाती थी, उसमे कहीं-न-कहीं कोई मौलिक परिवर्तन हुआ है। इसे यो भी कह सकते हैं कि कथानक की धारणा बदल गई है। किसी समय मनोरंजक, नाटकीय और कुतूहलपूर्ण घटना-सघटन को ही कथानक समझा जाता था और आज घटना-संघटन इतना विघटित हो गया है कि लोगों को अधिकांश कहानियो में 'कथानक' नाम की चीज़ ही नहीं मिलती।[2]

3.1.1 **कहानी का प्रसारण**—इस सूक्ष्म, सार्थक, घटना-संघटन विहीन, जीवन को समझने के माध्यम-आज की कहानी के रेडियो मे प्रसारण के निम्नलिखित तरीके हो सकते हैं—

(i) **कथा-पाठ**—यह दो तरह से होता है—(क) स्वयं लेखक द्वारा, और (ख) किसी व्यवसायिक प्रसारणकर्त्ता द्वारा। आज की तारीख़ मे कहानी के प्रसारण का सर्वाधिक अपनाया जानेवाला तरीक़ा है स्वयम् लेखक द्वारा उसका पाठ। लेकिन यह सर्वाधिक गर्हित तरीक़ा भी है—अधिकतर कहानी के प्रभाव को पूरी तरह ख़त्म कर देनेवाला।

---

1. कहानी : स्वरूप और संवेदना—राजेन्द्र यादव—पृ॰ 164
2. कहानी : नयी कहानी—नामवर सिंह—पृ॰ 14

जहाँ हर माध्यम की अपनी सीमाएँ होती हैं वही संभावनाएँ भी। रेडियो-माध्यम की सबसे बड़ी सीमा है कि यहाँ श्रोता को दूसरा मौक़ा नहीं मिलता। वह पाठक की तरह उस अंश को दुबारा नही पढ सकता जो वह पूरी तरह न समझ पाया हो। लेकिन रेडियो-माध्यम की एक बहुत बड़ी शक्ति भी है। और उस शक्ति की कुंजी है अनुभवी प्रोफ़ेशनल (प्रसारणकर्त्ता) की सधी और अभिव्यक्तियो को जीवंत कर देनेवाली आवाज़ मे। एक उदाहरण लें। निर्मल वर्मा की सुप्रसिद्ध कहानी 'परिंदे' में प्यानोवादन पर लतिका के अंतर्मन में होती प्रतिक्रिया का ब्यौरा आता है—'मानो जल पर कोमल स्वप्निल उर्मियाँ भंवरो का झिलमिलाता जाल बुनती हुई दूर-दूर किनारो तक फैलती जा रही हों। लतिका को लगा कि जैसे कही बहुत दूर बर्फ़ की चोटियो से परिदो के झुंड नीचे अनजान देशो की ओर उड़े जा रहे हैं—धागे मे बंधे चमकीले लट्टुओ की तरह एक लबी, टेढ़ी-मेढी कतार मे, पहाड़ों की सुनसान नीरवता से परे, उन विचित्र शहरों की ओर जहाँ शायद वह कभी नहीं जाएगी।''[1] अब कल्पना करे एक समृद्ध स्वर के धनी प्रोफ़ेशनल की गहरी, अनुगूंजे पैदा करती आवाज़ में इस गद्यांश के गहन अभिव्यक्ति-सक्षम वाचन की। एक योग्य प्रसारणकर्त्ता अपने माइक्रोफ़ोन के लिए सटीक, सुमधुर स्वर और शुद्ध-स्पष्ट उच्चारण द्वारा श्रोताओं से एक अद्‌भुत तादात्म्य, एक आत्मीयता और विश्वास का रिश्ता-बना लेता है और अपने संस्कृत पाठ (विराम-स्थलों के सटीक इस्तेमाल, प्रश्नवाचियों और विस्मयादियों के पूर्ण संप्रेषण आदि) से तथा आवाज़ के उतार-चढ़ाव (Modulation)

---

1 'परिन्दे'—निर्मल वर्मा—प्रतिनिधि कहानियाँ—पृ० 11

> के अचूक इस्तेमाल से लेखक की अभिव्यक्ति को कई गुना अधिक असरदार और संप्रेषणीय बना सकता है। जबकि अधिकतर रचनाकार अपने पाठ से रचना और श्रोता के बीच अवधरोध ही अवरोध खड़े कर लेते है। फैज अहमद फ़ैज जैसे शायर अपना कलाम इस तरह पढ़ते थे गोया किसी दुश्मन का कलाम पढ रहे हो।[1]

कई लेखको के पास प्रभावशाली स्वर नहीं होता, यहाँ तक कि कई बार उनके उच्चारण मे गड़बड़ियाँ होती हैं। अक्सर वे माइक्रोफ़ोन के समक्ष घबड़ाहट के शिकार हो जाते है, असहज हो उठते हैं। इन सबका पहला शिकार होती है उनकी रचना जिसकी संवेदना भला श्रोता तक क्या पहुँचेगी, कई बार उकताहट और अरुचि पैदा करती है और अततः हत्या होती है प्रसारण की। एक सार्थक कहानी, जो अगर रचनाधर्मी दृष्टि से प्रसारित की जाय तो हज़ारों-हज़ार श्रोताओं को आलोड़ित कर सकती है, रचना और प्रसारण से जोड़ सकती है; सिर्फ भद्दे पाठ के कारण श्रोताओं को दूर भगाने का कारण बन जाती है।

दूसरी तरफ़, प्रसारणकर्त्ता चाहे जितना ही योग्य और अनुभवी हो, अगर वह कथा की मूल संवेदना तक ही न पहुँच पाए, तब भी रचना की हत्या होना निश्चित है। उदाहरणत. प्रेमचंद की सुप्रसिद्ध कहानी 'कफ़न' लें। माधव की पत्नी जचगी मे अकेली, असहाय दम तोड रही है और वह बाहर अपने पिता के साथ बैठा अलाव में आलू भूनकर खा रहा है। बीवी की जान बचाने के उद्यम की तो कौन कहे; इस डर से कि कहीं उसका बाप बीच मे एक आलू अधिक न खा ले, वह एक बार अपनी चीखती-चिल्लाती बीवी को देखने अंदर कोठरी तक भी नहीं जाता। और कहानी के अंत में—बीवी के कफ़न के लिए चंदे से इकट्ठा किए रुपयों से दोनो बाप-बेटे दारू पी रहे हैं, तली मछली खा रहे हैं, नाच-गा रहे हैं। ब्यौरा आता है—"और दोनो खड़े होकर गाने लगे—'ठगिनी क्यों नैना झमकावे! ठगिनी..... !' पियक्कड़ों की

---

1 'गालिब छुटी शराब'—रवीन्द्र कालिया—'हंस' अगस्त 1999, पृ. 42

आँखे इनकी ओर लगी हुई थी और यह दोनों अपने दिल में मस्त होकर गाए जाते थे। फिर दोनो नाचने लगे। उछले भी, कूदे भी। गिरे भी, मटके भी। भाव भी बताए, अभिनय भी किए। और आखिर नशे से बदमस्त होकर वही गिर पड़े।''[1]

अब अगर वाचन करनेवाला प्रसारणकर्त्ता व्यवस्था के क्रूर शोषणचक्र मे कीड़ो से भी गए-बीते बना दिए गए इन पात्रों के लिए अपने भीतर कोई सहानुभूति न जगा पाए और उनकी इस स्थिति का जिम्मेदार इस अमानुषिक दमनकारी व्यवस्था को समझने के बदले इन्हें ही बर्बर जानवर समझने लगे तो निश्चित ही इस अंश का वाचन अर्थ का अनर्थ कर देगा।

निष्कर्षतः, कथा-पाठ मूलतः कहानी की आदिम तकनीक है और कहानी को पूरी तरह कहानी बनाए रखने में सक्षम अकेली और श्रेष्ठ प्रसारण-शैली है लेकिन इस तकनीक मे कहानी का प्रसारण तभी सार्थक हो सकता है, जबकि—

(i) या तो स्वयम् लेखक एक कुशल प्रोफ़ेशनल की जरह उसका पाठ करे, या

(ii) वाचन एक योग्य, अनुभवी और संवेदनशील प्रसारणकर्त्ता द्वारा कहानी की मूल संवेदना को आत्मसात कर उसे उभारते हुए किया जाये।

(ii) नाट्य-रूपांतरण—कहानी के प्रसारण का दूसरा तरीक़ा उसके नाट्य-रूपांतरण का है। हिन्दी समेत सारी भारतीय भाषाओं की लगभग सारी विख्यात कहानियों के नाट्य-रूपांतरण आकाशवाणी ने प्रसारित किए हैं। आकाशवाणी के सिर्फ़ अखिल भारतीय कार्यक्रम मे प्रसारित नाटकों की सूची पर एक नज़र डालें तो वहाँ जैनेंद्र कुमार की 'त्यागपत्र', बुच्चि बाबू की 'आत्मवंचना', बुद्धदेव वसु की 'काल-संध्या', के॰ रघुपति की 'पोस्टमैन', मनोरंजन दाम की 'वात्या', वी॰

---

1 'कफन'—प्रेमचंद कहानी संग्रह 'कफ़न', पृ॰ 15-16

एस॰ खाण्डेकर की 'क्रौंचवध', जी॰ शंकर पिल्लै की 'मारीच', राजेन्द्र सिह बेदी की 'गर्म कोट', बदीउज़्ज़माँ की 'परदेसी', अमृता प्रीतम की 'बंद दरवाज़ा' आदि कहानियो के नाट्य-रूपांतर मिल जाएँगे। यह सूची काफी लम्बी है और अखिल-भारतीय कार्यक्रमो के अलावा लगभग 200 केंद्र अपने यहाँ से भी अपने केंद्र के कथाकारो की रचनाओ का रूपांतरण प्रसारित करते रहते हैं। विश्व-साहित्य से भी मोपासाँ, चेख़ोव, ओ0 हेनरी, समरसेट मॉम समेत लगभग सभी प्रसिद्ध कथाकारो की कहानियों के नाट्य-रूपांतरण प्रसारित हुए हैं। लेकिन कहानी के प्रसारण का यह कोई श्रेष्ठ ढंग नहीं है।

इसके दो कारण हैं :—

(अ) पहला तो यह कि नाटक के रूप में परिवर्तित होकर कहानी कहानी नहीं रह जाती। वह एक स्वतंत्र रूप ले लेती है और वह रूप नाटक का होता है। कहानी की विधा रूप ही विलुप्त हो जाता है; और

(आ) दूसरा यह कि कहानी के आधार पर नाटक भले ही तय्यार कर लिया जाय लेकिन कहानी के कई अंश, और कई बार तो वे श्रेष्ठ अंश होते हैं, नाटक में रूपांतरित हो ही नहीं सकते और अगर खींच-तानकर ऐसा किया भी जाय तो ऐसी खींचतान कहानी के कलेवर और आत्मा दोनों को ही गंभीर संकट में डाल देती है।

अमरकांत की सुप्रसिद्ध कहानी 'दोपहर का भोजन' लें। यह एक बेहद संघनित कहानी है और कलेवर में इस छोटी-सी कहानी का एक-एक शब्द अद्‌भुत व्यंजनाएँ करता है। कहानी में संवाद गिनती के हैं और वह अधिकांश विवरणों में चलती है। आरंभ के कुछ ब्यौरे हैं—
''सिद्धेश्वरी ने खाना बनाने के बाद चूल्हे को बुझा दिया और दोनों घुटनों के बीच सिर रखकर

शायद पैर की उंगलियों या ज़मीन पर चलते चीटे-चीटियों को देखने लगी। अचानक उसे महसूस हुआ कि बहुत देर से उसे प्यास लगी है। वह मतवाले की तरह उठी और गगरे से लोटा भर पानी लेकर गट-गट चढ़ा गई। खाली पानी उसके कलेजे मे लग गया और वह 'हाय राम' कहकर वही ज़मीन पर लेट गयी।

आधे घंटे तक वही उसी तरह पड़ी रहने के बाद उसके जी मे जी आया। वह बैठ गयी, आँखो को मल-मलकर इधर-उधर देखा और फिर उसकी दृष्टि ओसारे मे अधटूटे खटोले पर सोये अपने छह वर्षीय लड़के प्रमोद पर जम गई। लड़का नंग-धड़ग पड़ा था। उसके गले तथा छाती की हड्डियाँ साफ़ दिखायी देती थी। उसके हाथ-पैर बासी ककड़ियो की तरह सूखे तथा बेजान पड़े थे और उसका पेट हँड़िया की तरह फूला हुआ था। उसका मुख खुला हुआ था और उस पर अनगिनत मक्खियाँ उड़ रही थी।

वह उठी, बच्चे के मुँह पर अपना एक फटा, गन्दा ब्लाउज़ डाल दिया और एक-आध मिनट सुन्न खड़ी रहने के बाद बाहर दरवाज़े पर जाकर किवाड़ की आड़ से गली की ओर निहारने लगी। बारह बज चुके थे। धूप अत्यन्त तेज़ थी और कभी एक-दो व्यक्ति सिर पर तौलिया या गमछा रखे हुए या मज़बूती से छाता ताने हुए फ़ुर्ती के साथ लपकते हुए से गुज़र जाते।

दस-पंद्रह मिनट तक वह उसी तरह खड़ी रही, फिर उसके चेहरे पर व्यग्रता फैल गयी और उसने आसमान तथा कड़ी धूप की ओर चिंता से देखा। एक-दो क्षण बाद उसने सिर को किवाड़ से काफ़ी आगे बढ़ाकर गली के छोर की तरफ़ निहारा, तो उसका बड़ा लड़का रामचन्द्र धीरे-धीरे घर की ओर सरकता नज़र आया। ...रामचन्द्र आकर धम से चौकी पर बैठ गया और फिर बेजान-सा लेट गया। उसका मुँह लाल तथा चढ़ा हुआ था, उसके बाल अस्त-व्यस्त थे और उसके फटे-पुराने जूतों पर गर्द जमी हुई थी।

सिद्धेश्वरी की पहले हिम्मत नहीं हुई कि उसके पास जाये और वहीं से वह भयभीत

हिरनी की भाँति सिर उचका-घुमाकर बेटे को व्यग्रता से निहारती रही।[1]

क्या इन ब्यौरों का नाटय-रूपांतरण हो सकता है? निश्चय ही नही। और अगर कोशिश की भी जाय तो इन विवरणो को सिद्धेश्वरी द्वारा 'स्वगत' में कहलाने के अलावे कोई और रास्ता नही। लेकिन क्या उसका प्रभाव वही होगा जो कथाकार के ब्यौरो का है? और फिर उन अंशो का क्या होगा जहाँ कथाकार की ऐसी टिप्पणियाँ हैं—

(i) वह मतवाले की तरह उठी और गगरे से लोटा भर पानी लेकर चढ़ा गयी।

(ii) वहीं से वह भयभीत हिरनी की भाँति सिर उचका-घुमाकर बेटे को व्यग्रता से निहारती रही।

पूरी कहानी में ऐसी सारगर्भित टिप्पणियाँ बिखरी पड़ी हैं जिनके बिना कहानी का आतककारी प्रभाव निर्मित नही हो सकता। छँटनीग्रस्त और भुखमरी के कगार तक आ पहुँचे निम्नमध्यवर्गीय कर्मचारी, उसके बेरोज़गार, इस दलदल से बाहर निकलने को निरर्थक हाथ-पाँव मारते बेटों और हर क्षण इस आतंक के साये में डूबती जाती गृहणी के दोपहर के भोजन के दहला देनेवाले इस वृत्तान्त की कुछ अन्य टिप्पणियाँ एवं ब्यौरे हैं :—

(i) रामचंद्र ने खाने की ओर **दार्शनिक की भाँति** देखा।

(ii) सिद्धेश्वरी **भय तथा आतंक से अपने बेटे को एकटक निहार** रही थी। कुछ क्षण बीतने के बाद डरते-डरते उसने पूछा—"वहाँ कुछ हुआ क्या?"

(iii) रामचन्द्र ने थाली मे बचे टुकड़े से हाथ खींच लिया। सिद्धेश्वरी लोटा लेकर पानी लाने चली गयी। रामचन्द्र ने **कटोरे को उँगलियों से बजाया, फिर हाथ को थाली में रख दिया।** एक-दो क्षण बाद **रोटी के टुकड़े को धीरे से हाथ से उठाकर आँख से निहारा और अंत में इधर-उधर देखने के**

---

1. दोपहर का भोजन—ले. अमरकांत—अमरकांत की संपूर्ण कहानियाँ—पृ. 48

बाद टुकड़े को मुँह में इस सरलता से रख लिया, जैसे वह भोजन का ग्रास न होकर पान का बीड़ा हो।

(iv) सिद्धेश्वरी की समझ मे नही आया कि वह क्या करे? इन दोनो लड़कों से उसे बहुत डर लगता था। अचानक उसकी आँखे भर आईं। वह दूसरी ओर देखने लगी।

(v) पत्नी द्वारा और रोटी लेने का आग्रह करने पर—"मुंशीजी ने **पत्नी की ओर अपराधी के समान** तथा **रसोई की ओर कनखी से देखा**, तत्पश्चात् **किसी छँटे उस्ताद की भाँति बोले**, "रोटी? रहने दो, पेट काफ़ी भर चुका है, अन्न और नमकीन चीज़ों से तबीयत ऊब भी गयी है... "

(vi) सिद्धेश्वरी की समझ में नही आ रहा था कि क्या कहे? वह चाहती थी कि सभी चीज़े ठीक से पूछ ले। सभी चीज़ें ठीक से जान ले और दुनियाँ की हर चीज़ पर पहले की तरह धड़ल्ले से बात करे। पर उसकी हिम्मत नही होती थी। उसके दिल में जाने कैसा भय समाया हुआ था।

और कहानी के अंतिम विवरण हैं—

(vii) मुंशीजी के निबटने के पश्चात् सिद्धेश्वरी उनकी जूठी थाली लेकर चौके की ज़मीन पर बैठ गयी। बटलोई की दाल को कटोरे में उँड़ेल दिया, पर वह पूरा भरा नहीं। छिपुली में थोड़ी-सी चने की तरकारी बची थी, उसे पास खींच लिया। रोटियों की थाली को भी उसने पास खींच लिया। उसमे केवल एक रोटी बची थी। मोटी, भद्दी और जली उस रोटी को वह जूठी थाली में रखने जा रही थी कि अचानक उसका ध्यान ओसारे में सोये प्रमोद की ओर आकर्षित हो गया। उसने लड़के को कुछ देर एकटक देखा, फिर रोटी को दो बराबर टुकड़ों में विभाजित कर दिया। एक टुकड़े को तो अलग रख दिया और दूसरे

> टुकड़े को अपनी जूठी थाली मे रख लिया। तदुपरान्त एक लोटा पानी लेकर खाने बैठ गयी। उसने पहला ग्रास मुँह मे रखा और तब न मालूम कहाँ से उसकी आँखो से टप-टप आँसू चूने लगे।

सारा घर मक्खियो से भिन्न-भिन्न कर रहा था। आँगन की अलगनी पर एक गदी साड़ी टँगी थी, जिसमे पैबन्द लगे हुए थे। दोनो बड़े लड़कों का कहीं पता नही था। बाहर की कोठरी मे मुन्शीजी औंधे मुँह होकर निश्चिंतता के साथ सो रहे थे, जैसे डेढ़ महीने पूर्व मकान-किराया-नियंत्रण विभाग की क्लर्की से उनकी छँटनी न हुई हो और शाम को उनको काम की तलाश मे कही जाना न हो......।"[1]

क्या रेडियो माध्यम मे इन क्रियाकलापो, रेखाकित टिप्पणियों और ब्यौरों का नाट्य-रूपांतरण संभव है? निश्चित ही नहीं। कई बार तो चाक्षुष माध्यमों में भी नहीं—जैसे नं० (v) का विवरण। और इन्हीं ब्यौरों और टिप्पणियों मे कहानी की असली ताक़त छुपी होती है। ये ही कथा-विधा को नाटक और फ़िल्म से अलग करते हैं। यही कहानी की अस्मिता है और वह तभी बरकरार रह सकती है जब कहानी को कहानी के रूप में ही प्रसारित किया जाय।

एक और कहानी लें। निर्मल वर्मा की सुप्रसिद्ध कहानी 'परिंदे' भाषा के बेहद रचनात्मक प्रयोग के लिए जानी जाती है। लेखक ने इसमें अद्भुत संवेदनशील भाषा से अविस्मरणीय बिम्ब निर्मित किए हैं। उदाहरणतः—

(i) 'डॉक्टर का सवाल हवा में टँगा रह गया। उसी क्षण पियानो पर शोपाँ का नोक्टर्न ह्यूबर्ट की उँगलियों के नीचे से फिसलता हुआ धीरे-धीरे छत के अँधेरे में घुलने लगा—मानो जल पर कोमल स्वप्निल उर्मियाँ भँवरो का झिलमिलाता जाल बुनती हुई दूर-दूर किनारों तक फैलती जा रही हों। लतिका को लगा कि जैसे कहीं बहुत दूर बर्फ़ की चोटियों से परिन्दों के झुण्ड नीचे अनजान देशों

---

1 कहानी-दोपहर का भोजन-अमरकांत—पृ० 53

की ओर उड़े जा रहे है। इन दिनों अक्सर उसने अपने कमरे की खिड़की से उन्हे देखा है—धागे में बँधे चमकीले लट्टुओ की तरह वे एक लंबी, टेढ़ी-मेढ़ी कतार में उड़े जाते हैं, पहाड़ो की सुनसान नीरवता से परे, उन विचित्र शहरों की ओर जहाँ शायद वह कभी नहीं जाएगी।'[1]

(ii) 'लीड काइंडली लाइट... संगीत के सुर मानो एक ऊँची पहाड़ी पर चढ़कर हाँफती हुई साँसों को आकाश की अबाध शून्यता मे बिखेरते हुए नीचे उतर रहे हैं।

(iii) ह्यूबर्ट जब चैपल से बाहर निकला तो उसकी आँखे चकाचौंध-सी हो गईं। उसे लगा जैसे किसी ने अचानक ढेर-सी चमकीली उबलती हुई रोशनी मुट्ठी मे भरकर उसकी आँखो मे झोक दी हो। पियानो के संगीत के सुर रुई के छुई-मुई रेशों की भाँति अब तक उसके मस्तिष्क की थकी-माँदी नसों पर फड़फड़ा रहे थे।

...पियानो का हर नोट चिरन्तन ख़ामोशी की अँधेरी खोह से निकलकर बाहर फैली नीली धुंध को काटता, तराशता हुआ एक भूला-सा अर्थ खींच लाता है। गिरता हुआ हर 'पॉज़' एक छोटी-सी मौत है, मानो घने छायादार वृक्षों की काँपती छायाओं में कोई पगडंडी गुम हो गयी हो, एक छोटी-सी मौत जो आनेवाले सुरों को अपनी बची-खुची गूँजों की साँसें समर्पित कर जाती है... जो मर जाती है, किन्तु मिट नहीं पाती, मिटती नहीं इसलिए मरकर भी जीवित है, दूसरे सुरों में लय हो जाती है... '[2]

(iv) 'किन्तु जंगल की ख़ामोशी शायद कभी चुप नहीं रहती। गहरी नींद में डूबी

---

1. 'परिंदे'—निर्मल वर्मा—प्रतिनिधि कहानियाँ—पृ. 11

2 परिंदे—निर्मल वर्मा—पृ. 21

सपनो-सी कुछ आवाज़ें नीरवता के हल्के झीने परदे पर सलवटे बिछा जाती हैं... मूक लहरों-सी हवा मे तिरती हैं... मानो कोई दबे पाँव झाँककर अदृश्य संकेत कर जाता है—"देखो मै यहाँ हूँ.. "[1]

(v) 'वह आँखें मूँदे सोच रही थी—सोच कहाँ रही थी, जी रही थी, उस क्षण को जो भय और विस्मय के बीच भिंचा था—बहका-सा पागल क्षण।'[2]

(vi) 'देवदार पर खुदे हुए अधमिटे नाम लतिका की ओर निस्तब्ध निरीह भाव से निहार रहे थे।'[3]

(vii) 'चीड़ और बाँज के वृक्षो की कतारे साँझ के घिरते अँधेरे मे डूबने लगी, मानो प्रार्थना करते हुए उन्होंने अपने सिर नीचे झुका लिये हो। इन्ही पेड़ों के ऊपर बादलो में गिरजे का क्रॉस कही उलझा पड़ा था। उसके नीचे पहाड़ो की ढलान पर बिछे हुए खेत भागती हुई गिलहरियों से लग रहे थे, जो मानो किसी की टोह में स्तब्ध ठिठक गयी हों।'[4]

ये उस कहानी के कुछ ऐसे विवरणात्मक अंश हैं जिनमें भाषा का बेहद संवेदनशील और सर्जनात्मक प्रयोग हुआ है। अब अगर इस कहानी का नाट्य-रूपांतरण करने की कोशिश की जाय तो सारे नैरेटिव्स काट देने होंगे और जहाँ वे पात्रों के अंतर्द्वन्द्व का चित्रण करते हैं उन्हें पात्रों के 'स्वगत' में कहलाने के अलावा और कोई रास्ता नहीं है। लेकिन हम एक ही नाटक में कितने 'स्वगत' की जगह बना सकते हैं? फिर क्या उपर्युक्त नं॰ (iii) को 'स्वगत' मे कहलाया भी जा सकता है? और फिर नं॰ (i) और (ii) के विवरण जो कहानी का वातावरण निर्मित करते हैं, और पात्रों की मनोदशा का साक्षात्कार भी कराते हैं? और नं॰ (v) का

---

1. परिंदे—निर्मल वर्मा— पृ॰ 27,
2. वही, पृ॰ 28
3. वही, पृ॰ 29
4. वही, पृ॰ 30

विवरण? क्या इनका किसी भी तरह नाट्य-रूपांतरण संभव है? संभवत: नही।

कहानी का एक प्रसंग है जहाँ नायिका लतिका कुछ कहती चली जा रही है और अचानक देखती है कि, ह्यूबर्ट उसकी ओर आतंकित भयाकुल दृष्टि से देख रहा है। वह सिटपिटाकर चुप रह गई।'[1] क्या इस आतंकित, भयाकुल दृष्टि का सवाद मे अनुवाद हो सकता है?

और अंततः कहानी का 'क्लाइमैक्स'—'डॉक्टर के जाने पर लतिका कुछ देर तक अँधेरे मे रेलिंग से सटी खड़ी रही। हवा चलने से कॉरीडोर मे जमा हुआ कुहरा सिहर उठता था। शाम को सामान बाँधते हुए लड़कियो ने अपने-अपने कमरे के सामने जो पुरानी कॉपियो, अख़बारो और रद्दी के ढेर लगा दिये थे, वे सब अब अँधेरे कॉरीडोर मे हवा के झोंको से इधर-उधर बिखरने लगे थे।

लतिका ने लैम्प उठाया और अपने कमरे की ओर जाने लगी। कॉरीडोर मे चलते हुए उसने देखा, जूली के कमरे से प्रकाश की एक पतली रेखा दरवाज़े के बाहर खिंच आयी है। लतिका को कुछ याद आया। वह कुछ क्षणों तक साँस रोके जूली के कमरे के बाहर खड़ी रही। कुछ देर बाद उसने दरवाज़ा खटखटाया। भीतर से कोई आवाज़ नहीं आयी। लतिका ने दबे हाथो से हल्का-सा धक्का दिया, दरवाज़ा खुल गया। जूली लैम्प बुझाना भूल गयी थी। लतिका धीरे-धीरे दबे पाँव जूली के पलँग के पास चली आयी। जूली का सोता हुआ चेहरा लैम्प के फीके आलोक में पीला-सा दीख रहा था। लतिका ने अपनी जेब से वही नीला लिफ़ाफ़ा निकाला और उसे धीरे-से जूली के तकिये के नीचे दबाकर रख दिया।'[2] दृष्टव्य है कि 'सिहर उठता' कुहरा, फेंकी हुई रद्दी, जूली के कमरे से आती 'प्रकाश की पतली रेखा' और लतिका द्वारा जूली के तकिये के नीचे उसका प्रेमपत्र रख देना—सब व्यंजनापरक हैं। क्या इनका नाट्य-रूपांतर हो सकता है?

---

1. परिंदे—पृ. 24
2. परिंदे—पृ. 35

ऐसा नही है कि इस कहानी का नाट्य रूपांतर नही हो सकता। हो सकता है और खूब हो सकता है। हालाँकि यह बात अमरकात की 'दोपहर का भोजन' के लिए नही कही जा सकती। ज्ञानरजन की कहानियो[1] 'घंटा', 'बहिर्गमन', 'संबंध', 'रचना-प्रक्रिया' आदि के लिए भी नही जिनमे न तो सवाद हैं न ही घटनाएँ—बस कथाकार प्रथम पुरुष मे पाठक के साथ अपने 'अनुभव' बाँट रहा है। और ऐसी कहानियो की संख्या बहुत अधिक है।

सबसे बड़ी बात यह कि कहानी का रूप-विधान अलग है, आस्वाद अलग है। फिर उसे सवादो मे रूपांतरित करने की कसरत ही क्यो जबकि वह कहानी की अस्मिता के साथ प्रसारित हो सकती है?

(iii) **वाचन-सह-अभिनय**—अब तक हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि अधिकतर श्रेष्ठ कहानियो का रेडियो-नाट्य-रूपांतरण न तो संभव है न कहानी के आस्वाद की दृष्टि से काम्य ही। फिर क्या कहानी का पाठ ही उसके प्रसारण का इकलौता तरीक़ा बचता है? या कहानी के प्रसारण मे रेडियो कुछ ऐसा भी जोड़ सकता है जो श्रव्य-माध्यम में ही सभव हो, प्रिंट-माध्यम मे नहीं?

हम कथा-वाचन के अंतर्गत देख चुके हैं कि समृद्ध स्वर के धनी और अनुभवी प्रोफ़ेशनल द्वारा किये गये कथा-पाठ से कहानी के प्रसारण मे कितना कुछ जुड़ सकता है। अब अगर इस पेशेवर वाचन के साथ पात्रों के संवादों का कुशल अभिनेताओं द्वारा अभिनय भी करा लिया जाय तो एक स्वर में किये गये पाठ की एकरसता भी टूटेगी और कुशल स्वराभिनय से चरित्र और उभरकर श्रोताओं के समक्ष उपस्थित होंगे, उनके साथ श्रोता का सहज तादात्म्य बन सकेगा। कई बार लिखे हुए शब्दो से पूरी तरह स्पष्ट व्यंजना नहीं हो पाती—अभिनीत संवाद उन्हें कहीं अधिक अभिव्यक्ति-सक्षम

---

1 प्रतिनिधि कहानियाँ—ज्ञानरंजन

बना देते हैं। 'परिन्दे' कहानी के ही एक अंश को वाचन सह अभिनय के रूप में देखें :—

वाचक : वे दोनो फिर चलने लगे। हवा का वेग ढीला पड़ने लगा। उडते हुए बादल अब सुस्ताने-से लगे थे, उनकी छायाएँ नन्दा देवी और पंचचूली की पहाड़ियों पर गिर रही थीं। स्कूल के पास पहुँचते-पहुँचते चीड़ के पेड़ पीछे छूट गये, कही-कही खुबानी के पेड़ो के आस-पास बुरुंस के लाल फूल धूप में चमक जाते थे। स्कूल तक आने में उन्होंने पोलो-ग्राउण्ड का लम्बा चक्कर लगा लिया था।

अभिनय–

ह्यूबर्ट : मिस लतिका, आप कहीं छुट्टियो में जाती क्यो नही—सर्दियो में तो यहाँ सबकुछ वीरान हो जाता होगा?

लतिका : अब मुझे यहाँ अच्छा लगता है। पहले साल अकेलापन कुछ अखरा था—अब आदी हो गयी हूँ। क्रिसमस से एक रात पहले क्लब में डान्स होता है, लॉटरी डाली जाती है और रात को देर तक नाच-गाना होता रहता है। नये साल के दिन कुमाऊँ रेजीमेण्ट की ओर से परेड-ग्राउण्ड में कार्नीवाल किया जाता है, बर्फ़ पर स्केटिंग होती है, रंग-बिरंगे ग़ुब्बारों के नीचे फ़ौजी बैण्ड बजता है, फ़ौजी अफ़सर फ़ैन्सी-ड्रेस में भाग लेते हैं—हर साल ऐसा ही होता है, मि॰ ह्यूबर्ट। फिर कुछ दिनों बाद विण्टर-स्पोर्ट्स के लिए अंग्रेज़ टूरिस्ट आते हैं। हर साल मैं उनसे परिचित होती हूँ, वापिस लौटते हुए वे हमेशा वादा करते हैं कि अगले साल भी आयेंगे, पर मैं जानती हूँ कि वे नहीं आयेंगे, वे भी जानते हैं कि वे नहीं आयेंगे, फिर भी हमारी दोस्ती में कोई अंतर नहीं पड़ता। फिर... फिर कुछ दिनों बाद पहाड़ों पर

बर्फ़ पिघलने लगती है, छुट्टियाँ ख़त्म होने लगती है, आप सब लोग अपने-अपने घरो से वापिस लौट आते है—और मि॰ ह्यूबर्ट पता भी नही चलता कि छुट्टियाँ कब शुरू हुई थी, कब खत्म हो गयी...

वाचक : लतिका ने देखा कि ह्यूबर्ट उसकी ओर आतंकित भयाकुल दृष्टि से देख रहा है। वह सिटपिटा कर चुप हो गयी। उसे लगा, मानो वह इतनी देर से पागल-सी अनर्गल प्रलाप कर रही हो।

लतिका : मुझे माफ़ करना मि॰ ह्यूबर्ट, कभी-कभी मैं बच्चों की तरह बातों में बहक जाती हूँ।

ह्यूबर्ट : मिस लतिका...

वाचक : लतिका ह्यूबर्ट के भारी स्वर से चौंक-सी गयी। वह चलते-चलते रुक गया था।

लतिका : क्या बात है मि॰ ह्यूबर्ट?

ह्यूबर्ट : वह पत्र... उसके लिए मैं लज्जित हूँ। उसे आप वापिस लौटा दे, समझ लें कि मैंने उसे कभी नहीं लिखा था।

वाचक : लतिका कुछ समझ न सकी, दिग्भ्रान्त-सी खड़ी हुई ह्यूवर्ट के पीले उद्विग्न चेहरे को देखती रही। ह्यूबर्ट ने धीरे-से लतिका के कन्धे पर हाथ रख दिया।

ह्यूबर्ट : कल डॉक्टर ने मुझे सबकुछ बता दिया। अगर मुझे पहले से मालूम होता तो... तो...

लतिका : मि॰ ह्यूबर्ट...

वाचक : लतिका से आगे कुछ भी नहीं कहा गया। उसका चेहरा सफ़ेद हो गया था।

दोनों चुपचाप कुछ देर तक स्कूल के गेट के बाहर खडे रहे।[1]

इस अंश मे लतिका के मोनोलॉग जैसे लंबे संवाद का अगर कुशलता से अभिनय किया जाय तो उसके बहानो के खोखलेपन और क्रन्दन को रेशा-रेशा संप्रेषित कर सकता है। इसी तरह सिर्फ़ दो शब्दों 'मि॰ ह्यूबर्ट' मे जो आघात और संवेदना के शेड्स हैं उन्हे समर्थ अदायगी बिल्कुल साफ़ अभिव्यक्ति दे सकती है।

संगीत एवम् ध्वनि-प्रभाव

इस प्रकार वाचन-सह-अभिनय की शैली कहानी के पाठ की तुलना मे कही अधिक प्रभावशाली हो सकती है। अब अगर इसमे संगीत और ध्वनि-प्रभावो को भी सम्मिलित कर ले जो कि प्रिंट-माध्यम मे असंभव है तो यह प्रभाव कई गुना बढ़ सकता है।

उदाहरणतः, ऊपर दिए कथा-अंश मे संवादों के साथ पदचाप, पत्तो की मरमराहट जंगल के प्रभाव, हवा और परिन्दों की फड़फड़ाहट आदि प्रभाव सम्मिलित कर लें तो कहानी पूरी तरह श्रोता के मानस-पटल पर सजीव हो उठेगी। पियानो का संवेदनशील और दृष्टिसपत्र प्रयोग तो इस कहानी के प्रसारण मे कमाल कर सकता है। इसी तरह अमरकांत की 'दोपहर का भोजन' के अंत में अगर एक आतक पैदा करनेवाले ध्वनि-प्रभाव, मसलन चलती लू की 'हू-हू' और घड़ियाल की 'टन्न-टन्न' की अनुगूँजों, का इस्तेमाल किया जाय तो उस आतंक को कई गुना आवर्द्धित कर सकता है जो कहानी रचती है।

3.2 उपन्यास

उपन्यास वर्तमान काल की सबसे बड़ी साहित्यिक देन है।[2] यह आज के साहित्य की सबसे अधिक प्रिय और सशक्त विधा है। कारण यह है कि उपन्यास में मनोरंजन का तत्त्व तो

---

1 परिंदे—पृ॰ 25

2. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आ॰ रामचंद्र शुक्ल, पृ॰ 513

जाती है एवं भावों और घटनाओ को शृंखलाबद्ध किया जाता है तथा एक कथा-सूत्र में आबद्ध किया जाता है। हालाँकि आधुनिक उपन्यासो मे कथा सीमित और शिथिल होती जा रही है तथा विश्लेषण प्रमुख होता जा रहा है, परन्तु पाठक की दृष्टि से कथा उपन्यास की प्रथम आवश्यकता है। एक आकर्षक कथा के माध्यम से ही उपन्यास की समस्त वैचारिकता सर्वश्रेष्ठ रूप मे सप्रेषित हो सकती है।

3.2.1 **उपन्यास का प्रसारण**—प्रसारण की दृष्टि से उपन्यास सरल विधा नहीं है। आकार इसका प्रमुख कारण है। उपन्यास को कितना भी संक्षिप्त कर लिया जाय इसका पच्चीस-तीस पृष्ठों में समाना असंभव है। यानी एक घंटे के प्रसारण-खंड में भी इसका प्रसारण सभव नहीं है।

(i) **धारावाहिक प्रसारण**—उपन्यास के प्रसारण का एकमात्र तरीक़ा इसे धारावाहिक रूप मे प्रसारित करना है। आधे-आधे घंटे की तेरह या छब्बीस कड़ियो में कई प्रसिद्ध उपन्यासों का सफल प्रसारण किया भी गया है। विविध भारती से भगवतीचरण वर्मा का 'भूले-बिसरे चित्र' तथा आकाशवाणी इलाहाबाद से अमृतलाल नागर का 'बूँद और समुद्र' सफलतापूर्वक प्रसारित किया जा चुका है और बेहद लोकप्रिय भी रहा है। इस समय भी विविध भारती के 'अपना घर' कार्यक्रम में प्रेमचंद के 'निर्मला' का धारावाहिक प्रसारण किया जा रहा है।

(ii) **नाट्य-रूपांतर**—हिन्दी समेत समस्त भारतीय भाषाओं और कई विदेशी भाषाओ के उपन्यासों का नाट्य-रूपांतर सफलतापूर्वक प्रसारित किया जा चुका है लेकिन जैसा कि कहानी के संदर्भ में पहले कहा जा चुका है, रूपांतर के बाद उपन्यास एक दूसरी विधा 'नाटक' बन जाता है अतः, उसे उपन्यास का प्रसारण कहना अधिक उपयुक्त नहीं होगा।

(iii) **पाठ सह अभिनय**—कहानी की ही तरह उपन्यास के प्रसारण मे भी इस तकनीक का प्रयोग सर्वथा उपयोगी होगा। इसमे कथा-सूत्र के साथ उपन्यास की समस्त विधागत विशेषताएँ—जीवन का समग्र अंकन, विविध चरित्र, विचार और विश्लेषण आदि भी सम्मिलित की जा सकेंगी। इसमे एक वाचक कथोपकथन से इतर सारे अंशो का पाठ करता है और सारे कथोपकथन का अभिनेताओं द्वारा अभिनय किया जाता है। नाटक के सारे उपकरणो—संगीत, पार्श्व-सगीत, ध्वनि-प्रभाव, प्राकृतिक ध्वनियो आदि का भी अवसरानुकूल प्रयोग किया जाता है, जिससे एकरसता भी टूटती है और श्रोता उपन्यास का जीवंत अनुभव पाता है। आकाशवाणी इलाहाबाद से अमृतलाल नागर के उपन्यास 'बूँद और समुद्र' का प्रभावशाली प्रसारण इसी प्रविधि से किया गया था और पूर्णतः सफल रहा था।

3.3 नाटक

काव्य के मुख्यतः दो भेद हैं—**दृश्य और श्रव्य**। संस्कृत आचार्यो ने दृश्य-काव्य को रूपक कहा है। भारतीय नाट्याचार्यो ने अभिनेय नृत्य को रूपक अैर उपरूपक—इन दो वर्गों में विभाजित किया है। रंगमंच पर जो रस-भावयुक्त साहित्य-रचनाएँ अभिनीत की जाती थीं उन्हें रूपक कहा जाता था और नृत्य, नृत्त आदि को उपरूपक।

'रूपारोपात्तु रूपकम्'—अर्थात् जिसमें रूप का आरोप किया जाय वह रूपक है। अंकों की गणना, रूप का प्राधान्य, नायक की विशेषताएँ, वृत्तियों के प्रयोग आदि के आधार पर रूपक के दस और उपरूपक के अठारह भेद किये गये हैं। रूपक के दस भेदों—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, सभवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी और प्रहसन में नाटक सर्वप्रमुख है जिसमें कथा प्रख्यात, उपपाद्य यामिश्र, पाँच अवस्थाओं, पाँच अर्थप्रकृतियों, पाँच संधियों और चौंसठ संध्यांगों का विधान होता है, पाँच से दस तक अंको की योजना होती है,

नायक धीरोदात्त और प्रतापी होता है तथा जिसमे वीर, शृंगार अथवा करुण रस का प्राधान्य रहता है।[1]

नाटक की परिभाषा करते हुए धनंजय 'अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते हैं। दृश्य अर्थात् दिखाई देने योग्य होने के कारण उसे ही रूप भी कहते है। (नट में राम आदि का) आरोप कर लिया जाता है अतः नाट्य को रूप या रूपक भी कहते हैं।'[2] भरतमुनि के नाट्यशास्त्र मे स्वय ब्रह्मा नाटक की परिभाषा देते हुए कहते हैं[3] कि यह पंचम वेद नाट्य सपूर्ण त्रैलोक्य के भावो का अनुकरण है—त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्य भावानुकीर्प्तनम्। इसमे कहीं धर्म है तो कहीं खेल, कहीं अर्थज्ञान है तो कहीं शांति, कहीं हास्य है तो कहीं युद्ध कहीं काम का वर्णन है तो कहीं वध का। इस वेद मे धर्मात्मा और ज्ञानियों की ही चर्चा नहीं, प्रत्युत् इसमें कामियो के काम और अशिष्टो के सुधार की भी व्यवस्था होती है, दुर्विनीतो के निग्रह, क्लीवों की धृष्टता और शूरवीरों के उत्साह भी वर्णित होते हैं। इसी प्रकार मूर्खों की मूर्खता, विद्वानों की विद्वत्ता, धनियो के विलास, दुखियों के धीरज, व्यवसायियों के धनप्राप्ति के उपाय, आर्त्तजनो के धैर्य आदि का विवेचन होता है। अर्थात् 'जब लोगों की क्रियाओ का अनुकरण अनेक भावों और अवस्थाओं से परिपूर्ण होकर किया जाय तो वह नाटक कहलाता

---

1 नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा और दशरूपक—ह॰ प्र॰ द्विवेदी और पृथ्वीनाथ द्विवेदी, पृ॰ 81, 88, 89, 91, 86

2 अवस्थानुकृतिर्नाट्य रूपं दृश्यतोच्यते ।
रूपकं तत्समारोत्पाद दशधैव रसाश्रयम् ।।6।।
नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा और दशरूपक—ह॰ प्र॰ द्विवेदी और पृथ्वीनाथ द्विवेदी, पृ॰ 81

3 क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीड़ा क्वचिदर्थः क्वचिन्छमः।
क्वचिद्धास्य क्वचिद्युद्धं क्वचित्काम. क्वचिद्वधः ।।108।।
धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम् ।
निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां दमक्रिया ।। 109।।
नाना भावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणां नाट्यमेतन्मयाकृतम् ।।112।।
भरतमुनि का नाट्यशास्त्र, सं- एम॰ रामकृष्णन कवि, पृ॰ 54

है।'[1] और नाटक का उद्देश्य है—'दुःख से, श्रम से और शोक से आर्त्तजनों को विश्रांति प्रदान करना, धर्म, यश, आयु, हित और बुद्धि की वृद्धि करना।'[2]

यह तो हुई भारतीय नाट्यशास्त्र की परंपरा। पाश्चात्य परपरा मे यूनान के प्रसिद्ध विद्वान अरस्तू ने सर्वश्रेष्ठ नाट्य-रूप ट्रेजेडी की परिभाषा की है—'ट्रेजडी उस व्यापार-विशेष का अनुकरण है, जिसमे गंभीरता और पूर्णता हो, जिसकी भाषा प्रत्येक प्रकार के कलात्मक अलंकारों से सुसज्जित हो, और जिसमें अनेक विभाषाएँ भी पायी जाती हो, जिसकी शैली वर्णनात्मक न होकर दृश्यात्मक हो, जो करुणा और भय का प्रदर्शन करके मनोविकारों का उचित परिष्कार कर सके।'[3]

पश्चिम में प्राचीनकाल मे ट्रैजेडी और कॉमेडी दो मुख्य नाट्य-रूप थे। ट्रैजेडी मे नायक को भाग्य, नियति अथवा प्रकृति के नियम के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता था और उनको दूर करना असंभव हो जाता था तथा अंत मृत्यु में होता था। परन्तु यदि वे बाधाएँ केवल सामाजिक रूढ़ियों अथवा मानवी पूर्वाग्रहों से उत्पन्न होने के कारण दूर की जा सकती थी और नायक को अपनी इच्छापूर्ति का अवसर रहता था तो गंभीर नाटक बनता था और इसके अत में अनिवार्यतः मृत्यु नहीं होती थी। बाधाओं में कुछ और परिवर्तन हो जाय और संघर्ष में दोनों

---

1 हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास—डॉ॰ दशरथ ओझा, पृ॰ 9

2. दुःखार्त्तानां श्रमार्तानां शोकार्ताना तपस्विनाम् ।
विश्रांतिजननं काले नाटयमेतद्भविष्यति ।।114।।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हित बुद्धि-विवर्धनम् ।
विनोदजनं काले नाटयमेतद्भविष्यति ।।115।।
भरतमुनि का नाटयशास्त्र, अ॰ 1 पृ॰ 56

3. A tragedy then, is the imitation of an action that is serious and also as having magnitude complete in itself, in language, with peeasurable accessories, each kind braught in seperately in the parts of the work; in dramatic not in a narrative form with incidents adrousing pity and fear wherewith to accomplish its catharsis of such emotions

Aristotle on the art of poetry p. 35

ओर की परिस्थितियाँ बराबर हो तो कॉमेडी बनती थी। यदि बाधाएँ और निम्न प्रकार की हो, उदाहरणतः किसी हास्यास्पद परंपरा का परिणाम तो प्रहसन बनता था। कॉमेडी और गंभीर नाटक मे कथावस्तु का निर्माण चरित्र करते थे, वे ही कथावस्तु के नियामक होते थे। लेकिन प्रहसन और अतिरंजित नाटक में स्थितियाँ और घटनाएँ नियामक तत्त्व होती थी और चरित्र ही होते थे जो होने को स्थितियाँ उन्हे विवश करे।

नाटक के अन्य भेदों मे मिस्टरी नाटक, मोरैल्टी-नाटक, वृत्त-नाटक, रक्त-त्रासदी, त्रासदी-कॉमदी, हास-कॉमदी, वीरता-प्रधान नाटक, गाथा-ऑपेरा, भावात्मक-कॉमदी, पठ्य-नाटक, समस्या-नाटक, प्रहसन और अतिरंजित नाटक आदि है लेकिन आज ये नाट्य-प्रकार अपने नितांत शुद्ध रूप में बहुत कम मिलते हैं। कभी कॉमेडी नीचे आकर प्रहसन बन जाती है तो कभी प्रहसन ऊँचा उठकर कॉमेडी।

निष्कर्षतः, अवधारणा भारतीय हो या पाश्चात्य, नाटक के मूल मे कार्य-व्यापार का अनुकरण यानी कि दृश्यात्मकता है। अतः "नाटक दर्शको के सामने सवाद मे वर्णित और कार्य-व्यापार में प्रदर्शित कथा है।"[1] विचारणीय यह है कि नाटक के प्रसारण की क्या सभावनाएँ हैं?

3.3.1 नाटक का प्रसारण—'रंगमंच के नाटक और रेडियो-नाटक अपनी मूल अवधारणा मे ही—कथावस्तु और पात्रों की समानता के बावजूद एक-दूसरे से भिन्न हैं। रंगमंच आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक—इन चारों तत्त्वो को अभिनय में समेटकर चलता है। नेत्र, मुख, हाथ की मुद्राएँ, व्यंजित अर्थो वाली वाक्यावली, वस्त्राभरण, वेशभूषा तथा पात्रों के सहज रोमांच जैसी अनुभूतियों से जो कुछ सम्मिलित ढंग से दर्शक तक संप्रेषित हो जाता है, वह रेडियो-नाटक में केवल वाचिक-अभिनय के सहारे ही अभिव्यक्त होता है।

---

1. नाटक-साहित्य का अध्ययन—ब्रैंडर मैथ्यूज़, अनु.—इंदुजा अवस्थी, पृ. 53

यानी जो काम रंगमंच पर हमारी आँखें दृश्य और पात्र, दोनों के ही माध्यम से ग्रहण करती हैं वही काम रेडियो-नाटक केवल श्रव्य होकर—कान से आँखो का भी काम करता चलता है।''[1]

स्पष्ट है कि अगर नाटक का प्रसारण होना है तो उसका रेडियो-रूपांतर करना पड़ेगा क्योकि मंच और रेडियो माध्यमो मे मौलिक अंतर है। लेकिन रेडियो-रूपांतर है क्या? फेलिक्स फ़ेल्टन के अनुसार—कसाईगिरी।[2] लेकिन गीलगुड पूछते हैं कि 'क्या मंच-नाटक मे से सिर्फ़ मच-निर्देशो को निकाल देना, समय-सीमा मे फ़िट करने के लिए उसके कुछ अंशो को काट देना और कार्य-व्यापार को श्रव्य बनाने के लिए संवादों मे सबोधित होने वाले पात्रों के नाम डाल देना ही काफ़ी है?[3] लूथर वीवर का भी मानना है कि अक्सर रेडियो-रूपान्तर मंच-नाटक का इस माध्यम में प्रतिरोपण ही होता है और फलतः जो पहले ही हो चुका है उसका पोस्टमॉर्टम भर बनकर रह जाता है।[4]

वास्तव में, ''रूपांतरण एक माध्यम के लिए मनोगम्य वस्तु को दूसरे माध्यम मे प्रस्तुत करना है—हर क़ीमत पर मूल की आत्मा की रक्षा करते हुए।''[5] लेकिन इसके लिए 'ज़रूरत है दोनो माध्यमो की सांगोपांग जानकारी की ख़ासतौर से रेडियो की गहरी समझ की—इसकी ख़ूबियो की और इसकी अन्तर्निहित सीमाओ की।'[6]

---

1 शब्द की साख—केशवचंद्र वर्मा—पृ॰ 57

2. The Radio Play . its technique and possibilities - Felix Felton p 21

3. The right way to radio playwriting - Val Gielgud, P. 53

4 The Technique of Radio-writing - Luther Weaver, P. 83

5. The right way to radio playwriting - Val Gielgud, P. 55

6 The technique of Radio-writing, Luther weaver P. 83

3.3.2 रेडियो-नाटक की शक्तियाँ और सीमाएँ—रेडियो की सबसे बड़ी सीमा तो यही है कि वह चाक्षुष नहीं हो सकता—दिखा नहीं सकता। लेकिन यही उसकी संभावनाओं के द्वार भी खोलता है। "रेडियो का श्रोता अपनी कल्पना के नये क्षितिज स्वयम् निर्मित करता है। रेडियो रंगमंच की तरह परिसीमित नही करता वरन् कल्पना की उड़ान को निर्बाध मुक्त करता है।"[1]

रेडियो की एक और बेहद महत्त्वपूर्ण ख़ूबी है। नाटक की सामाजिक क्रिया और उसके दर्शक-समूह की सामाजिक प्रतिक्रिया के बरक्स रेडियो-नाटक श्रोता के निजी एकांतिक साम्राज्य में घुसपैठ करते हैं और बदले मे निजी और एकांतिक प्रतिक्रिया को ही उत्पन्न करते हैं। इस अर्थ मे रेडियो-नाटक मंच-नाटक की तुलना में अधिक सूक्ष्म और सशक्त माध्यम है।

रेडियो-नाटक की एक सीमा यह है कि लंबे संवाद यहाँ उबाऊ हो सकते हैं। शेक्सपियर के 'हेमलेट' या प्रसाद के 'स्कन्दगुप्त' के लंबे-लंबे एकालाप जहाँ उत्कृष्ट नाटकीय गद्य के उदाहरण बन गये है और दर्शकों को बाँधे रहने में पूर्णतः सक्षम हैं वहीं रेडियो-नाटक प्रायः छोटे, प्रखर और दूसरे पात्र को संबोधित करते हुए श्रोताओं के लिए बोधगम्य भाषा में ही होकर अपनी सार्थकता पाते हैं। सीमा अवधि की भी है। सुनने का सूक्ष्म माध्यम होने के कारण बोले हुए शब्द की लंबी अवधि वर्ज्य है, अतः रेडियो नाटक मंच-नाटकों की लंबी अवधि की तुलना में छोटी अवधि के ही हो सकते हैं—आमतौर से आधे घंटे और हद से हद एक घंटे की अवधि के।

इन सीमाओं के बरक्स रेडियो-नाटक को सुविधाएँ भी कई प्राप्त हैं। दृश्यांतर के लिए जहाँ मंच-नाटक मे आद्योपांत मंचीय-परिवर्तन करना पड़ जाता है, वहीं रेडियो-नाटक एक

---

1. शब्द की साख—केशवचंद्र वर्मा पृ. 57

सहज ध्वनि-व्यवधान से दृश्य परिवर्तित कर लेता है। यह अपने चरित्रो के लिए वेशभूषा का मोहताज नही होता। इस पर संकलनत्रयी का कोई बंधन नहीं होता—यह किसी भी समय देश और काल की स्थितियो को लाँघ सकता है।

रेडियो-नाटक को ध्वनि-प्रभाव और संगीत के रूप में दो बहुत बड़ी शक्तियाँ प्राप्त हैं। इनका प्रयोग मंच-नाटक मे भी होता है, लेकिन चाक्षुष दृश्य-बंधो से सयुक्त होने के कारण ध्वनि-प्रभाव वैसा सजीव चित्र-निर्माण नहीं कर पाते और संगीत उतना सार्थक और सर्जनात्मक हस्तक्षेप नही कर पाता जितना कि रेडियो-नाटक में।

3.3.3 **नाटक का रेडियो-रूपांतरण**—रेडियो-नाटक की सीमाओ और शक्तियो पर विचार करने के बाद प्रश्न यह उठता है कि मंच-नाटक का रेडियो-रूपांतरण किस हद तक मूल कृति का संप्रेषण कर सकता है? उत्तर स्पष्ट है। मंच-नाटक की मूल परिकल्पना ही चाक्षुष-माध्यम के लिए होती है इसलिए जहाँ संप्रेषण का मूलाधार दृश्य है वहाँ उनका रेडियो-रूपातरण कठिन होगा; कई बार तो बिल्कुल असंभव। हाँ, जहाँ ज़ोर श्रव्यता पर होगा; ख़ासतौर से निकटता और आत्मीयता पर, वहाँ न सिर्फ़ रूपांतरण संभव होगा बल्कि वह अपनी संप्रेषणीयता में मंच-नाटक से बढ़कर होगा। ध्वनि-प्रभाव और पाश्र्व-संगीत भी दो ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ रेडियो-रूपातर कई गुना अधिक सफल होगा। कुछ उदाहरण लें।

विजय तेंदुलकर के सुप्रसिद्ध नाटक 'ख़ामोश! अदालत जारी है' का सत्यदेव दुबे द्वारा किया गया रेडियो-रूपांतर आकाशवाणी नाटकों के अखिल भारतीय कार्यक्रम मे 1979 मे प्रसारित किया गया था। मूल मंच-नाटक के अंत में जबकि नाटक के बहाने नायिका मिस बेणारे के चरित्र पर कीचड़ उछालने के परपीड़क खेल का भरपूर सुख मंडली के सारे सदस्य ले चुके होते हैं और उसके अविवाहित मातृत्व का न्याय कर चुके होते हैं यह अंश आता है :—

(सब लोग बिना आहट किये हुए एक झुंड में भीतर के कमरे में एक-एक कर घुस

जाते हैं। रगमंच मे निश्चल और बेजान सी पड़ी हुई मिस बेणारे। दरवाजे पर यह देखता हुआ खडा सामत। वह बहुत परेशान-सा एक मर्यादा मे बँधा-बँधा दरवाज़े से धीरे से अंदर आता है। मच पर रखे हुए सामान में से चुपचाप अपना हरा तोता उठाता है और भीतर की दिशा मे वापस जाने लगता है पर भीतर नही जाता। चुपचाप पड़ी हुई बेणारे की तरफ चलकर ठिठक जाता है। उसे देखकर व्याकुल होता है। क्या करे कुछ समझ नही पाता। धीरे मे आवाज देता है।)

सामंत : बाई!

(कोई प्रत्युत्तर नहीं। वह और अधिक व्याकुल हो उठता है। दुविधा मे उसे कुछ नही सूझता। अपना हरे रंग का कपड़े का तोता दूर ही खड़ा-खडा अदब और वात्सल्य से हल्के हाथ उसके निकट रख देता है और दबे क़दम बाहर चला जाता है।)[1]

बेणारे में जरा सी अशक्त हरकत होती है और वह फिर उसी तरह निश्चल हो जाती है। कपड़े का हरे रंग का तोता उसके पास पड़ा हुआ है। कहीं से उसी के स्वर मे गीत के बोल सुनाई पड़ते हैं—

बुलबुल से सुगना कहे
क्यों गीले तेरे नैन
कहाँ रहूँ ओ सुगना दादा
कहाँ बिताऊँ रैन
कहाँ गया मेरा रैन बसेरा?

चिव चिव चिव
चिव चिव चिव रे

---

1. नाटक—'ख़ामोश! अदालत जारी है'—ले. विजय तेंदुलकर, अनु.—सरोजिनी वर्मा पृ. 112

चिव चिव चिव।

काग भैया, कागा भैया

मेरा बसेरा देखा भैया?

ना मैं भैया ना तू बहना

बात बसेरे की ना कहना

क्या जानूँ मै

तेरा बसेरा

चिव चिव चिव

चिव चिव चिव रे

चिव चिव चिव!

रेडियो-रूपांतरकार सत्यदेव दुबे इसका रूपांतर इस तरह करते हैं :—

(सब चले जाते हैं। सन्नाटा।)

सामंत : बेणारे बाई... तुम... अभी बैठी हो! ... बेणारे...

बेणारे : (टूटे स्वर में, विक्षिप्त हँसी और रुलाई मिश्रित आवाज़ हॉल मे गूँजती है) ख़ामोश अदालत जारी है.... ख़ामोश... अदालत जारी है... ख़ामोश... अदालत... ।[1]

दृष्टव्य है कि सामंत की दुविधाग्रस्त सहानुभूति जो मूल नाटक मे भतीजे के लिए ख़रीदे गये तोते को बेणारे के पास रखने में प्रकट होती है एक झिझक भरे वाक्य में स्पष्ट हो जाती है। मूल नाटक के गीत का प्रयोग सत्यदेव दुबे समय बचाने के उद्देश्य से नहीं करते।

---

1. रेडियो नाटक—ख़ामोश! अदालत जारी है।—ले॰ विजय तेंदुलकर रूपा॰—सत्यदेव दुबे। रेडियो नाट्य-संग्रह (29), पृ॰ 106

इसकी जगह बेणारे का एक विक्षिप्त वाक्य सामंत (पुरुष वर्चस्व वाली व्यवस्था) की इस सतही सहानुभूति के खोखलेपन और छद्म को रेशा-रेशा उघाड़ देता है।

इसी नाटक मे नायिका मिस बेणारे का बयान आता है। विजय तेंदुलकर ने इसकी परिकल्पना नायिका के अंतर्मन मे चल रही प्रतिक्रिया के रूप मे की है, वास्तविक संवाद के रूप मे नहीं। न्यायाधीश का रोल करने वाला काशीकर अभियुक्त को उसकी सफ़ाई देने के लिए दस सेकेड का वक़्त देता है लेकिन वह उसी तरह चुप और बेजार है। पार्श्व-संगीत उभरता है। प्रकाश बदलता है। सम्पूर्ण कोर्ट जिस स्थिति में है उसी स्थिति में निस्तब्ध हो जाता है और अब तक बेजान बैठी हुई बेणारे उठकर खड़ी हो जाती है और अँगड़ाई लेकर बोलना शुरू करती है। और जब संवाद ख़त्म होता है, अंधकार होता है फिर उजाला। सेकेंड की टिकटिक सुनाई पड़ती है और बेणारे कटघरे में पहले की तरह निश्चल और चुप है। न्यायाधीश घड़ी देखकर कहता है—'टाइम इज़ अप। अभियुक्त को कुछ कहना नहीं है।'[1]

लेकिन सत्यदेव दुबे रेडियो-रूपांतर मे अवास्तविक संवाद का विधान नहीं करते। तकनीकी दृष्टि से अनुगूँज भरे (ईको) संवाद से यह हो तो सकता था लेकिन निश्चय ही उतना प्रभावशाली न होता। पाँच पृष्ठ में फैले इस एकालाप में अनेक चाक्षुष छवियाँ हैं। कभी वह वक़ील की तरह अदालत से मुखातिब होती है, कभी शिक्षिका की तरह बच्चो से। कभी प्रकाश एक-एक कर सारे पात्रों पर केंद्रित होता है और वे जड़वत्, प्रेत जैसे दिखाई पड़ते हैं। रूपांतर में यथार्थ संवाद है और उसकी समाप्ति पर न्यायाधीश का उक्त संवाद आता है। कहने की ज़रूरत नहीं कि न्यायाधीश का संवाद—'टाइम इज़ अप, अभियुक्त को कुछ कहन नही है' इस यथार्थ संवाद के संदर्भ मे मूल से कितना अधिक मानीख़ेज़ हो उठता है।[2] यह है रेडियो-माध्यम के अनुरूप रूपांतर।

अब इसी नाटक के कुछ ऐसे प्रसंग जिनका रूपांतरण इतने योग्य रूपांतरकार के

1 मूल नाटक 'ख़ामोश अदालत जारी है'—पृ॰ 104 और 108

2. रूपांतर—पृ॰ 101 और 104

बावजूद यही सिद्ध करता है कि चाक्षुष माध्यम के लिये परिकल्पित होने के कारण रूपांतर की सीमा अनिवार्यतः होती ही है और वह प्रायः असल चीज़ के बराबर नही ही हो पाता।

(1) पहले अंक के अंत मे [1] नायिका मिस बेणारे बाथरूम से एकदम तरोताज़ा होकर गुनगुनाती हुई आती है कि तय की गयी योजना के अनुरूप अचानक पोंक्षे अंदर के दरवाज़े से आकर उसके सामने खड़ा हो जाता है और कहता है—"मिस लीला बेणारे! एक भयानक अभियोग के आधार पर आपको क़ैद किया जाता है और अभियुक्त के रूप में कोर्ट मे हाज़िर किया जाता है।" बेणारे पत्थर के बुत-सी सुन्न और निश्चल खड़ी उसे हतप्रभ देखती रह जाती है। काशीकर तुरंत आकर मंच पर रखी हुई न्यायाधीश की कुर्सी पर बैठ जाते हैं और उनके इशारे पर कार्णिक तथा रोकड़े फ़ौरन अभियुक्त का लकड़ी का कटघरा लिये हुए आते हैं और बेणारे के गिर्द रख देते हैं। वक़ील मि॰ सुखात्मे काला कोट पहनते हुए आते हैं और बहस के लिए तत्पर हो जाते हैं। न्यायाधीश का संवाद आता है—"अभियुक्त मिस बेणारे! इंडियन पेनल कोड 302 कॉलम के अनुसार आपके ऊपर भ्रूण-हत्या का आरोप लगाया गया है। अभियोग आपको मान्य है या अमान्य?" बेणारे सुन्न और निश्चल है। सब स्तब्ध हैं तथा वातावरण में भयंकर गंभीरता और तनाव है।

रूपांतर में भी[2] जज का संवाद ठीक इसी तरह आता है। उसके वाद एक हल्की खुसर-फुसर—'भ्रूण-हत्या का आरोप' फिर सन्नाटा। फिर श्रीमती काशीकर का संवाद—"अरे मिस बेणारे तुम तो कुर्सी के सहारे एकदम सन्न खड़ी रह गई।"

स्पष्ट है कि मूल नाटक में जो वातावरण जज के कुर्सी पर बैठने से, तुरत-फुरत कटघरा लगा देने से, वक़ील का कोट पहनते हुए आने आदि से बनता है वह सिर्फ़ संवादों

---

1 वही नाटक 'ख़ामोश अदालत जारी है'—पृ॰ 39-40

2 रूपांतर—पृ॰ 61

से नही बन सकता। अगर जज के संवाद के बाद एक झन्नाटेदार, आघातपरक ध्वनि-प्रभाव और खुसर-पुसर के ऊपर मर्माहत स्वर में बेणारे का संवाद—"क्याऽऽ! भ्रूण-हत्या!!" आता तो सप्रेषण कुछ बेहतर होता लेकिन फिर भी मूल दृश्य मे नायिका को चारो तरफ़ से शिकंजे मे कस लेने का जो प्रभाव निर्मित होता है वह रेडियो-रूपांतर मे सभव नही।

(ii) दूसरे अंक के अंत में[1] प्रसंग है कि नायिका अपने साथियो की कुत्सा से बेहद आहत होकर रोती हुई मंच से बाहर भाग जाना चाहती है लेकिन दरवाज़ा अपने-आप सरक कर नीचे गिर जाने वाली सिटकिनी की वजह से बाहर से बंद हो गया है और अंदर से खुलता ही नहीं। बेणारे दरवाज़े को खींचती है, धक्के मारती है, झकझोरती है लेकिन वह किसी तरह नहीं खुलता। प्रकाश और ध्वनि के कल्पनाशील प्रयोग के साथ यह प्रसंग अद्‌भुत रूप से व्यंजनापरक हो सकता है लेकिन रूपांतर में इसे सिर्फ़ एक संवाद मे, वह भी दूसरे के मुँह से—"अरे दरवाज़े को क्या हो गया? खुल ही नही रहा",[2] निपटा दिया गया है। हालाँकि, दरवाज़ा भड़भड़ाने के आवर्धित और अनुगूँज भरे ध्वनि-प्रभाव को अगर बेणारे के 'दरवाज़ा खोलो; खोलो दरवाज़ा' के क्रंदन से गूँथा जाता तो प्रभाव अपेक्षया बेहतर होता फिर भी सिर्फ़ संवाद और ध्वनि-प्रभाव से वैसा मार्मिक बिंब नहीं ही बन पायेगा।

(iii) नाटक के तीसरे अंक के आरंभ का एक अंश इस प्रकार है :—

[श्रीमती काशीकर बेणारे (नायिका) को (ज़बरन) कटघरे के भीतर ले जाकर खड़ा देती है। उसके चेहरे पर जाल में फँस गये शिकार जैसी दहशत और बेबसी है।]

सुखात्मे : (काला गाउन सभारंभपूर्वक चढ़ाते हुए बेणारे को देखकर) मि लॉर्ड! मुक़दमे की इस बदली हुई अत्यंत गंभीर स्थिति को देखते हुए मेरी यह

---

1. वही नाटक 'ख़ामोश अदालत जारी है'—पृ॰ 72

2 रूपांतर—पृ॰ 83

सलाह है कि न्यायमूर्ति भी अगर अपना गाउन धारण कर ले तो वह प्रभावशाली लगेगा।

काशीकर : एग्ज़ैक्टली। रोकड़े। मेरा गाउन देना!

(रोकड़े काला गाउन और विग निकालकर देता है। मिस्टर काशीकर उन्हें चढ़ा लेते हैं, और साथ ही उनके व्यक्तित्व और वातावरण की गंभीरता और भव्यता बढ़ जाती है।)

सुखात्मे : मि॰ सामंत! मिसेज़ काशीकर! पोक्षे! कर्णिका! आप सब अपनी-अपनी जगह क्रम से बैठ जायँ!

(स्वयम् सज-सँवरकर, ध्यानस्थ हो आँखें बंद कर लेते हैं। फिर धीरे- से अपने मुँह पर दो-तीन चपत लगाकर अज्ञात दिशा में तीन-चार नमस्कार करते हैं।)

पिता ने यह आदत डाल दी है, काशीकर! जब किसी कार्य के लिए जाना होता है तो कुलदेवता का स्मरण और प्रार्थना अवश्य कर लेता हूँ। उससे कितनी पवित्रता आती है? मन को बल मिलता है। (बल प्राप्त हो जाने का भाव। अखाड़े के मल्ल की तरह दो-एक क़दम चलते हैं।) गुड! नाऊ टु बिज़नेस। अभियुक्त को शपथ दिलाई जाये।

(रोकड़े डिक्शनरी लेकर बेणारे के सामने जाकर खड़ा होता है। बेणारे बुत-सी स्तब्ध और निश्चल)

काशीकर : (अपना विग संभालते हुए) अभियुक्त मिस बेणारे! शपथ ग्रहण कीजिये।[1]

उद्धृत अंश में न्यायाधीश और वक़ील का रोल कर रहे पात्रों द्वारा गाउन और विग धारण करने का प्रसंग बेहद प्रतीकात्मक है। नायिका बेणारे पर खेल-खेल में नाट्यमंडली के सदस्यों द्वारा चलाया जा रहा मुक़दमा अब खेल नहीं रहा। बेणारे के इससे भागने के प्रयत्न असफल हो गये हैं। वहाँ से बाहर निकलने का दरवाज़ा वह लाख सर पटकने पर भी खोल

---

1 मूल नाटक 'ख़ामोश अदालत जारी है'—पृ॰ 74-75

नहीं पायी है और उसे ज़बरन घसीट कर वापस कटघरे में लाया जा चुका है। उसके व्यक्तिगत जीवन की त्रासदी-अविवाहित मातृत्व का भयंकर आरोप उस पर सिद्ध होने की तरफ़ अग्रसर है और नाट्यमंडली के उसके साथी अब उसके साथी नहीं रहे, पूरी तरह न्यायकर्त्ता बन चुके है। इसी तरह देवता का स्मरण और अन्य कर्मकांड तथा उनसे प्राप्त होनेवाले बल और पवित्रता के भाव अनायास ही पुरुष वर्चस्व को धर्म से जोड़ देते हैं। लेकिन यह सारा प्रसंग कितना विज़ुअल है। चाहकर भी रूपांतरण में इनका वह प्रभाव नही उत्पन्न किया जा सकता। रूपांतरण में ये संवाद ज्यों के त्यों हैं[1] लेकिन उनका वह प्रभाव कहाँ?

वक़ील का पात्र अभिनीत कर रहे सुखात्मे का मल्ल की तरह चलना या बेणारे का बुत-सा स्तब्ध और निश्चल रह जाना ऐसे ही चाक्षुष प्रभाव हैं, और बेणारे का अर्धमृत लगना झापड़ मारने के बयान में रोकड़े का हाथ अनायास ही अपने गाल पर जाना और सच उजागर होना आदि बहुतायात अन्य ऐसे ही प्रभाव हैं जिनका रेडियो में अनुवाद नितांत असंभव है।

(iv) नाटक में सुखात्मे आरोप-पक्ष का वक़ील है और अभिनेता की कमी से बचाव के वक़ील का पात्र भी वही 'निभा देता' है।[2] अभियोग पक्ष के वक़ील का ही बचाव का भी वक़ील होने की रंग-योजना तथा अभियोग-पक्ष में उसका 'मल्ल की तरह चलना' और क्रूर होने की हद तक उत्साही होना लेकिन बचाव-पक्ष मे नितांत निरुत्साही, निराशापूर्ण, ग्लानि में दबा हुआ और क्षमाप्रार्थी रुख़ अख़्तियार करना नाटक के कथ्य के संदर्भ में बेहद गंभीर अर्थ-व्यंजनाएँ करता है परन्तु, कहने की ज़रूरत नहीं कि यह रंग-योजना रेडियो-रूपांतर में बहुत-कुछ अपना अर्थ खो देती है। हालाँकि, रूपांतर मे भी यह योजना रखी गयी है[3] लेकिन सिर्फ़ न्यायाधीश द्वारा यह कहला देना कि—'चलो भाई सुखात्मे,

---

1 रूपांतरण—पृ॰ 84

2 वही नाटक 'खामोश अदालत जारी है'—पृ॰ 43, 101, 102, 103

3 रूपांतर—पृ॰ 63, 101

आरोपी के भी वक़ील तुम्हीं हो', क़तई काफ़ी नहीं है। अव्वल तो ज़रा सा चूकने या भूलने से श्रोता गड़बड़झाले मे पड़ सकता है, ऊपर से चाक्षुष प्रभावों से कटकर इस योजना की दहाई प्रभविष्णुता भी बची नही रहती।

एक अन्य नाट्य-रूपांतर देखे। आकाशवाणी के संग्रहालय की प्रतिष्ठित प्रस्तुतियो मे ऑर्थर मिलर के सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ी नाटक 'डेथ ऑफ़ ए सेल्समैन' का रेडियो-रूपातर उच्च स्थान रखता है। आकाशवाणी से नाटकों के अखिल भारतीय कार्यक्रम मे 28 अगस्त 1969 को इसका प्रसारण हुआ था। मूल नाटक में रंग-योजना तथा ध्वनि, प्रकाश और संगीत का प्रयोग बेहद दिलचस्प और कल्पनाशील है।

नाटक का नायक विली लोमैन बार-बार अतीत में चला जाता है। बार-बार अतीत के पात्र उस तक पहुँच जाते हैं। उनमें से एक की तो मृत्यु तक हो चुकी है। अधिकतर पात्र अतीत के कल्पना-दृश्य और वर्तमान दोनों मे हैं। अतीत की वर्तमान मे बार-बार हो रही इस घुसपैठ मे अतीत को वर्तमान से अलग करने के लिए लेखक :—

(i) मंच-परिकल्पना—सेट

(ii) संगीत

(iii) प्रकाश, और

(iv) पात्रो के दोहरे रूपो का इस्तेमाल करता है।

(i) **सेट**—मंच पर विली के घर का सेट बना है जिसमे दीवालों की जगह उन्हे चिह्नित करने वाली रेखाएँ भर हैं। जब पात्र वर्तमान में होते हैं तो दीवालो का ध्यान रखते हैं तथा घर के अंदर-बाहर और एक कमरे से दूसरे कमरे में जाने के लिए दरवाज़ों का इस्तेमाल करते हैं लेकिन जब अतीत मे चले जाते हैं तो दीवारों और दरवाज़ों का अस्तित्व समाप्त हो जाता हैं और पात्र दीवालों

में से होकर चलने और बोलने लगते हैं।[1]

(ii) **प्रकाश**—नायक जब भी अतीत की किसी गहरे जुड़ाव वाली घटना की कल्पना मे खोने लगता है तो प्रकाश का ऐसा विधान किया गया है कि सारा घर हरे पत्तो से ढँक जाय। जब वर्तमान का दृश्य आता है तो पत्ते हट जाते है।[2]

(iii) **संगीत**—नायक विली के कल्पना-दृश्यो के लिए बाँसुरी की एक बेहद स्वप्निल धुन का प्रयोग किया गया है जिसमें "हरी घास और पेड़ों और खुले आकाश" का चित्रण है।[3]

इसी तरह जब भी नायक के बेटे विफ़ और हैपी अपने बचपन के रूप में आते हैं तो सगीत का एक चटख़ और उत्साहपूर्ण टुकड़ा प्रयुक्त होता है।[4]

नायक विली के मृत भाई बेन के अवतरित होने पर भय उत्पन्न करने वाले संगीत का विधान है।[5]

(iv) **पात्रों के दोहरे रूप**—नाटक के कई पात्र-विली, उसकी पत्नी—नायिका लिंडा, बेटे-विफ़ और हैपी, भाई-चार्ली और भाई का बेटा—बर्नार्ड—वर्तमान और अतीत दोनों रूपों में मंच पर आते हैं। बेटे अतीत में बच्चे हैं और उनकी भूमिका बच्चे करते हैं जबकि शेष पात्रों मे समय का अंतर वेश-भूषा, मेक-अप और मैनरिज़्म से रेखांकित किया जाता है।[6]

---

1. 'Death of a salesman'—Arthur Miller—Collected Plays Pp. 131, 147, 148, 156
2. वही, पृ० 142, 151, 200, 220
3. वही, पृ० 130, 173, 183, 184, 193, 209
4. वही, पृ० 143, 184, 213
5. वही पृ० 154, 183, 218
6. वही पृ० 143, 150, 184, 202, 213

स्पष्ट है कि रेडियो-प्रस्तुति के लिए इस नाटक का रूपांतरण बेहद चुनौती भरा था। अतीत के कल्पना-दृश्यो, और ये कोई पारंपरिक और साफ़-सुथरे फ़्लैश-बैक नहीं हैं जहाँ आम तौर से कोई पात्र अतीत का बयान कर रहा होता है, वर्तमान के दृश्यो पर अचानक अतीत का दृश्य हावी होने लगता है और दोनो काफ़ी देर तक एक-दूसरे को काटते भी चलते हैं, का रूपांतरण काफी ख़तरनाक था। साथ ही सेट और प्रकाश-व्यवस्था के इंगितों का सहारा भी यहाँ उपलब्ध न था। लेकिन संगीत का प्रयोग यहाँ भी हो सकता था बल्कि सिर्फ़ श्रव्य-माध्यम होने के कारण ज़्यादा प्रभावशाली ढंग से हो सकता था औरसंगीत एक बेहद ताक़तवर औज़ार है। फिर रेडियो के अपने उपकरण हैं—जैसे माइक के निकट और दूर से (ऑफ़ दि माइक) संवादों की अदायगी तथा ईको (अनुगूँज भरा स्वर) और इनका इस रूपांतर में बख़ूबी इस्तेमाल हुआ है। लेकिन सबसे बड़ी बात होती है ताक़तवर कथानक। अगर कथानक डुबो लेने वाला हो, कथ्य हिला देने वाला तथा प्रकरण-विधान (सिनैरियो) कल्पनाशील हो और अभिनय स्तरीय तो नाटक की योजना चाहे जितनी भी जटिल हो श्रोता को उसकी तह तक पहुँचने में कोई कठिनाई नही होती।

नाटक के दूसरे अंक में एक बेहद जटिल संरचना वाला प्रकरण है। पैंतीस वर्षों के लगातार जीवन-संघर्ष के बाद नायक विली थक-टूटकर अब डूबने के कगार पर है। पैंसठ की उम्र में भी उसे अपनी आजीविका का इंतज़ाम करना है, घर और इंश्योरेंस की किश्तें देनी हैं। लेकिन बढ़ती उम्र और चौतरफ़ा हताशा के कारण अब उसकी शारीरिक-मानसिक स्थिति ऐसी नहीं है कि वह सैकड़ों मील गाड़ी चलाये और माल बेचे। पैंतीस साल की नौकरी के बाद भी उसकी कंपनी ने उसकी तनख़्वाह बंद कर दी है और उसे सिर्फ़ कमीशन से अपना जीवन चलाना है। ऊपर से दोनो बेटे भी काफ़ी उम्र हो जाने के बावजूद कहीं क़ायदे से स्थिर नहीं हो पाये हैं। विली अपने मालिक से कहने जाता है कि उसे न्यूयॉर्क में ही नौकरी करने दी जाय; अब उससे सेल्समैन का काम नहीं हो पाता, और उसे सेल्समैन के काम से भी निकाल दिया जाता है। अब वह डूबते हुए आदमी की तरह कोई सहारा तलाश रहा है और उसकी अंतिम उम्मीद उसके बेटे बिफ़ पर टिकी है जिसने पिछली रात यूँ ही उसे एक योजना

सुना दी है कि वह अपने बचपन के दोस्त से, जो कि अब करोड़ो की कंपनी का मालिक है, मिलेगा और अपनी योजना को प्रायोजित करने के लिए बड़ी रक़म हासिल करेगा (लेकिन जैसा कि यथार्थ के अनुरूप था, बिफ़ का दोस्त उसे पहचानने तक से इन्कार कर देता है। सवाल है कि विली को यह कठोर सच्चाई बतायी कैसे जाय क्योकि वह तो निरा स्वप्नजीवी है और ताउम्र ज़मीनी सच्चाइयों को नकारता आया है। रूपांतर का दृश्यांश इस प्रकार है :

विली : (माइक के दूर से पास आते हुए) क्या रहा बेटे? (हँसते हुए) सब ठीक हो गया ना?

बिफ़ : (दम लेकर) डैडी (हँसने की कोशिश करता हुआ) आज मुझे एक अनुभव हुआ।

विली : हूँ?

बिफ़ : मैं आपको शुरू से आख़िर तक सब बताता हूँ। आज का दिन बहुत ही अजीब रहा। (अपने आपको संभालते हुए) मुझे ऑलिवर का काफ़ी इंतज़ार करना पड़ा—असल में......सारा दिन। किसने यह कहा था कि मैं ऑलिवर के यहाँ सेल्समैन थ?

विली : तुम थे।

बिफ़ : नहीं डैड, मैं क्लर्क था।

विली : बीते दिनों के क़िस्सों में मेरी दिलचस्पी नहीं बिफ़, जंगल में आग लग रही है। बेटे, समझो, चारों तरफ़ बड़ी-बड़ी लपटें पहुँच रही हैं। आज मुझे......हावर्ड के यहाँ से जवाब मिल गया है।

बिफ़ : (स्तब्ध) क्या! कैसे?

विली : मेरी नौकरी छूट गयी है और तुम्हारी माँ को बताने के लिए मैं किसी अच्छी

ख़बर की तलाश में हूँ; क्योंकि उसके औरत ने बहुत दुःख सहा है।......अब बताओ, तुम्हे मुझसे क्या कहना है? तुम ऑलिवर से मिले?

बिफ़ : हाँ, मैं..... उससे मिला।......लेकिन हावर्ड ने आपको निकाला क्यो?

विली : ऑलिवर ने तुम्हारी अच्छी आवभगत की ना?

बिफ़ : हॉवर्ड आपको कमीशन पर भी काम नहीं करने देगा?

विली : (सख़्ती से काटकर) मुझे छुट्टी मिल गई है। हाँ, ऑलिवर ने तुम्हें देखा और फिर? उसने तुम्हारे गले में बाँहे डाल दी? फिर कमरे में ले गया?

बिफ़ : (कठिनाई से) हाँ......कुछ-कुछ वैसा ही......

विली : वह एक बहुत अच्छा आदमी है। ऐसे लोग अब होते ही कहाँ है? हाँ फिर? क्या यहीं तुमने जाम टकराये? फिर?

बिफ़ : (कठिनाई से) मैंने बात की......और......और उसने सुनी......

विली : तो फिर बात बन गयी? कितने पैसे दे रहा है वह? पंद्रह हज़ार डॉलर? कहीं तुमने कम पर तो हाँ नहीं कर दी? बोलो, उसने कहा क्या?

बिफ़ : उसने कहा......(अचानक फट पड़ता है) डैडी, मैं जो बताना चाहता हूँ, वह आप मुझे कहने ही नहीं दे रहे।

विली : अच्छा-अच्छा, बताओ, क्या हुआ?

बिफ़ : हैप, मैं इनसे बात नहीं कर सकता।

(ट्रम्पेट की ध्वनि के साथ विली के अतीत मे जाने वाले संगीत का टुकडा)

बर्नार्ड का स्वर : (ईको में) मिसेज़ लोमैन! मिसेज़ लोमैन, आपका बिफ़......

विली : तुम हिसाब में रह गये।

बिफ़ : हिसाब! आप क्या रहे हैं?

स्वर-बर्नार्ड : मिसेज लोमैन, मिसेज़ लोमेन, बिफ़ ....

विली : हिसाब। हिसाब। हिसाब।

बिफ़ : घबराइये मत डैडी।

स्वर-बर्नार्ड : मिसेज़ लोमैन . .

विली : (भड़कते हुए) अगर तुम हिसाब में रह न गये होते तो अब तक कुछ बन गये होते।

बिफ़ : सुनिये, मैं बताता हूँ......क्या हुआ?

विली : मिसेज़ लोमैन......

बिफ़ : मैंने उसका छह घंटे इंतज़ार किया......मैं अपना नाम लिखकर बराबर अंदर भेजता रहा। लेकिन उसने मुझे मिलने के लिए नहीं बुलाया। आख़िर वह......

(इसके पहले कि बिफ़ अपनी बात पूरी कर सके विली पूर्णतः अतीत मे जा चुका होता है।)

बर्नार्ड : मिसेज़ लोमैन, बिफ़ हिसाब में रह गया।

लिंडा : नहीं-नहीं...

बर्नार्ड : हाँ, बर्नबॉम साहब ने उसे एकदम फ़ेल कर दिया। अब स्कूल वाले उसे पास नहीं करेगे।

लिंडा : लेकिन उन्हें पास करना होगा। उसे यूनिवर्सिटी में जाना है। कहाँ है वह? बिफ़! बिफ़!!

बर्नार्ड : **वह बोस्टन गया है। क्या अंकल विली वहीं हैं?**

लिंडा : क्या! ओह, बेचारा बिफ़! बेचारा...

(अतीत का दृश्य समाप्त—सुपरइंपोज बिफ़)

बिफ़ : इसलिए अब मेरा ऑलिवर से कोई नाता नही। आप मेरी बात सुन रहे हैं ना?

विली : (अतीत मे खोया हुआ) हाँ, अगर तुम हिसाब मे न रह गये होते तो आज...

बिफ़ : हिसाब मे न रह गया होता! आप कह क्या रहे हैं?

विली : सारा दोष मेरे सिर न मढ़ो। मैं हिसाब में फ़ेल नहीं हुआ... तुम फ़ेल हुए। और तुम पेन के बारे में क्या कह रहे थे?

हैपी : कुछ नहीं डैड, ओलिवर के लिए ऐसे पेन की क़ीमत ही...

विली : (काटकर) तुम ओलिवर का पेन चुरा लाये?

बिफ़ : मैंने पेन चुराया नहीं डैडी। यही तो मैं आपको बता रहा था।

हैपी : पेन इसके हाथ में था। तभी ओलिवर अंदर चला आया। बिफ़ घबरा गया और इसने पेन अपनी जेब में रख लिया।

विली : हे भगवान! बिफ़!

बिफ़ : मेरा यह इरादा बिल्कुल नहीं था, डैडी।

(विली के अतीत के होटल प्रकरण की अनुगूँजे)

टेलीफ़ोन ऑपरेटर की फ़िल्टर आवाज़ : (ईको मे) हैलो मि॰ लोमैन। मि॰ लोमैन। आप कमरे में हैं ना?

विली : (चिल्लाते हुए) मैं कमरे में नहीं हूँ। (एक स्त्री की हँसी)

बिफ़ : (भयभीत) डैडी! क्या बात है? मैं सफल हूँगा। मैं सफल हूँगा डैडी।

विली : नहीं, तुम निकम्मे हो! नालायक हो!

बिफ़ : डैडी, मैं कोई और काम ढूँढ़ लूँगा। आप चिंता मत कीजिये।

ऑपरेटर : (ईको मे) मिस्टर लोमैन जवाब नही देते। किसी लड़के को भेजकर बुलवाऊँ?

बिली : (जैसे ऑपरेटर को चुप कराने की कोशिश कर रहा हो) नही, नही, नही! (स्त्री की हँसी)

हैपी : बिफ़ कुछ और सोचेगा, डैडी।

विली : नहीं-नहीं!

लिखे/छपे हुए पृष्ठो पर यह दृश्य-विधान जटिल लग सकता है; लग सकता है कि मंच-नाटक में पात्रों की वेश-भूषा द्वारा उनकी उम्र का अंतर और अलग-अलग सेटों द्वारा स्थान का अंतर आसानी से स्थापित नहीं किया जा सकता। इसके अलावे मंच-परिकल्पना, प्रकाश-व्यवस्था आदि का सहारा तो होगा ही। लेकिन जिसने रेडियो-नाटकों का आस्वादन किया हो, वह अच्छी तरह जानता है कि इस जटिल दृश्य-विधान का रेडियो-माध्यम में रूपांतरण बखूबी, बल्कि कई गुना बेहतर प्रभाव के साथ हो सकता है। उदाहरणतः, इस प्रकरण में रेस्ट्राँ, विली का घर और होटल का कमरा—तीन घटना-स्थल हैं और चाहे प्रकाश-व्यवस्था और सेट्स का जैसा भी प्रयोग हो, दर्शक के सामने प्रतीकात्मक रूप में ही ये स्थल उपस्थित किये जा सकते हैं। लेकिन रेडियो-प्रस्तुति में इसकी कोई समस्या नहीं। श्रोता को रेस्ट्राँ के संगीत, बातचीत और प्लेट-छुरी-काँटे की खनक के ध्वनि-प्रभाव का संकेत मिला नहीं कि वह अपनी कल्पना में पूरा रेस्ट्राँ रच लेगा—उसके एक-एक ब्यौरे के साथ। इसी तरह मंच पर मेक-अप और कॉस्ट्यूम जहाँ पात्रों के दोहरे रूपों को स्थापित करने में अनिवार्य हैं, वहीं उपरोक्त प्रकरण मे श्रोता बिना किसी व्यवधान के, तुरंत अभिनेताओं की भेसभूषा की कल्पना कर लेता है।

सबसे बड़ी बात यह है कि रेडियो-रूपांतर में संगीत और ध्वनि-प्रभाव मच की तुलना में कई गुना अधिक प्रभावशाली भूमिका निभाते हैं। मूल नाटक में प्रयुक्त बर्नार्ड, टेलीफ़ोन-ऑपरेटर और स्त्री की हँसी के ध्वनि-प्रभावो का हस्तक्षेप कभी भी वह असर नही डाल सकता जो कि रेडियो-रूपांतर मे, क्योकि दर्शक के समक्ष मंच पर रेस्ट्राँ उपस्थित है, उसमे विली, हैपी और बिफ़ अपने वर्तमान मे उपस्थित है और उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि सिर्फ़ ध्वनि-प्रभाव के हस्तक्षेप से वे विली के अंतर्मन मे चल रहे अतीत के प्रकरण तक पहुँच जायँ। इस तरह दृश्य स्वयम् सिर्फ़ श्रव्य ध्वनि-प्रभावो मे व्यवधान बन जाता है, जबकि रेडियो-रूपांतर मे बर्नार्ड या टेलीफ़ोन-ऑपरेटर की आवाज़ अनायास ही श्रोता को अतीत की ओर ले चलती है। यह रेडियो-माध्यम की आत्मीयता के कारण है, जिसमें माइक का इस्तेमाल कैमरे के क्लोज़-अप की तरह किया जा सकता है। नाटक का क्लाइमैक्स इसका और भी सटीक उदाहरण है। अपनी उद्भ्रान्त मानसिकता में विली आत्महत्या करने के नतीजे पर पहुँच चुका है। नाटक में दृश्य इस प्रकार है :—[1]

लिंडा : (पुकारकर) विली! तुम ऊपर आ रहे हो ना?

विली : (जैसे उसे, जैसे सारे द्वन्द्वो को चुप कराते हुए) श . श..! (जैसे अपना रास्ता ढूँढ़ते हुए। ध्वनियाँ, चेहरे, आवाज़ें जैसे झुण्ड बनाकर उसे घेर रही हैं और वह उन्हे झटक रहा है, रो रहा है) श...श..! (संगीत ऊँचा होता हुआ एक असहनीय चीख़ तक पहुँच जाता है। विली पागलों की तरह घर के चारों तरफ़ दौड़ रहा है) श...श...श...!

लिंडा : विली!

(कोई जवाब नहीं। लिंडा इंतज़ार करती है। बिफ़ अपने बिस्तर से उठता है। हैप्पी उठता है। बिफ़ खड़ा हो, कान लगातार सुनता है।)

---

1. डेथ ऑफ़ ए सेल्समैन—ऑर्थर मिलर—कलेक्टेड प्लेज़—पृ. 219-220

लिंडा : विली! जवाब दो विली!

(कार स्टार्ट होने और पूरी रफ़्तार से जाने की आवाज आती है।)

लिंडा : नहींऽऽ!

बिफ़ : (सीढ़ियो से नीचे दौड़कर आता हुआ) डैडीऽऽ!

(कार की बढ़ती रफ़्तार का स्वर एक धमाके की आवाज के साथ समाप्त होता है— आर्त्तनाद तक पहुँचा आवेशी संगीत भी साथ ही शांत हो जाता है। अब सिर्फ़ सेलो के एक तार के स्पंदन का स्वर शेष है। बिफ़ धीमे क़दमों से बेडरूप मे लौटता है। वह और हैपी गंभीरता से अपने जैकेट पहनते हैं। लिंडा धीरे-धीरे अपने कमरे से बाहर निकलती है। संगीत एक डेड-मार्च की धुन में बदल गया है।)

इसका रूपांतर इस प्रकार है :—[1]

लिंडा : (दूर से पुकारते हुए) विली! ऊपर आ रहे होना?

विली : (चुप कराते हुए) श...! (तरह-तरह की आवाज़ों—बचपन के बिफ़-हैपी, बर्नार्ड्र, स्त्री की हँसी, चार्ली, हार्वर्ड के संवाद का कोलाज। जैसे सबको चुप कराते हुए) श! श...श...!! (संगीत तेज़ होता हुआ असहनीय आर्न्तनाद जैसा हो जाता है) श! श!

लिंडा : (पुकारकर) विली! (फिर भय से) विलीऽ! जवाब क्यों नहीं देते? (मोटर स्टार्ट होने और पूरी गति से जाने की आवाज़) विलीऽ! नहींऽऽ!!

बिफ़ : (दौड़कर सीढ़ियाँ उतरने का प्रभाव) डैडीऽ! डैडीऽऽ!! (मोटर की गति के साथ संगीत भी तेज़ होता है। मोटर की टक्कर का प्रभाव। साथ ही संगीत भी शांत होता है। अब केवल सेलो का एक तार वज रहा है। धीरे-धीरे शोक-संगीत उभरता है।

---

1. रूपांतर—पृ॰ 72

मूल नाटक के इस प्रकरण में दृश्य और श्रव्य—दोनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। विली की शारीरिक गतियाँ हैं लेकिन जिन 'ध्वनियों, चेहरों और आवाज़ो' के झुंडों पर वह प्रतिक्रिया कर रहा है वे मात्र श्रव्य हैं। इसी तरह कार का स्टार्ट होना, पूरी गति से चलना और उसकी टक्कर सिर्फ़ श्रव्य है और सामने उस पर रिऐक्ट करते पात्र हैं। दर्शक को इस दृश्य और श्रव्य में तालमेल बिठाना है और उसका प्रभाव ग्रहण करना है, जबकि रेडियो-श्रोता के सामने सिर्फ़ ध्वनियों से निर्मित दृश्य है—एक मुकम्मल दृश्य। जब जैसी ध्वनि आती है उस दृश्य मे तदनुसार परिवर्तन हो जाते हैं; नये दृश्य जुड़ जाते हैं। उसके सामने तालमेल बिठाने की कोई समस्या नही। बेशक़ विक्षिप्त की तरह चक्कर लगाते विली की आँगिक गतियों का रूपांतर नही हो सकता, लेकिन ध्वनियों और संवादों के कोलाज का तथा कार स्टार्ट होने से लेकर दुर्घटनाग्रस्त होने तक के ध्वनि-प्रभाव का कहीं गहरा प्रभाव रेडियो प्रसारण में पड़ना तय है। अपनी नज़दीकी के कारण संगीति भी रेडियो-रूपांतर मे कई गुना अधिक असरकारी होगा। लेकिन जहाँ प्रतीक सिर्फ़ दृश्य है, वहाँ रेडियो-रूपांतर एकदम असहाय हो जाता है। जैसे मूल नाटक के आरंभ और अंत मे सेट और प्रकाश मिलकर एक बेहद सारगर्भित प्रतीक रचते हैं।

नाटक के आरंभ में मंच पर दर्शक के सामने थोड़ी देर तक सिर्फ़ विली के घर का सेट रहता है—'एक छोटा-सा कमज़ोर-सा घर', जो चारों तरफ़ से अपार्टमेंट-हाउस वाली ठोस-गगनचुंबी इमारतों के टावरों से घिरा है। आकाश की नीली रोशनी सिर्फ़ विली के घर पर पड़ रही है जबकि चारों तरफ़ की इमारतें नारंगी रंग के 'क्रुद्ध' प्रकाश से दमक रही है। विली का घर एक सपने जैसा है—सपना जो यथार्थ से उभर रहा है।[1] नाटक के अंत में अँधेरे होते मंच पर विली के घर के ऊपर उन्हीं अपार्टमेट-घरों की कठोर-गगनचुंबी इमारतों के टावर तीव्र प्रकाश में उभर रहे हैं।[2] सारी ज़िंदगी जीवन की कठोरताओं का हल सपनों में ढूँढ़ने वाले और अंत में उन कठोरताओं के समक्ष टूटकर बिखर जाने वाले विली के जीवन का यह अद्‌भुत

1. मूल नाटक 'डेथ ऑफ ए सेल्समैन'—पृ. 130

2. वही पृ. 222

प्रतीक है और रूपांतरकार एवं नाटक पढ़/देख चुके दर्शक के मन में एक कसक ही रह जाती है कि काश इस प्रतीक का भी रेडियो-रूपांतर हो पाता।

3.3.4 नाटक का रेडियो-रूपांतरण करते समय ध्यान रखने योग्य बिन्दु— अंत में कुछ बिन्दु, नाटक का रेडियो-रूपांतरण करते वक़्त जिनका अनिवार्यतया ध्यान रखा जाना चाहिए :—

(i) **मूल कथा-धारा को केंद्रित करना**—रूपांतरकार को चाहिए कि मूल नाटक की प्रमुख कथा-धारा को ही पकड़े। अवांतर कथाओं एवं छोटी-मोटी महत्त्वहीन और निरर्थक घटनाओं से बचना रेडियो-आलेख की चुस्ती, गति और समय-सीमा की दृष्टि से अनिवार्य होता है। 'स्कंदगुप्त'[1] का रूपांतरकार शर्वनाग-रामा, भटार्क और कमला, मातृगुप्त-मालिनी आदि प्रकरणों को मज़े में छोड़ सकता है। इसी तरह 'हैमलेट'[2] के रूपांतर में पोलोनियस का रोनैल्डो को अपने बेटे के आचरण की जाँच करने भेजने, राजा द्वारा गिल्डेन्स्टर्न और रोज़ेन्क्रैंज़ को हैमलेट के पास उसकी निगरानी के लिए भेजने, आदि घटनाओं को छोड़ा जा सकता है।

(ii) **पात्रों का चयन**—रेडियो-रूपांतरकार को प्रमुख पात्रों को उभारकर रखना चाहिए और महत्त्वहीन या छोटे प्रसंगों में बँधे पात्रों को छोड़ देना चाहिए। बहुत अधिक पात्रों से श्रोता तादात्म्य नहीं बना पाता।

(iii) **संवादों का चयन**—रूपांतर में सबसे अधिक सावधानी की यहीं ज़रूरत होती है। स्वर्णिम नियम यह है कि जहाँ तक संभव हो, मूल लेखक के संवादों का ही उपयोग किया जाय। "संवाद पात्रों की 'गति' है, अतः इसे

---

1. नाटक स्कंदगुप्त—जयशंकर प्रसाद—पृ. 30, 56, 57, 66, 67, 102, 104
2. नाटक हैमलेट—वि. शेक्सपियर—पृ. 59-63, 129-135

मूल लेखक के अनुरूप रखने की यथासाध्य चेष्टा करनी चाहिए।''[1] अगर संवाद रेडियो-रूपांतर के योग्य न हों, तभी उन्हें बदलना चाहिए। बेशक प्रसाद या शेक्सपियर के सवादो का संक्षिप्तीकरण तो करना ही होगा। 'दि राइट वे टु रेडियो प्लेराइटिंग' मे वैल मीलगुड इस सदर्भ मे 'प्रसारण के इतिहास मे दंतकथा का दर्जा प्राप्त कर चुके' होल्ट मारवेल द्वारा किये गये क्रॉम्पटन मैकेन्ज़ी के उपन्यास 'कारनिवाल' के रेडियो-रूपांतर का ज़िक्र करते हैं कि मैकेन्ज़ी ख़ुद नहीं पहचान पाये कि रूपांतर के कौन से संवाद उनके मूल उपन्यास से हैं और कौन से मारवेल के लिखे हुए। गीलगुल रूपांतर की इस आदर्श स्थिति को 'ए वेडिंग ऑफ टू माइड्स' कहते हैं।[2]

(iv) **संवेदनशील स्थलों की पहचान**—रेडियो-रूपांतरकार को मूल कृति के संवेदना से भरे स्थलो को प्रमुखता देनी चाहिए और उन्हें अधिकाधिक उभारकर प्रस्तुत करना चाहिए। 'लहरों के राजहंस'[3] मे नंद का एकालाप, सुंदरी के प्रसाधन में शीशा दिखाते समय भिक्षुओ के स्वर से विचलित नद के हाथ से शीशा गिरकर चूर-चूर हो जाना आदि ऐसे स्थल हैं जो रेडियो-प्रसारण मे कमाल कर सकते हैं।

(v) **माध्यम के अनुरूप दृश्यों का संकलन**—रेडियो-रूपांतरकार के लिए आवश्यक है कि वह रेडियो की शक्तियों और सीमाओं को ध्यान मे रखते हुए, माध्यम के अनुरूप दृश्यो का संकलन करे।

---

1. रेडियो लेखन—मधुकर गंगाधर—पृ. 403
2. The Right way to Radio Play Writing - Val Geitlgud P. 58
3. लहरों के राजहंस—मोहन राकेश, पृ. 112, 82

3.4 कविता

पूर्व इसके कि कविता के प्रसारण की समस्याओ पर विचार किया जाय, एक नज़र इस पर कि कविता क्या है, इस पर अवधारणाएँ क्या रही हैं?

'अग्नि-पुराण संक्षेप मे इष्ट अर्थ को प्रकट कर देनेवाली पदावली से युक्त ऐसे वाक्य को कविता मानता है जो दोषरहित और गुणयुक्त हो और जिसमे अलंकार प्रकट हों। भामह 'शब्द और अर्थ के संयोग को' काव्य कहते हैं, आचार्य विश्वनाथ 'रसात्मक वाक्य' को तो पं॰ जगन्नाथ 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले शब्द' को, प्रसिद्ध कवि ड्राइडन कविता को 'सुस्पष्ट संगीत' कहते हैं तो कॉलरिज के लिये 'सर्वोत्तम शब्द अपने सर्वोत्तम क्रम में' कविता है। वर्ड्सवर्थ के लिये कविता 'प्रबल अनुभूतियों का सहज उद्रेक है, जिसका स्रोत शांति के समय में स्मृत मनोवेगों से फूटता है' तो शैली के विचार से, 'सर्वसुखी और सर्वोत्तम मनों के सर्वोत्तम और सर्वाधिक सुखपूर्ण क्षणों का लेखा कविता है।' डॉ॰ जॉनसन कविता को उस कला के रूप में स्वीकार करते हैं 'जो कल्पना की सहायता से, युक्ति के द्वारा सत्य को आनंद से समन्वित करती है', चैंबर्स कोश 'कल्पना और अनुभूति से उत्पन्न विचारों को मधुर शब्दो मे अभिव्यक्त करने की कला' के रूप में कविता की परिभाषा करता है और मैथ्यू आरनॉल्ड कविता को 'अपने मूल रूप में जीवन की आलोचना' मानते हैं।[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'जगत् के नाना रूपों और व्यापारों को अपने योग-क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि से आबद्ध करके देखने और अपने-आप को बिल्कुल भूलकर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाने की स्थिति को हृदय की मुक्तावस्था या रसदशा' कहते हैं और 'हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती है'[2] उसे कविता। महादेवी वर्मा के अनुसार, "काव्य वास्तव में मानव के सुख-दुःखात्मक संवेदनों की ऐसी कथा है, जो उक्त संवेदनों को

---

1. काव्यशास्त्र—डॉ॰ भगीरथ मिश्र, पृ॰ 4-12
2. नि॰ 'कविता क्या है' - आ॰ रामचन्द्र शुक्ल, 'चिंतामणि' पृ॰ 141

सम्पूर्ण परिवेश के साथ दूसरे की अनुभूति का विषय बना देती है। परन्तु यह ग्रहण-संप्रेषण बुद्धि के सहयोग की भी विशेष अपेक्षा रखता है।... वस्तुतः काव्य, बुद्धि के आलोक में सवेदनाओ का संप्रेषण है।.. काव्यानुभूति मे हमारी बुद्धि और रागात्मक वृत्ति एक ऐसे बिन्दु पर मिलती है, जिसमे अपने परिवेश तथा निजत्व से हमारी तटस्थता स्वाभाविक तथा काव्यगत जीवन के प्रति हमारे ममत्वपूर्ण पूर्वराग की स्थिति सहज हो जाती है।''[1]

डॉ॰ नामवर सिंह के अनुसार, ''कविता की समृद्धि वहाँ है जहाँ वास्तविक स्थितियो के बीच से गुज़रते हुए जागरूक मानव-मन की अधिक से अधिक जीवंतता को देखने के लिए कोई विज़न मिलता है।... (कविता की) उदात्तता अतिचेतनावादी दिव्य अनुभूतियों मे नही, इतिहास से जूझते हुए मानव-मन के चेतन प्रयासों मे है, कलात्मक सिद्धि शिल्प के अतिसरलीकृत रूपों मे नहीं सर्जनात्मक भाषा के सार्थक उपयोग में है।'[2] मुक्तिबोध कविता के एजेंडा को तय करते हुए कहते हैं—''(नयी) कविता वर्तमान ह्रासग्रस्त, अधःपतनशील सभ्यता की असलियत को जब तक पहचानती नहीं है, सभ्यता के मूलभूत प्रश्नों से अपने को जब तक जोड़ नहीं लेती है, मानवता के भविष्य-निर्माण के संघर्ष से जब तक अपने को समायोजित नही कर पाती, जब तक उसमें उत्पीड़ित और शोषित मुखों के बिंब नहीं दिखायी देते, उनके हृदयो का आलोक नहीं दिखायी देता, तब तक हमारा कार्य अधूरा रहेगा।''[3]

तो इस विहंगम अवलोकन से हम पाते हैं कि 'रसात्मक वाक्य' और 'रमणीय अर्थ प्रतिपादन करने वाले शब्द', जिसकी प्राप्ति के लिए रस, रीति, अलंकार आदि संप्रदायों तक की उत्पत्ति हुई, की अवधारणा से शुरू करके कविता ने 'इतिहास से जूझते हुए मानव-मन के चेतन प्रयासों को देखने की दृष्टि' प्रदान करने तक की मात्रा की है और आज की कविता मे सिर्फ़ 'आंतरिक अनुशासन अनुभूतिजन्य सघन लयात्मकता और संवेदनीयता' की ही नहीं

---

1. 'संधिनी' की भूमिका - महादेवी वर्मा - पृ॰ 7
2. कविता के नये प्रतिमान—नामवर सिंह—पृ॰ 68
3. नि॰ 'काव्य · एक सांस्कृतिक प्रक्रिया'—मुक्तिबोध, नई कविता का आत्मसंघर्ष/मुक्तिबोध, रचनावली खंड 5 पृ॰ 200

'ह्रासमान-अधःपतनशील सभ्यता की पहचान करने और शोषित-उत्पीड़ित मानवता के भविष्य-निर्माण के संघर्ष से जुड़ने' की भी अनिवार्यता है। वास्तव मे, 'आज की कविता भाव की अपेक्षा विचार-प्रधान कविता है जहाँ विचार रचनात्मक होकर आता है, वह मन को सहलाता नहीं है वरन् उद्वेलित और सोचने के लिए विवश करता है। आज की कविता 'मुग्ध' उतना नहीं करती है जितना 'दग्ध' और यह दग्धता और विक्षोभ उतना भावाश्रित नहीं है जितना विचार-संवेदनाश्रित।'[1]

3.4.1 **कविता का प्रसारण**—अब मूल प्रश्न कि कविता के प्रसारण के आयाम क्या हैं? ख़ासतौर से आज की विचार-संवेदनाश्रित कविता के प्रसारण की क्या समस्याएँ और संभावनाएँ हैं?

(i) **कविता की वाचिक परंपरा**—वाचिक परंपरा की कविता अपनी छंदबद्धता, लयात्मकता, सहजता-सरलता और भाषा के वाचिक रूप के कारण प्रसारण के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। आदिकाल/वीरगाथाकाल से द्विवेदी युग तक की अधिकांशतः कविता वाचिक परंपरा से जुड़ती है। समस्या यह है कि समकालीन कविता मे वह परंपरा लुप्तप्राय हो चली है।

"चर्चा हमारी भी कभी संसार में सर्वत्र थी
वह सद्‌गुणों की कीर्ति मानो एक और कलत्र थी।
इस दुर्दशा का स्वप्न में भी क्या हमे कुछ ध्यान था?
क्या इस पतन ही को हमारा वह अतुल उत्थान था?"[2]

---

1 नि॰ आचार्य नंददुलारे वाजपेयी : अन्त·अनुशासनीय अभिगम—वीरेंद्र सिंह, 'पहल' 64-65 (मार्क्सवादी आलोचना विशेषांक) पृ॰ 109

2 भारत-भारती—मैथिलीशरण गुप्त—पृ॰ 2

जैसी कविताई अब सुदूर पीछे छूट गये अतीत की बात हो गई है। आज की कविता में दुरूहता एक शैलीगत विशिष्टता है जैसे कि मैथिलीशरण गुप्त में स्पष्टता का अतिरेक। फिर भी, एकदम ऐसा नहीं है कि स्पष्टता के अतिरेक वाली सपाटबयानी से बचते हुए भी अर्थगर्भित व्यंजनात्मक कविताएँ इस परपरा मे नही लिखी गयी हैं। नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल इसके स्वर्णिम उदाहरण हैं।

(अ) कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास
कई दिनो तक कानी कुतिया सोई उनके पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियो की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त।
दाने आये घर के अंदर कई दिनों के बाद
धुआँ उठा आँगन से ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठी घर भर की आँखें कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलाई पाँखें कई दिनों के बाद।[1]

(आ) घुन-खाए शहतीरों पर की बाराखड़ी विधाता बाँचे
कटी भीत है, छत चूती है, आले पर बिसतुइया नाचे
बरसाकर बेबस बच्चों पर मिनट-मिनट में पाँच तमाचे
दुखरन मास्टर गढ़ते रहते किसी तरह आदम के साँचे।[2]

(इ) यही धुआँ मैं ढूँढ़ रहा था
यही आग मैं खोज रहा था

---

1. कविता—'अकाल और उसके बाद'—प्रतिनिधि कविताएँ—नागार्जुन सं. नामवर सिंह—पृ. ९८
2 कविता—मास्टर—वही—पृ. ९८

यही गंध थी मुझे चाहिए

बारूदी छर्रे की ख़ुशबू!

ठहरो-ठहरो इन नथनों मे इसको भर लूँ.. ...

बारूदी छर्रे की ख़ुशबू!

भोजपुरी माटी सोंधी है,

इसका यह अद्भुत सोंधापन!

लहरा उट्ठी

क़दम-क़दम पर, इस माटी पर

महामुक्ति की अग्नि-गंध

ठहरो-ठहरो इन नथनों में इसको भर लूँ

अपना जनम स-कारथ कर लूँ![1]

(ई) एक बीते के बराबर

यह हरा ठिंगना चना

बाँधे मुरेठा शीश पर

छोटे गुलाबी फूल का

सजकर खड़ा है।

पास ही मिलकर उगी है

बीच में अलसी हठीली

देह की पतली,

कमर की है लचीली।

---

1. कविता—'भोजपुर'—वही पृ. 117

नील फूले फूल को

सिर पर चढ़ाकर

कह रही है जो छुए यह

दूँ हृदय का दान उसको।

और सरसो की न पूछो

हो गई सबसे सयानी

हाथ पीले कर लिए हैं

ब्याह-मंडप में पधारी

फाग गाता मास फागुन

आ गया है आज जैसे

देखता हूँ मैं, स्वयंवर हो रहा है।[1]

(उ) रनिया मेरी देस-बहन है।

मैं और रनिया एक देश की

एक रंग की एक रूप की

रोती हँसती दो कलियाँ हैं

रनिया अब तक जन्मांतर से

ज्यों की त्यों पूरी भूखी है।

मैं जन्मान्तर से वैसा ही

ज्यों का त्यो पूरा खाता हूँ।......

---

1. कविता—'चंद्रगहना से लौटती बेर'—केदारनाथ अग्रवाल - 'फूल नहीं रंग बोलते हैं'—पृ. 17

रनिया कहती है जग बदले

जल्दी बदले जल्दी बदले

मैं कहता हूँ कभी न बदले

कभी न बदले कभी न बदले।[1]

(ऊ) चंदू चना चबेना खाता

ऊबड़-खाबड़ कड़े हाड़ की

कड़ी गाँठ की देह दिखाता

सुंदरता को कोस भगाता

ऊपर धड़ के नहीं चीथड़ा

क्या जाने क्या समझ लगाता

साधू का संन्यास लजाता......

कहीं एक कोने में बैठा

हाथ चरस की चिलम दबाए

गुपचुप-गुपचुप फूँक लगाता

शेष आयु का धुआँ उड़ाता।[2]

नागार्जुन के अकाल और उसके बाद के मार्मिक-जीवंत बिंब, विकट स्थितियों में आदम के साँचे गढ़ते दुखरन मास्टर का ख़ाक़ा, केदारनाथ अग्रवाल का अविस्मरणीय प्रकृति-चित्रण और रनिया के बहाने वर्गचरित्र और वर्गस्वार्थ का सीधा-सहज उद्घाटन, बिना किसी सैद्धांतिक या शैलीगत दुरूहता के—ये और ऐसी कविताएँ न सिर्फ़ साहित्य की धरोहर हैं

---

1. कविता—'रनिया'—केदारनाथ अग्रवाल - 'युग की गंगा', पृ. 38

2 कविता—'चंदू'—केदारनाथ अग्रवाल - 'युग की गंगा', पृ. 39

बल्कि प्रसारण के लिए भी मानदंड हो सकती है।

(ii) **सस्वर पाठ**—सस्वर पाठ कविता के प्रसारण में एक नया आयाम जोडता है–कंठ के माधुर्य और धुन के आकर्षण का। हरिवंश राय 'बच्चन' से लेकर सोम ठाकुर जैसे आज के मंचीय कवियों तक अनगिनत नाम हैं—जिनके सस्वर पाठ उनकी कविता को एक अतिरिक्त आकर्षण देते रहे हैं।

दुःख भी मेरा सुख भी मेरा
किसको भूलूँ किसको गाऊँ?
जिनको गीत बनाकर गाया
जिनपर अपना प्राण चढ़ाया
वह सब मेरे अश्रु बनेंगे
सपनो जैसे दूर रहेंगे
आँसू मेरे और स्वप्न भी
मैं किस पर क्या दोष लगाऊँ?[1]

ये पंक्तियाँ अगर सुमधुर गले से और एक उपयुक्त धुन में गाकर सुनाई जायँ तो निश्चय ही इनकी संप्रेषणीयता बढ़ जायेगी। संकट दो हैं—पहला तो यह कि सस्वर पाठ में यह ख़तरा बना रहता है कि अगर कविजी गर्दभ-स्वर के स्वामी और वैसे ही सुरीले हुए तो शब्द अपनी मूल संप्रेषणीयता भी खो बैठेंगे। दूसरा संकट कविता की स्तरीयता का है। एक ख़ास मीटर और धुन में कविता को बाँधना अनिवार्यतः उसकी अभिव्यक्ति को भी सीमित करना है—यह अब सारी दुनियाँ में निर्विवाद तथ्य के रूप में स्वीकृत हो चुका है। मंचीय कवि बेशक़ गीत-रचना की ज़िद ठाने बैठे हैं, श्रोताओं में 'हिट' होने की उनकी मजबूरी भी है

---

1. कविता 'किसको भूलूँ'—रमानाथ अवस्थी—बंद न करना द्वार—पृ. 42

लेकिन, यह तीसरे-चौथे दर्जे की कविता अपेक्षाकृत लोकप्रिय भले ही हो जाय, प्रसारण की रचनात्मकता की दृष्टि से बहुत उपयोगी नहीं है।

(iii) **भावपूर्ण पाठ**—दरअसल यह एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ प्रसारण कविता को कुछ दे सकता है। उसमें कुछ जोड़ सकता है। अगर यह बड़बोलापन लगे तो यूँ कहें कि कविता का भावपूर्ण पाठ उसके संप्रेष्य तक, उसकी परतो तक श्रोता की पहुँच आसान बना सकता है, उसका कथ्य श्रोता पर अधिक प्रभविष्णुता से, अधिक सरलता से खोल सकता है। कुछ उदाहरण लें :—

(अ) सिंह की गोद से

छीनता रे शिशु कौन?

मौन भी क्या रहती वह

रहते प्राण? रे अजान!

एक मेषमाता ही

रहती है निर्निमेष–

दुर्बल वह–

छिनती संतान जब

जन्म पर अपने अभिषप्त

तप्त आँसू बहाती है;

किन्तु क्या

योग्य जन जीता है?

पश्चिम की उक्ति नहीं–

गीता है, गीता है–

मैं उन सीपियों से खेलता रहा

जो तुम्हारी रेत में पड़ी थीं

रेत में लिखता रहा गहरा और गहरा

और देखता रहा कि कितनी सफ़ाई से

अहिस्ता-अहिस्ता हर लिखा मिट जाता है।

अब शाम हो रही है

मैं अभी चला जाऊँगा

बिना यह जाने हुए कि तुम्हे भी पता है

कि कोई तुम्हारे किनारे घूमता रहा

रेत में बैठा रहा

सीपियों से खेलता रहा

अपना लिखा मिटता देखता रहा।[1]

ऊपर उद्धृत कविताओं का अगर भावाभिव्यक्ति के साथ पाठ किया जाय तो कहने की ज़रूरत नहीं कि श्रोता कैसे सहज ही उनके भावों में बहता चला जायेगा। लेकिन उद्‌बोधनात्मक और भावनात्मक कविताओं का ऐसा पाठ जैसा सफल होगा क्या आज की विचार-संवेदनाश्रित कविता का वैसा भावप्रवण पाठ संभव भी है? कुछ उदाहरण देखें :—

(अ) केवल अशोक लौट रहा है

और सब

कलिंग का पता पूछ रहे हैं

केवल अशोक सिर झुकाये हुए है

---

1 कविता 'नदी से'--सर्वेश्वर दयाल सक्सेना- प्रतिनिधि कविताएं पृ. 48

और सब

विजेता की तरह चल रहे हैं

केवल अशोक के कानों में चीख गूँज रही है

और सब

हँसते-हँसते दोहरे हो रहे हैं

केवल अशोक ने शस्त्र रख दिये है

केवल अशोक

लड़ रहा था।[1]

(आ) इस लज्जित और पराजित युग मे

कहीं से ले आओ वह दिमाग़

जो ख़ुशामद आदतन नहीं करता

कहीं से ले आओ निर्धनता

जो अपने बदले में कुछ नही माँगती

और उसे एक बार आँख से आँख मिलाने दो

जल्दी कर डालो कि फलने-फूलनेवाले हैं लोग

औरतें पियेंगी आदमी खायेंगे – रमेश

एक दिन इसी तरह आयेगा – रमेश

कि किसी की कोई राय न रह जायेगी – रमेश

क्रोध होगा पर विरोध न होगा

अर्ज़ियों के सिवाय – रमेश

---

1. कविता—'कलिंग'—श्रीकांत वर्मा, प्रतिनिधि कविताएँ—पृ. 106

ख़तरा होगा, ख़तरे की घंटी होगी

और उसे बादशाह बजायेगा – रमेश।[1]

(इ) अजीब है!

गगन में कर्फ़्यू,

धरती पर चुपचाप ज़हरीली छी : थू :,

पीपल के सुनसान घोंसलों मे पैठे हैं

कारतूस-छर्रे

जिससे कि हवेली मे

हवाओ के पल्लू भी सिहरे।

गंजे-सिर चाँद की सँवलाई किरनों के जासूस

साम-सूम नगर में धीरे-धीरे घूम-घाम

नगर के कानो के तिकोनो में छुपे हुए

करते हैं महसूस

गलियों की हाय-हाय!!

चाँद की कनखियों की किरनो ने

नगर छान डाला है।

अँधेरे को आड़े-तिरछे काटकर

पीली-पीली पट्टियाँ बिछा दीं,

समय काला-काला है।

समीप विशालकाय अँधियारे ताल पर

---

1. कविता—'आनेवाला ख़तरा'—रघुवीर सहाय—प्रतिनिधि कविताएँ—पृ. 78

सूनेपन की स्याही में डूबी हुई

चाँदनी भी सँवलाई हुई है।[1]

(ई) उसकी विवशता और छटपटाहट

जिसे एक अंतहीन मृत्यु ने

अपने सीने से चिपका रखा हो।

उसकी लटकी हुई छाती, धँसा हुआ पेट, झुके हुए कंधे, वह

कौन है हमेशा जिसकी हिम्मत नहीं केवल घुटने तोड़े जा सके?

उसके ऊँचे उठे सिर पर एक बोझ रखा है

काँटों के मुकुट की तरह

बस इतने ही से पहचानता हूँ

आज भी

उस मनुष्य की जीत को।[2]

(उ) हम सबके दामन पर दाग़

हम सबकी आत्मा में झूठ

हम सबके माथे पर शर्म

हम सबके हाथों में टूटी तलवारों की मूठ!

हम थे सैनिक अपराजेय

पर हम थे बेबस लाचार

---

1. कविता—'चाँद का मुँह टेढ़ा है'—मुक्तिबोध—प्रतिनिधि कविताएँ, पृ. 94

2. कविता—'ऊँचा उठा सिर'—कुँवर नारायण—'अपने सामने', पृ. 32

यह था कठपुतलों का खेल

ऊपर थी क़लई, पर लकड़ी के थे सब हथियार।[1]

अगर एक बार इन कविताओं को मुद्रित पृष्ठ से पढ़े और दूसरी बार किसी को इनका पाठ करने को कहे (शर्त इतनी ही है कि पाठ प्रभावशाली ढंग से—कविता को पूरी रह समझकर और उसके भावों को रेखांकित करते हुए किया जाय)। हम पायेंगे कि अपने समय से अकेले लड़ रहे व्यक्ति का संघर्ष, लज्जित और पराजित युग की चेतावनी देनेवाली ख़तरे की घंटी, काले-अँधेरे समय की क्रूरता, अपराजेय मनुष्य की सिर ऊँचा उठाये हिम्मत और शासक वर्गों की अनंत वंचना के शिकार योद्धाओं की मार्मिक त्रासदी हम तक कहीं अधिक प्रभविष्णुता के साथ पहुँच रही है।

(iv) **नाट्य-प्रस्तुति**—जिन कविताओं में विभिन्न पात्र, कथोपकथन आदि नाटकीय तत्त्व मौजूद हों उनकी नाट्य-प्रस्तुति उनमे एक अतिरिक्त आकर्षण और संप्रेषणीयता जोड़ती है।

मस्तक नत है मेरा

इसलिए नहीं कि पराजित हूँ मैं

इसलिए कि जिनके हित अग्नि जीत लाया हूँ

उनमें नहीं है साहस या संवेदना।—

......

जिसमें नहीं है साहस प्रमथ्यु बनने का

उसको बिना पीड़ा के मिल जाने वाली अग्नि

माँजती नहीं है

---

1. कविता—'पराजित पीढ़ी का गीत'—धर्मवीर भारती—सात गीत वर्ष—पृ. 44

और पशु ही बनाती है।

अग्नि मिलने पर भी

वे सब पशु के पशु हैं

जिनको नृशंस स्वाद आता है

मेरी इस मर्मान्तक पीड़ा मे।[1]

'प्रमथ्यु गाथा' के इस प्रमथ्यु-संवाद का सक्षम स्वराभिनय निश्चय ही इसमें अभिव्यक्ति के नये रंग भर देगा। साथ ही द्युपितर, अग्नि, जनसाधारण, गृद्ध आदि अलग-अलग पात्रों का अभिनय ध्वनि-प्रभावों और संगीत-प्रभावों के साथ इस कविता के प्रभाव में वृद्धि करेगा, इसमे कोई संदेह नहीं। असली समस्या यह है कि समकालीन कविता में ऐसे प्रयोग नितांत विरल हैं। अतः कविता-प्रसारण की इस शैली की संभावनाएँ भी सीमित हो जाती हैं।

(v) **संगीतमय प्रस्तुति**—प्रसाद, पंत, महादेवी, निराला, बच्चन से लेकर नीरज आदि तक के गीतों की स्वरबद्ध गेय प्रस्तुतियाँ हम रोज़ ही सुनते हैं और यदि स्वर-संयोजन एवं गायन भावानुकूल हुआ तो वे गीत के भावों को और उभारकर हम तक पहुँचाती भी हैं। आकाशवाणी इलाहाबाद से रघुनाथ सेठ के संगीत-निर्देशन में निराला के वर्षागीतों की प्रस्तुति 'बादल राग' बहुप्रशंसित रही है, लेकिन चूँकि गीत विधा ही आज की जटिल संवेदनाओं का भार वहन करने में अक्षम सिद्ध हो चुकी है, इसलिए समकालीन कविता के एक बहुत छोटे हिस्से की ही संगीतमय प्रस्तुति संभव है। फिर, इसमें कविता की अस्मिता और अभिव्यक्ति दानों का संकट भी आ खड़ा होता है। सुगम-संगीत अब संगीत की एक स्थापित विधा है। उसमें कविता की एकल सत्ता नहीं

---

1 कविता—'प्रमथ्यु गाथा'—धर्मवीर भारती—'सात गीत वर्ष'—पृ. 25

होती। इतना ही नहीं, स्वर लहरी और कंठ-माधुर्य में उसके भावों के डूब जाने का भी ख़तरा बना रहता है।

(vi) **संगीत-सह-नाट्य प्रस्तुति**—जिन कविताओं में प्रबंधात्मकता हो उनकी ऐसी प्रस्तुति बेहद सफल रहती हैं। निराला की 'राम की शक्ति पूजा', मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' की बेहद सफल प्रस्तुतियाँ हुई हैं। 'मानस', 'पद्मावत', 'कामायनी', 'साकेत' आदि में ऐसी प्रस्तुति की प्रबल संभावनायें हैं। बस सवाल फिर वही आ जाता है कथात्मक आख्यानों के समकालीन सृजन-परिदृश्य में विरल होते जाने का।

इस प्रकार, अगर कविता का प्रसारण होना है और उस प्रसारण में समकालीन रचनात्मकता को मुखरित होना है तो कविता को न काल-बाह्य शैलियों से मदद मिल सकती है न स्वर संगीत और नाटक आदि की बैसाखियाँ उसे बहुत दूर तक ले जा सकती हैं। कविता का सरलीकरण भी मदद नहीं कर सकता क्योंकि वह इस जटिल समय के जटिल भावबोध को वहन नहीं कर सकता। कविता के प्रसारण का कोई बॉक्स-आफ़िस भी नहीं हो सकता; लोकप्रियता या श्रोता-संख्या से हम इसकी सफलता नहीं आँक सकते क्योंकि हर कला के आस्वाद के लिए उसकी समझ विकसित करनी पड़ती है, संस्कार अर्जित करने पड़ते हैं। हाँ, यह ज़रूर है कि जैसे प्रयोगवाद के दौर में 'भाषा को अपर्याप्त पाकर विरामसंकेतों से, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाइप से, सीधे या उलटे अक्षरों से—सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा था कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके"[1] ऐसी कविता के लिए प्रसारण में कोई जगह नहीं।

---

1 'तार-सप्तक' में अज्ञेय का वक्तव्य—पृ. 276

फिर, संवेदना का उलझाव या दुरूहता मुद्रित कविता के लिए भी बहुत काम्य नहीं हैं, प्रसारण की तो बात ही क्या? जो अच्छी कविता होगी वह प्रसारण के लिए भी अच्छी होगी। हाँ, कविता की अर्थ-सघनता और बहुस्तरीयता उसके दूसरे-तीसरे पाठ की अपेक्षा रखती है—प्रसारण में इसे कुछ हद तक ही पूरा किया जा सकता है—पंक्तियों की एकाधिक आवृत्ति से और अगर संभव हो तो पुनर्प्रसारण से।

3.5 **निष्कर्ष**—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अधिकतर साहित्यिक विधाओं का प्रसारण सफलतापूर्वक हो सकता है। साथ ही, रेडियो अपनी विशिष्ट शक्तियों द्वारा उनके प्रसारण में संप्रेषण के नये आयाम भी जोड़ता है। कहानी एक ऐसी साहित्यिक विधा है जिसके प्रसारण के प्रति श्रोता के मन में ललक रहती है। साथ ही, यह एक ऐसी विधा भी है जिसके प्रसारण में रेडियो, प्रभावशाली पाठ, अभिनय, पार्श्व-संगीत, ध्वनि-प्रभाव आदि के रूप में अपनी तरफ़ से भी बहुत-कुछ जोड़ सकता है।

उपन्यास का प्रसारण धारावाहिक रूप में ही संभव है। परन्तु, दीर्घकाय उपन्यासों के धारावाहिक प्रसारण में भी उनका संक्षिप्तीकरण आवश्यक होता है क्योंकि बहुत लंबा चलने वाला धारावाहिक प्रसारण अपना आकर्षण खोने लगता है। कहानी के प्रसारण की ही तरह, उपन्यास के प्रसारण में भी भावप्रवण पाठ, पार्श्व-संगीत, ध्वनि-प्रभाव और अभिनेता का योग उसे और संप्रेषणीय बनाता है।

नाटक के प्रसारण के प्रति हमेशा श्रोता उत्सुक रहता है। परन्तु, रंग-नाटक के, दृश्य को ध्यान में रखकर धारित किये गये अंशों का रेडियो में रूपांतरण बेहद कठिन होता है और कई बार तो असंभव। अन्य अंशों का रूपांतरण भी श्रव्यता को दृष्टि में रखकर किया जाना आवश्यक है। संक्षेप

में, नाटक का प्रसारण रेडियो-माध्यम के लिए उसका पुनर्लेखन और पुनःप्रस्तुति है।

कविता के सफल प्रसारण की संभावना सीमित होती है क्योंकि समकालीन कविता इतिवृत्तात्मकता और अभिधेयता को नकारती है; गेय कविताएँ सफल होती हैं लेकिन वह जटिल संवेदनाओं का भार वहन नहीं कर सकती तथा जटिल और संश्लिष्ट बुनावट वाली कविताओं के अर्थ की बहुस्तरीयता का अन्वेषण रेडियो के श्रोता के लिए कठिन है। संगीत और नाटक के तत्त्व भी कविता के प्रसारण में तभी मदद कर सकते हैं जब वह छंदबद्ध और प्रबंधात्मक हो। सिर्फ़ भावप्रवण पाठ ही कविता के प्रसारण में प्रभावशाली योगदान कर सकता है।

□□□

अध्याय-4

अकाल्पनिक गद्य-विधाओं का प्रसारण

अध्याय-4

अकाल्पनिक गद्य-विधाओं का प्रसारण

4.1 निबंध

4.1.1 निबंध का प्रसारण

4.1.2 निबंध के प्रसारण की समस्याएँ

4.2 संस्मरण

4.2.1 संस्मरण का प्रसारण

4.3 जीवनी और आत्मकथा

4.3.1 जीवनी

4.3.2 आत्मकथा

4.3.3 जीवनी और आत्मकथा का प्रसारण

4.4 यात्रा-वृत्तांत

4.4.1 यात्रा-वृत्तांत का प्रसारण

4.5 रेखाचित्र

4.5.1 रेखाचित्र का प्रसारण

4.6 हास्य-व्यंग्य

4.6.1 हास्य-व्यंग्य का प्रसारण

4.7 निष्कर्ष

अकाल्पनिक गद्य-विधाओं का प्रसारण

अकाल्पनिक गद्य-विधाओं से तात्पर्य उन विधाओं से है जिनमें प्रमुखता वैचारिक-विश्लेषण अथवा व्यक्तियों या घटनाओं के यथार्थ चित्रण की हो। अकाल्पनिक गद्य-विधाओं के अन्तर्गत निम्नलिखित साहित्य-रूप आते हैं :—

(i) निबंध,

(ii) संस्मरण,

(iii) जीवनी और आत्मकथा,

(iv) रेखाचित्र, और

(v) हास्य-व्यंग्य।

4.1 निबंध

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में, "आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिये जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। संसार की हर एक बात और सब बातों से संबद्ध है। अपने-अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी संबंध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। संबंध-सूत्र एक-दूसरे से ये नये हुए पत्तों की भीतर की नसों के समान चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हुए हैं। तत्वचिंतक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिये उपयोगी कुछ संबंध-सूत्रों को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्यौरों में नहीं फँसता। पर, निबंध-लेखक अपनी मन

की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्रशाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ संबंधी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ संबंधी सूत्रों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न-भिन्न लेखकों का दृष्टिपथ निश्चित करती है। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी संबंध-सूत्र पर दौड़ता है किसी का मन किसी पर—इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।"[1]

श्यामसुंदर दास कृत 'साहित्यालोचन' के आधार पर निबंध में

(i) लेखक का आत्मीय भाव (केवल परंपरागत ज्ञान ही नहीं)

(ii) व्यापक सहानुभूति

(iii) कल्पना का योग और स्वानुभूत विचार होने चाहिये। साथ ही इसमें साहित्य की रसात्मकता, व्यक्तित्व की कोई चमत्कार-पूर्ण मुद्रा और भावना-प्रधान शैली होनी चाहिये।[2] "निबंधकार अपनी रचना में सांसारिक विषयों से अलिप्त प्रतीत होता है परन्तु पाठकों के सम्मुख इस प्रकार आता है जैसे वह उनके समान ही संसार-महानाट्यशाला का एक उत्साही दर्शक और प्रदर्शक हो। परन्तु इसके साथ ही वह निबंध में अपने व्यक्तित्व को इतना घुला-मिला लेता है कि कोई भी रसायनिक उन्हें अलग नहीं कर सकता जैसे धूम्र और सुगंध।... बेकन, एडीसन, स्टील, लैंब, स्टीवेंसन—सबमें व्यक्तित्व-प्रकाशन की भावना स्पष्ट है।"[3] परन्तु "व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिये विचारों की शृंखला ही न रखी जाय अथवा भावों की विचित्रता दिखाने के लिये ऐसी अर्थ-योजना की जाय जो लोकसामान्य स्वरूप से कोई संबंध ही न रखे। अथवा भाषा से सरकस वालों की सी

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचंद्र शुक्ल पृ. 505
2. साहित्यालोचन—श्यामसुंदर दास—पृ. 195
3. निबंधकार बालकृष्ण भट्ट—गोपाल पुरोहित—पृ. 65

कसरतें या हठयोगियों के से आसन कराये जायँ, जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवाय और कुछ न हो।"[1]

उपर्युक्त उद्धरणों का सार लें तो लेखक का व्यक्तित्व या व्यक्तिगत विशेषता या व्यक्तित्व की कोई चमत्कारपूर्ण मुद्रा, आत्मप्रकाशन, आत्मीय भाव, भावना-प्रधान शैली, स्वानुभूत विचार और साहित्य की रसात्मिकता वृत्ति—ये कुछ विशिष्टताएँ हैं जो निबंध की रूपरेखा और उसका व्यक्तित्व तय करती हैं तथा उसे प्रबंध से अलग करती हैं। निबंध वह ललित गद्य-रचना है जिसमें विषय-प्रतिपन्नता के साथ हृदय का निर्बन्ध विचरण हो। हिन्दी के सर्वाधिक सम्मानित निबंधकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'चिंतामणि' के प्राक्कथन में लिखा है—"इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़नेवाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँचती है, वहाँ हृदय थोड़ा-बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता गया है। बुद्धिपथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ-न-कुछ पाता रहा है।"[2]

दार्शनिक, बौद्धिक, धार्मिक कोई भी विषय निबंध-क्षेत्र से बाहर नहीं है। उसका विषय गंभीर हो सकता है बस शर्त यही है कि 'बुद्धिपथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ-न-कुछ पाता रहे' साथ ही शैली में आत्मीयता का सूत्र अनिवार्यतः विद्यमान रहे और यह आत्मीयता शैली की वार्तालाप-सुकरता तथा भाषा की सरलता से ही संभव हो सकती है। और यह आत्मीयता, यह वार्तालाप-सुकरता निबंध को प्रसारण के लिए जैसे 'टेलर—मेड' साहित्य-रूप बनाती है। हालाँकि प्रसारण में इसे 'वार्ता' संज्ञा से अभिहत किया जाता है और यह संज्ञा 'वार्ता' निबंध की आत्मीयता आत्मप्रकाशन और वार्तालाप-सुकरता को और गहरे रेखांकित करती है।

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल—पृ. 506
2. 'चिंतामणि' भाग एक—रामचन्द्र शुक्ल—पृ. 1

4.1.1 **निबंध का प्रसारण**–बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, सरदार पूर्ण सिंह, बालमुकुंद गुप्त, पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी, आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, गुलाब राय, रामवृक्ष बेनीपुरी से लेकर विद्यानिवास मिश्र और कुबेरनाथ राय तक श्रेष्ठ निबंधों की समृद्ध परंपरा है जिनका प्रसारण एक श्रेष्ठ प्रसारण के मानदंड स्थापित कर सकता है। सरदार पूर्णसिंह के 'सच्ची वीरता', 'मज़दूरी और प्रेम' और 'आचरण की सभ्यता' जैसे निबंध, बालमुकुन्द गुप्त के 'शिव-शंभु के चिट्ठे', चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' के 'कछुआ धर्म' और 'मारेसि मोहिं गुठाँव', रामवृक्ष बेनीपुरी का 'गेहूँ और गुलाब', रामचंद्र शुक्ल के 'भाव या मनोविकार' और 'श्रद्धा-भक्ति', हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'अशोक के फूल', 'बसन्त आ गया है' तथा गुलाबराय के 'ठलुआ क्लब' और 'मेरी असफलताएँ' जैसे निबंध अगर प्रसारित किये जा सकें तो न सिर्फ़ उस प्रसारण-संस्थान के लिए गौरव का विषय होंगे वरन् श्रोताओं के लिए भी एक दुर्लभ सुख का बायस बनेंगे।

प्रसारण के लिये सटीक ऐसे निबंधों की संख्या बहुत बड़ी है। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ अंश प्रस्तुत हैं। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के एक विख्यात निबंध 'अशोक के फूल' का आरंभ होता है—"अशोक में फिर फूल आ गये हैं। इन छोटे-छोटे लाल-लाल पुष्पों के मनोहर स्तवकों में कैसा मोहन भाव है। बहुत सोच-समझकर कन्दर्प-देवता ने लाखों मनोहर पुष्पों को छोड़कर सिर्फ़ पाँच को ही अपने तूणीर में स्थान देने योग्य समझा था। एक यह अशोक ही है।

"लेकिन पुष्पित अशोक को देखकर मेरा मन उदास हो जाता है। इसलिए नहीं कि सुन्दर वस्तुओं को हतभाग्य समझने में मुझे कोई विशेष रस मिलता है। कुछ लोगों को मिलता है। वे बहुत दूरदर्शी होते हैं। जो भी सामने पड़ गया उसके जीवन के अंतिम मुहूर्त्त तक का हिसाब वे लगा लेते हैं। मेरी दृष्टि इतनी दूर तक नहीं जाती। फिर भी मेरा मन इस फूल को

देखकर उदास हो जाता है।''[1]

यह है निबध का आरभ। लगता है लेखक अशोक के फूल की व्यथा-कथा ही कहने बैठा है। लेकिन अशोक के फूल का तो बहाना है। बात कहने की एक ललित और आत्मीय शैली है। इस लालित्य और आत्मीयता में लपेटकर वह बेहद गभीर बात कह रहा है— संस्कृतियो के निर्माण की और तार-तार कर रहा है इस क्षेत्र मे घुस आये स्वार्थी और शरारती छद्मों को। देखिये वह कहाँ पहुँचता है—''विचित्र देश है यह! असुर आये, आर्य आये, यक्ष आये, गंधर्व आये, शक आये, हूण आये, नाग आये—न जाने कितनी मानव-जातियाँ यहाँ आईं और आज के भारतवर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गईं। जिसे हम हिन्दू रीति-नीति कहते हैं वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्भुत मिश्रण है। एक-एक पशु एक-एक पक्षी न जाने कितनी स्मृतियो का सार लेकर हमारे सामने उपस्थित है। अशोक की भी अपनी स्मृति-परंपरा है।''

अपनी बात कही और लौट आये अशोक की कहानी पर कि कहीं पाठक को निबंध बोझिल और उबाऊ न लगने लगे। लेकिन निबंध का मूल कथ्य भी छूटता नहीं है—''मुझे मानवजाति की दुर्दम-निर्मम धारा के हज़ारों वर्ष का रूप साफ़ दिखाई पड़ रहा है। मनुष्य की जीवन-शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारो, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवन-धारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नयी शक्ति पायी है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। सब-कुछ मे मिलावट है, सब-कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा। वह गंगा की अबाधित अनाहत धारा के समान सब-कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है। सभ्यता और संस्कृति का मोह क्षण-भर बाधा उपस्थित करता है, धर्माचार का संस्कार थोड़ी देर तक इस धारा से टक्कर लेता है; पर इस दुर्दम धारा में सब-कुछ बह

---

1 अशोक के फूल—ह. प्र. द्विवेदी. पृ. 3

जाता है। जितना-कुछ इस जीवन-शक्ति को समर्थ बनाता है उतना उसका अंग बन जाता है, बाकी फेंक दिया जाता है। धन्य हो महाकाल, तुमने कितनी बार मदन-देवता का गर्व-खंडन किया है, धर्मराज के कारागार मे क्रान्ति मचाई है, यमराज के निर्दय तारल्य को पी लिया है, विधाता के सर्वकर्तृत्व के अभिमान को चूर्ण किया है। आज हमारे भीतर जो मोह है, संस्कृति और कला के नाम पर जो आसक्ति है, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जड़िमा है, उसमें का कितना भाग तुम्हारे कंठनृत्य से ध्वस्त हो जायेगा, कौन जानता है? मनुष्य की जीवन-धारा फिर भी अपनी मस्तानी चाल से चलती जायेगी। आज अशोक के पुष्प-स्तवकों को देखकर मेरा मन उदास हो गया है, कल न जाने किस वस्तु को देखकर किस सहृदय के हृदय मे उदासी की रेखा खेल उठेगी! जिन बातों को मैं अत्यन्त मूल्यवान समझ रहा हूँ और उनके प्रचार के लिए चिल्ला-चिल्लाकर गला सुखा रहा हूँ, उनमें कितनी जियेंगी और कितनी बह जायेंगी, कौन जानता है!"[1]

यह है श्रेष्ठ निबंध। विषय कभी छूटता नहीं लेकिन आत्मीयता, लालित्य भावना-प्राधान्य और निजीपन कभी उसे विशुद्ध ज्ञान-चर्चा नहीं बनने देता। रसात्मकता तनिक भी क्षत नहीं होती।

एक अन्य उदाहरणस्वरूप, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के प्रसिद्ध निबंध 'श्रद्धा-भक्ति' के कुछ अंश इस प्रकार हैं :—

"किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण व शक्ति का विकास देख उसके संबंध में जो एक स्थायी आनंद-पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते हैं। प्रेम और श्रद्धा मे अंतर यह है कि प्रेम प्रिय के स्वाधीन कार्यों पर उतना निर्भर नहीं—कभी-कभी किसी का रूप-मात्र, जिसमें उसका कुछ भी हाथ नहीं; उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होने का कारण होता है। पर श्रद्धा ऐसी नहीं है। किसी की सुंदर आँख या नाक देखकर उसके प्रति श्रद्धा नहीं उत्पन्न होगी, प्रीति उत्पन्न हो सकती है। प्रेम के लिए इतना ही बस है कि कोई मनुष्य हमें अच्छा लगे; पर श्रद्धा के लिए आवश्यक यह है कि कोई मनुष्य किसी बात में बढ़ा हुआ होने के कारण

---

1. नि॰ अशोक के फूल—पृ॰ 8

हमारे सम्मान का पात्र हो। श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकान्त। प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार।"[1]

"हमारे अन्तःकरण में प्रिय के आदर्श रूप का सघटन उसके शरीर या व्यक्ति मात्र के आश्रय से हो सकता है, पर श्रद्धेय के आदर्श रूप का संघटन उसके फैलाये हुए कर्म-तन्तु के उपादान से होता है। प्रिय का चिंतन हम आँखें मूँदे हुए, संसार को भुलाकर, करते हैं; पर श्रद्धेय का चिंतन हम आँख खोले हुए, संसार का कुछ अंश सामने रखकर करते हैं। यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है।"[2]

"प्रेम का कारण बहुत-कुछ अनिर्दिष्ट और अज्ञात होता है; पर श्रद्धा का कारण निर्दिष्ट और ज्ञात होता है। कभी-कभी केवल एक साथ रहते-रहते दो प्राणियों में यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि वे बराबर साथ रहें; उनका साथ कभी न छूटे। प्रेमी प्रिय के सम्पूर्ण जीवन-क्रम के सतत साक्षात्कार का अभिलाषी होता है। वह उसका उठना, बैठना, चलना, फिरना, सोना, खाना, पीना सब कुछ देखना चाहता है। संसार में बहुत से लोग उठते-बैठते, चलते-फिरते हैं; पर सबका चलना-फिरना, उठना-बैठना उसको वैसा अच्छा नहीं लगता। प्रेमी प्रिय के जीवन को अपने जीवन से मिलाकर एक निराला मिश्रण तैयार करना चाहता है। वह दो से एक करना चाहता है। सारांश यह कि श्रद्धा में दृष्टि पहले कर्मों पर से होती हुई श्रद्धेय तक पहुँचती है और प्रीति में प्रिय पर से होती हुई उसके कर्मों आदि पर जाती है। एक में व्यक्ति को कर्मों द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है; दूसरी में कर्मों को व्यक्ति द्वारा। एक में कर्म प्रधान है, दूसरी में व्यक्ति।"[3]

उपर्युक्त उद्धरणों में शुक्लजी की सूक्ति-अन्वेषण क्षमता, सूत्र-शैली, गंभीरता, विषय-चिंतन संबद्धता, मनन एवं विवेचन का तारतम्य तथा भाषा की कसावट दृष्टव्य है। लेकिन विचार एवं विवेचन निबंध को बोझिल और सुष्क नहीं होने देते। वैयक्तिकता का पुट और

---

1. 'श्रद्धा-भक्ति'—रामचन्द्र शुक्ल—'चिंतामणि', पृ॰ 17
2. वही—पृ॰ 18
3. वही पृ॰ 19

निजी जीवन तथा समाज के अनुभव पर आधारित विश्लेषण सीधे पाठक के हृदय को स्पर्श करता है। इसी निबंध का एक अंश है :—

"अब रह गयी साधन-संपत्ति-संबंधिनी श्रद्धा की बात।... देशी कारीगरी, चित्रकारी, संगीत आदि मे नियम-पालन के अभ्यास द्वारा प्राप्त इस साधन-सम्पन्नता ही पर इधर बहुत दिनो से ध्यान दिया जाने लगा था और मानव-हृदय पर इस मनोहारिणी कलाओ के प्रभाव का बहुत कम विचार होने लगा था। बहुत से पुराने मकानों की कारीगरी देखिए तो उसमें बहुत सा काम गिचपिच किया हुआ दिखाई देगा। ऐसे महीन बेल-बूटों की भिन्न-भिन्न पटरियाँ दीवारों पर जमाई हुई मिलेंगी जो बिना आँख को पास ले जाकर सटाये स्पष्ट न जान पड़ेंगी। सारे मकान को एक बार में देखने से इन सबों का सम्मिलित प्रभाव दृष्टि और मन पर क्या पड़ेगा, इसका कुछ भी विचार बनाने वालों ने नही किया, यह स्पष्ट दिखाई पड़ेगा।

"चित्रकारी की दशा भी इसी प्रकार की हो गयी थी। राधाकृष्ण कदंम के नीचे खड़े हैं। कदंब की एक-एक पत्ती अलग-अलग बारीकी के साथ बनी दिखाई पड़ती है। राधा की चुनरी की एक-एक बूटी बड़ी सावधानी और मिहनत के साथ बनायी गयी है। देखनेवाले को यह नहीं जान पड़ता कि वह कुछ दूर पर खड़ा होकर कदंब या राधाकृष्ण को एक साथ देख रहा है, बल्कि यह जान पड़ता है कि कभी तो पत्तियाँ गिनने के लिए वह पेड़ पर चढ़ता है और कभी नमूना लेने के लिए चुनरी हाथ में लेता है। ... संगीत के पेंच-पाँच देखकर भी हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुँह फैलाता है और 'आ आ' करके विकल होता है उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है—दिन-दिन भर चुपचाप बैठे रहने वाले बड़े-बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है। काव्य पर शब्दालंकार आदि का इतना बोझ लादा गया कि उसका सारा रूप ही छिप गया। बात यह हुई कि इन विविध कलाओं के जितने अभ्यासगम्य और श्रम-साध्य अंग थे, वे तो हद से बाहर घसीटे गये और जितने सहृदयता से संबंध रखने वाले थे, उन पर ध्यान ही न रहा। यदि ये कलाएँ मूर्तिमान रूप धारण करके सामने आतीं तो दिखाई पड़ता कि किसी को जलोदर हुआ है, किसी को फ़ीलपाव! इनकी दशा सोने और रत्नों से जड़ी गुठली धार की

तलवार की सी हो गयी है।"[1]

4.1.2 **निबंध के प्रसारण की समस्याएँ**—अपनी वैयक्तिकता, आत्मीयता और लालित्य के कारण निबंध यदि अपने मौलिक रूप में सच्चा निबंध हो तो वह प्रसारण के मानदंडो के पूर्णतः उपयुक्त होता है—'टेलर मेड'। फिर भी दो बातों का ध्यान रखना बेहद ज़रूरी है :—

(i) **भाषा का श्रव्य रूप**—प्रसारित होनेवाले निबंध मे भाषा का लिखित रूप नहीं चल सकता। एक उदाहरण लें—

"इस प्रकार कला-सृष्टि का क्रमबद्ध रूप यों बनता है—

कला सृष्टि

मूल

: अन्तरका अदृश्य आवेग या भाव :

शरीर

: यथार्थ के साथ उस भाव का सबंध और रूप-ग्रहण :

प्राण

सौन्दर्य : आन्तर एवं बाह्य :

आत्मा

: रस :

लक्ष्य या फल

: आनंद : "[2]

---

1 नि॰ श्रद्धा और भक्ति—पृ॰ 25

2 'कला के कक्ष में . यथार्थ और कल्पना'—रामनाथ सुमन, आकाशवाणी प्रसारिका अप्रैल-जून 1956—पृ॰ 31

कहने की ज़रूरत नहीं कि भाषा का यह रूप श्रव्य माध्यम में बिल्कुल ही बोधगम्य नहीं है। एक और उदाहरण है—

"यद्यपि आनुवंशिक राजपद का वर्णन ऋग्वेद मे भी मिलता है परन्तु राजा का उत्तराधिकारी विनय, नियमबद्धता, वृद्धोपसेवा, विद्याप्राप्ति, सुसंगति, सत्यवादिता, धर्मप्रियता इत्यादि गुणों से विभूषित होने पर भी राजा बन सकता था और किसी के राजपद पर अभिषिक्त होने के लिए वैदिक काल में सभा तथा समिति की और रामायण तथा महाभारत काल में पौरजानपाद संस्थाओं की स्वीकृति अनिवार्य होती थी।"[1]

स्पष्ट है कि केवल अंश के कठिन शब्द ही नहीं, बल्कि इसका वाक्य-संगठन भी इस बात की ओर संकेत करता है कि यह भाषा का भाषित रूप नहीं, लिखित रूप है। बोलते समय हम लंबे-लंबे वाक्यों का व्यवहार नहीं करते। हमारे शब्द और वाक्य ऐसे होते हैं जिन्हें बोलने में हमें किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती, और जिनको समझने में भी सुनने वालों को मानसिक व्यायाम नहीं करना पड़ता। प्रसारित होनेवाले निबंधो की लय, अभिव्यंजना-शैली, वाक्य, शब्द सबका हमारी बोलचाल की भाषा के निकट रहना अपरिहार्य है। इनकी भाषा पुस्तकों की निर्जीव भाषा नहीं, प्रत्यक्ष संभाषण की सजीव भाषा होगी और इसकी शैली ऐसी प्राणवंत होगी जिसके शब्द बोलते हों, ऐसे चित्र निर्माण करते हों, जो श्रोताओं को अपने सौंदर्य के प्रति आकृष्ट न कर अपने पीछे उफनते भावों-विचारों के प्रति आकृष्ट करते हों, जिसके वाक्यों में गति हो, प्रवाह हो, लयात्मकता हो। भाषित शब्दों की शक्ति पर आधारित ऐसी ही जीवन्त भाषा-शैली प्रसारण-योग्य निबंध की भाषा-शैली हो सकती है।

(iii) पाठ की प्रभविष्णुता—प्रसारण के लिए एक उपयुक्त निबंध तय्यार कर लेना प्रसारण की दृष्टि से सिर्फ़ आधा काम होना है। बाक़ी आधा तो उस आलेख के प्रभावशाली और अभिव्यक्तिसक्षम पाठ (प्रस्तुतीकरण) पर निर्भर करता है। रेडियो का वार्त्ताकार होते ही निबंध-लेखक के मत्थे परफ़ॉर्म करने

---

1. 'भारत की पुरानी राजनीति'—कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति—रेडियो-संग्रह अक्तूबर-दिसम्बर 53—पृ. 47

की कठिन ज़िम्मेदारी भी आन पड़ती है। "रेडियो वार्त्ता एकपात्री नाटक है जिसका मुख्य पात्र वार्त्ताकार होता है। इस नाटक में वह किसी दूसरे व्यक्ति का अभिनय नही करता, स्वयम् अपना अभिनय करता है, अपने व्यक्तित्व मे निहित विशेषताये उद्‌घाटित करता है।... जैसे नाटक की सफलता रंगमंच पर सिद्ध होती है, रेडियो-वार्त्ता की सफलता स्टूडियो में माइक्रोफ़ोन पर। वार्त्ताकार किस प्रकार अपना स्वाभाविक, विश्वसनीय और प्रभावोत्पादक अभिनय प्रस्तुत करता है निबंध (वार्त्ता) के प्रसारण की सफलता इसी पर निर्भर होती है क्योकि श्रोता तक निबंध का आलेख नहीं सिर्फ़ उसका पाठ पहुँचता है।"[1]

4.2 संस्मरण

संस्मरण शब्द अंग्रेज़ी के 'मेमॉयर्स' के समानांतर प्रयुक्त होता है। 'संस्मरण शब्द के मूल में स्मृति है। स्मृति की अभिव्यक्ति को संस्मरण कह सकते हैं। संस्मरण शब्द की व्युत्पत्ति सम् + स्मृ + ल्युट् (अण) से हुई है जिसका अर्थ है सम्यक स्मरण। सम्यक का तात्पर्य है आत्मीयतापूर्वक तथा अधिक गंभीरतापूर्वक। स्पष्ट ही हिन्दी का संस्मरण शब्द अधिक आत्मपरकता का सूचक है।[2] आत्मीय ढंग से ग्रहणशीलता के साथ ही स्मरणीयता इसकी आवश्यक शर्त है। संस्मरण ऐसी स्मृति है जो अमिट हो और जिसे अभिव्यक्त किया गया हो। संस्मरण में लेखक किसी ऐसी घटना, स्थल या व्यक्ति से संबंधित निजी अनुभूति की स्मृति को सकारता प्रदान करता है जो अंदर ही अंदर उसके मन को कुरेदती रहती है और अभिव्यक्ति के लिए उसके मन-प्राण को उद्वेलित करती रहती है। वह स्मृति लेखक के मन में बनी रहकर भाव, संवेदना और राग के पुटपाक से आकार ग्रहण करती है और जैसे राख में कंदराए कोयले

1. रेडियो वार्ता शिल्प—प्रो. सिद्धनाथ कुमार—पृ. 118
2. मानक हिन्दी कोश—सं. रामचन्द्र वर्मा, पृ. 245

अनुकूल वायु के स्पर्श से फिर सजग हो उठते हैं, वैसे ही मन मे बसी और भावरस में पगी स्मृति अनुकूल स्थिति-विशेष में सजग हो अभिव्यक्ति में सवाक् रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार अरूप-स्मृति रूपाकार ग्रहण कर लेती है।

'भावुक कलाकार जब अतीत की अनंत स्मृतियो मे से कुछ स्मरणीय अनुभूतियों को अपनी कोमल कल्पना से अतिरंजित कर व्यंजनामूलक संकेत शैली में अपने व्यक्तित्व की विशेषताओ से विशिष्ट कर रोचक ढंग से यथार्थ-रूप में व्यक्त कर देता है, तब उसे संस्मरण कहते हैं।'[1] लालित्य रोचकता और संक्षिप्ति संस्मरण के आवश्यक गुण हैं। तथ्यात्मक या इतिवृत्तात्मक पद्धति को छोड़कर किसी व्यक्ति की चारित्रिक विशेषताओं को प्रकट करने वाली रोचक घटनाओ या परिस्थितियो का वैयक्तिक संपर्क के आधार पर जिस रचना में लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाता है, वह संस्मरण होता है।[2]

इस तरह संस्मरण में अविस्मरणीयता, आत्मीयता, रोचकता और कलात्मकता आदि अनिवार्य तत्त्व होने चाहिएं। यह आत्मकथानक और जीवनी-परक साहित्य का एक अत्यन्त लघु, मार्मिक और मनोरंजक रूप है।

4.2.1 **संस्मरण का प्रसारण**—संस्मरण के प्रसारण हेतु उसमें निम्नलिखित अनिवार्य विशेषताएँ होनी चाहिएँ :—

(i) **वस्तु-तत्त्व**—संस्मरण की वस्तु कोई घटना, कोई रोचक प्रसंग, कोई व्यक्ति - कुछ भी हो सकता है लेकिन शर्त यह है कि लेखक के रचनात्मक राग के साथ-साथ उसके व्यक्तिगत जीवन से भी संबद्ध हो।

(ii) **आत्मीयता**—सफल प्रसारण हेतु संस्मरण में आत्मीयता अपरिहार्य है। लेखक संस्मरण के लिए उस बिंदु को चुन ही नहीं सकता जिसमें

---

1. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त (द्वितीय भाग)—डॉ. गोविंदत्रिगुणायत—पृ. 497

2 हिन्दी गद्य का विकास और परंपरा—डॉ. पद्म सिंह शर्मा कमलेश—पृ. 112

उसकी आत्मीयता या निजत्व की स्थिति न हो। संस्मरण में वस्तु के प्रभावशाली और रचनात्मक-क्षमता से परिपूर्ण होने के साथ-साथ आत्मीय होना भी आवश्यक है। संस्मरणकार को बार-बार स्वयं को उपस्थित करते हुए वर्ण्य के साथ संबंध बनाये रखना पड़ता है। अगर ऐसा न हो तो सस्मरण का आकर्षण ढीला पड़ने लगता है।

(iii) **औत्सुक्य**—किसी भी प्रसारण मे रम्यता बनी रहे इसके लिए तमाम तरीक़ो का इस्तेमाल किया जाता है और औत्सुक्य उन्हीं में एक है। हालाँकि संस्मरण कल्पना-प्रसूत रचना नहीं है और इसकी वस्तु प्रायः नियत और स्थिर होती है इसलिए औत्सुक्य-तत्त्व के प्रयोग की इसमें सीमाएँ हैं फिर भी, कई उपायो से संस्मरणकार उत्सुकता जगाने का प्रयास करता है जैसे, विख्यात व्यक्ति या प्रसंग के संदर्भ मे भी बात ऐसी जगह से शुरू करना कि यह स्पष्ट न हो पाय कि किसके विषय में और क्या कहा जा रहा है?

(iv) **गतिशील और आत्मीय भाषा**—संस्मरण की भाषा क्षिप्र और आत्मीय होनी आवश्यक है। भावानुकूल, प्रवहमान, सजीव और रोचक भाषा संस्मरण के प्रसारण का प्राण है।

इस प्रकार, रेडियो-प्रसारण की दृष्टि से संस्मरण बेहद उपयुक्त साहित्यिक विधा है। आत्मीयता, रोचकता, सरलता, प्रवाह और संक्षिप्ति—हर लिहाज़ से संस्मरण के प्रसारण की सफलता असंदिग्ध है। शायद ही कोई और साहित्यिक विधा ऐसी हो जिसमें प्रसारण के लिए लगभग कुछ भी करने की ज़रूरत न पड़े।

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह अपने एक संस्मरण में मौलवी मुरादबख़्श को इस तरह याद करते हैं—"मौलवी मुरादबख्श काले थे—

कुचकुच। वे कोलतार से पुते न थे मगर जो रंग था, वह गाढ़ा ही था और वह रग हर्गिज़ ख़ुशरंग नहीं था। चेहरे की बनावट भी कुछ अजब टेढ़ी-मेढ़ी थी। उस पर चमक तो थी ही नही, नमक भी नहीं था। बकरों की-सी दाढ़ी और गर्दन तक ज़ुल्फ़ो की तय्यारी। छटाँक भर के आदमी थे—दुबले-पतले कुछ अजब भक्कू या दब्बू कहें तो कोई शिकायत न होगी। छोटी-छोटी चुंधी आँखें उनमें चमक न थी, शर्म थी।'[1]

बनारसीदास चतुर्वेदी के दीनबंधु एंड्रयूज़ से संबंधित संस्मरण का अंश है—'आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन के साथ मैं हिन्दी-भवन में बैठा हुआ था कि उधर से लालटेन हाथ में लिए श्री एंड्रयूज़ आते हुए नज़र आये। पहुँचते ही उन्होंने उलाहना दिया कि अपनी भेंट तुम वही छोड़ आये थे और फिर द्विवेदी जी की मेरे जन्म-दिवस की बात भी सुना दी। द्विवेदी जी को भी मज़ाक सूझा। वे बोले—इन्होंने हमें बताया भी नहीं, चुपचाप ही मिठाई खा ली। ख़ूब हँसी हुईं। मेरी छड़ी वहीं रखी थी। श्री एंड्रयूज़ ने उसे उठाकर पीठ पर छुआते हुए कहा—यह भूल तुमने क्यो की? अपने जन्म-दिवस की बात इनसे क्यों छिपाई? हम सब ख़ूब हँसते रहे।'[2]

नेहरूजी के संस्मरण लिखते हुए दिनकर एक पुरमज़ाक घटना को इस प्रकार याद करते हैं—''त्यागी जी ने पंडितजी से एक दिन कहा, 'अब इस भारत में मज़ा नहीं रहा जवाहरलाल! याद हैं वे दिन, जब बरेली जेल में मुझे फ्रेंच पढ़ाते थे और जब मैं सही उच्चारण नहीं कर पाता था, तुम मुझे उल्लू, गधा, बेवकूफ़, नालायक, सब कुछ कह डालते थे? बाद में जब मैं तुम्हारा मंत्री बना, तब भी तुमने मुझे नालायक़, बेवकूफ़ कहना बंद नहीं किया। वे मज़े के दिन थे, वे मज़े की बातें थीं। मगर, अब तुम मुझे आप और जनाब कहकर संबोधित करते हो। इसलिए भीतर जोश नहीं रह गया है कि मैं तुम्हारा वज़ीर बनूँ।'

पंडित जी बीमार तो थे ही। मसनद के सहारे एक ओर को झुके लेटे थे। जब त्यागी

---

1. टूटा तारा : राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह—पृ. 12-13
2. सस्मरणांजलि—बनारसीदास चतुर्वेदी—पृ. 66

जी ने अपनी रामायण बंद की, पंडित जी बोले, 'भाई महावीर, अंग्रेज़ी मे एक कहावत है कि जो बात सच हो उसका मज़ाक नहीं बनाना चाहिए। इसलिए, अब मैंने तुम्हें उल्लू और गधा कहना छोड़ दिया है।'

फिर तो वह क़हक़हा लगा कि त्यागी जी की दुविधा काफ़ूर हो गयी और वे मंत्रिमंडल में शामिल हो गये।''[1]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि अगर संस्मरण अपनी विधागत विशिष्टताओं से युक्त है तो वह प्रसारण के सर्वथा योग्य है। राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, महादेवी वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, बनारसीदास चतुर्वेदी, उपेंद्रनाथ 'अश्क', राहुल सांकृत्यायन, कन्हैयालाल मिश्रा, हरिवंशराय बच्चन, रामधारी सिंह दिनकर आदि जितने विख्यात संस्मरणकार हैं उनके संस्मरण प्रसारण के सर्वथा उपयुक्त हैं।

सारतः, संस्मरण आत्मीय और रोचक होना चाहिए, उसकी भाषा सरल-सहज-प्रवाहपूर्ण और चुटीली होनी चाहिए, उसका आरंभ उत्सुकता जगाने वाला होना चाहिए तथा उसे आद्योपांत चुस्त और कसा हुआ होना चाहिए।

4.3 जीवनी और आत्मकथा

4.3.1 जीवनी—जीवनी या जीवन-चरित साहित्य की एक प्रौढ़ और प्रचलित विधा है। अंग्रेज़ी में इसे 'लाइफ़' अथवा 'बायोग्राफ़ी कहते हैं। 'किसी व्यक्ति-विशेष के जीवन-वृत्तांत को जीवनी कहते हैं।'[2] स्पष्ट ही, जीवनी का उपजीव्य जीवन है, जिसका वास्तविक होना इस विधा के लिए अनिवार्य है।

जीवनी-लेखक इतिहासकार के समान किसी के जीवन की सच्ची

---

1 लोकदेव नेहरू : रामधारी सिंह दिनकर, पृ. 2

2. जीवनी साहित्य : अजित कुमार, हिन्दी साहित्यकोश—पृ. 305

घटनाओं और वास्तविक संबंधों का वर्णन करता है। 'जीवनी साहित्य का केंद्र है व्यक्ति और उसके कार्यकलाप उस केंद्र की परिधि खींचते हैं। मनुष्य, उसका भावलोक तथा बर्हिजगत जीवनी-साहित्य का क्रीड़ा-क्षेत्र है। ऊपरी स्थितियों तथा परिस्थितियों के मध्य व्यक्ति के आतंरिक तथा बाह्य संचरण का अनुशीलन और अंकन उसके कर्तृत्व का स्वरूप है। वह व्यक्ति को प्रधान माध्यम मानकर उसके भीतर से समाज और युग की सक्रिय शक्तियों का आकुंचन-प्रसारण, स्पंदन-अवसादन, आलोड़न-विलोड़न और अविरत द्वन्द्व सूक्ष्मतापूर्वक आकलित करता है। इस घात-प्रतिघात का परिशीलन वह उसी सीमा तक फलप्रसू और उपादेय मानकर करता है जिस सीमा तक विभिन्न शक्तियों की यह क्रीड़ा व्यक्ति के अंतर्बाह्य को जोड़ने-तोड़ने, अग्रगमन करने या प्रतिगमन करने, उभारने या दबाने का कार्य करती है। उसकी अभिरुचि व्यक्ति-विशेष के जीवन को अभीष्ट अथवा अनभिप्रेत आकृति में ढालने वाले तत्त्वों तक ही सीमित नहीं, अपितु व्यक्ति अपने कर्तृत्व की गरिमा से सामाजिक जीवन को कितना आंदोलित, सक्रिय, उद्दीप्त तथा गतिशील बनाता है, उस विधेयात्मक प्रभाव को तौलना भी जीवनी-साहित्य का लक्ष्य है।'[1]

जीवनी-लेखक अपने अनुभव और स्मृति के साथ ही डायरी, पत्र, साक्षात्कार, अन्य जीवनियों, जीवनी-नायक के कृत्यों, कृतियों, भाषणों समकालीन इतिहास आदि स्रोतों से सामग्री प्राप्त करता है। फिर उनके संश्लेषण-विश्लेषण से अपनी दृष्टि के अनुरूप जीवनी लिखता है।

महत्त्वपूर्ण है कि जीवनी सिर्फ़ चरित-नायक के व्यक्तित्व-कृतित्व तक सीमित नहीं होती वरन् जिन व्यक्तियों के योगदान से वह व्यक्तित्व और कृतित्व निर्मित हुआ; तथा जिन सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों में निर्मित हुआ वहाँ तक जाती है। जिन विभिन्न दार्शनिक विचारों और व्यक्तियों ने नायक को प्रभावित किया, जीवनी उनकी पड़ताल भी करती है।

---

1. हिन्दी जीवनी-साहित्य : सिद्धांत और अध्ययन—डॉ. भगवानशरण भारद्वाज—पृ. 28

'किसी के जीवन को समझने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाएँ आवश्यक अवश्य हैं पर अनिवार्य नहीं। अनिवार्य है उन विचारों और घटनाओं के पीछे रहने वाले प्रेरणास्रोत। जो दिखाई देता है वही सत्य नहीं होता।'[1]

4.3.2 आत्मकथा– 'आत्मकथा' मूलतः अंग्रेज़ी के 'Autobiography' की अनुवादपीठिका पर बना हुआ शब्द है। आत्मकथा यानी अपनी कहानी— 'आत्मकथा लेखक के अपने जीवन का संबद्ध वर्णन है।'[2] दूसरे शब्दों में, यह आत्मन् शब्द का समास में व्यवहृत रूप है, जिसका अर्थ है अपना, निज का, आत्मा का, मन का। कथा का अर्थ है कहानी। अतः आत्मथा का अर्थ हुआ स्वलिखित जीवन-चरित।

हिन्दी विश्व-कोश[3] के अनुसार, उत्तम स्मृति, अपने प्रति तटस्थता, स्पष्टवादिता, अति आत्म-समर्थन अथवा अतिआत्म-संकोच—दोनों प्रकार की मानसिक स्थितियों से मुक्ति, अपने जीवन की घटनाओं को चुनते समय घटनाओं के सार्वजनिक महत्त्व का विवेक अथवा कलात्मक दृष्टि तथा आकर्षक निवेदन-शैली आत्मकथा के आवश्यक गुण हैं।

4.3.3 जीवनी और आत्मकथा का प्रसारण– आत्मकथा और जीवनी का प्रसारण निबंध, यात्रा-वृत्तान्त संस्मरण या रेखाचित्र की तरह आसान नहीं है, न ही हर जीवनी या आत्मकथा का प्रसारण संभव ही है। इसमें निम्नलिखित बिंदु विचारणीय होते हैं :—

(i) **आकार**—रेडियो-प्रसारण में एक कार्यक्रम रेडियो-वार्त्ता का होता है और इसी के अंतर्गत समस्त अकाल्पनिक गद्य-विधाओं का प्रसारण

---

1. आवारा मसीहा—विष्णु प्रभाकर—पृ. ७
2. हिन्दी साहित्य-कोश. स. धीरेन्द्र वर्मा—पृ. ७८
3. हिन्दी विश्वकोश, खंड-1, लेखक डॉ. प्रभाकर माचवे. पृ. 346

होता है। लेकिन इस कार्यक्रम का समय पाँच से पंद्रह मिनट का होता है। एक वार्त्ताकार के स्वर में, एक विषय पर लगातार अपनी एकाग्रता बनाये रखना श्रोता के लिए असंभव हो जाता है इसलिए, यह आवश्यक भी है कि रेडियो-वार्त्ता संक्षिप्त हों। समस्या यह आती है कि जीवनी और आत्मकथा वृहदाकार रचना होती है—कई सौ पृष्ठों मे विस्तारित। अतः, इनके प्रसारण का एक ही तरीक़ा बचता है कि इन्हें धारावाहिक रूप मे प्रसारित किया जाय क्योंकि कितना भी संपादित किया जाय तीन सौ पृष्ठों में फैली जीवनी/आत्मकथा को सौ-डेढ़ सौ पृष्ठों से छोटा करना असंभव होता है। पंद्रह मिनट के प्रसारण में पाँच पृष्ठों से अधिक नहीं पढ़े जा सकते। इसका अर्थ हुआ कि कम-से-कम पच्चीस-तीस कड़ियों में एक जीवनी या आत्मकथा के संक्षिप्त रूप का प्रसारण संभव होगा।

(ii) **चरित-नायक**—आकार की समस्या के बाद प्रश्न उठता है जीवनी/आत्मकथा के चरितनायक का। जब तक नायक बेहद प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व का स्वामी न हो तब तक श्रोताओं में उसकी जीवनी/आत्मकथा को लेकर कोई उत्सुकता उत्पन्न नहीं होगी। गाँधी नेहरू, हिटलर, रामप्रसाद, बिस्मिल, बैंजामिन फ्रैंकलिन आदि की आत्मकथाएँ ऐसी रचनाएँ हैं जिन्हें हर श्रोता ज़रूर सुनना चाहेगा।

(iii) **रंगारंग जीवन-प्रसंग**—महत्त्व और प्रसिद्धि के साथ-साथ चरितनायक का जीवन रंगारंग और कुतूहल उत्पन्न करने वाले विविधवर्णी प्रसंगों से भी भरा होना चाहिए। बच्चन, गोर्गी, यशपाल और राहुल सांकृत्यायन की आत्मकथाएँ तथा शरतचंद्र, प्रेमचंद, भगत सिंह आदि की जीवनियाँ न सिर्फ़ महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्व वरन् रोचक प्रसंगों के कारण भी श्रोता की रुचि बनाये रखेंगी।

(iv) **भाषा-शैली**—जीवनी/आत्मकथा की भाषा-शैली भी अनिवार्यतः इतनी सहज, सरस और आत्मीय होनी चाहिए कि श्रोता को बाँधे रख सके। महात्मा गाँधी की आत्मकथा इस सहजता का एक अद्‌भुत उदाहरण है और यही कारण है कि आकाशवाणी के हर केंद्र ने इसका सफल प्रसारण किया है और कई ने तो बार-बार किया है। एक अंश[1] दृष्टव्य है—"इसी सोहबत के कारण मैं व्यभिचार में भी फँस जाता। एक बार मेरे ये मित्र मुझे वेश्याओं की बस्ती में ले गये। वहाँ मुझे योग्य सूचनाएँ देकर एक स्त्री के मकान में भेजा। मुझे उसे पैसे वग़ैरा कुछ देना नहीं था। हिसाब हो चुका था। मुझे तो सिर्फ़ दिलबहलाव की बातें करनी थीं। मैं घर में घुस तो गया, पर जिसे ईश्वर बचाना चाहता है, वह गिरने की इच्छा रखते हुए भी पवित्र रह सकता है। उस कोठरी में मैं तो बिल्कुल अंधा बन गया। मुझे बोलने का भी होश न रहा। मारे शरम के सन्नाटे में आकर उस औरत के पास खटिया पर बैठा, पर मुँह से बोल न निकल सका। औरत ने ग़ुस्से में आकर मुझे दो-चार खरी-खोटी सुनायीं ओर दरवाज़े की राह दिखायी।"

गोर्की की आत्मकथा[2] का एक अंश है—"मेरा जी मचल रहा था। यही तबीयत हो रही थी कि ख़ूब बदमाशी करूँ। किसी को कुछ न समझूँ, जो मन में आये कहूँ। एक दिन अपने सौतेले बाप और सौतेली दादी की कुर्सी में मैंने गोंद लपेट दिया। दोनों बैठे तो कपड़े कुर्सी में चिपक गये, उठने पर बड़ी दुर्गति हुई।"

एक जीवनी लेखक की शैली में कितनी आत्मीयता होनी चाहिए इसका उदाहरण प्रेमचंद की जीवनी[3] है :—"छुट्टियाँ जैसे-तैसे ख़त्म हुईं और नवाब फिर कानपुर पहुँच गया

---

1. सत्य के प्रयोग—महात्मा गाँधी, पृ. 5
2. मेरा बचपन—मैक्सिम गोर्की, पृ. 303
3. प्रेमचंद : क़लम का सिपाही—अमृत राय, पृ. 73

और फिर वही दोस्तों की महफ़िलें, क़हक़हे और चहचहे शुरू हुए जिनके लिए उसका दिल तड़पता था।

"लेकिन वह सब महफ़िले, शेर-ओ-शायरी के चर्चे, बेफ़िक्र कुँआरी ज़िंदगी की मस्तियाँ जहाँ एक तरफ़ उनकी ज़िदगी के सूनेपन को भरती थी वहाँ दूसरी तरफ़ उसे और भी बढ़ा देती थी। अपना अकेलापन अब उसे खलने लगा था। तबीयत बहुत रंगीन न सही, मगर जवान तो थी, आख़िर कब तक वह इसी तरह अपनी ज़िंदगी की लढ़िया ठेलेगा? पचीस साल का तो हुआ, घर बसाने की अब और कौन-सी उम्र आयेगी? या तो फिर उसका ख़याल ही छोड़ दिया जाय, जो कि नवाब के लिए मुमकिन न था। तबीयत ही उसने वैसी न पायी थी। वह घरेलू ढग का आदमी था और उसकी तमाम परेशानियों के बावजूद उसी मे ख़ुश रह सकता था।"

और जीवनीकार की वस्तुनिष्ठता का यह उदाहरण[1] दृष्टव्य है :—

"सरकारी नौकरी अब दिनोंदिन जी पर भारी होती जा रही थी।... हर तरफ़ हाथ-पैर मारते हैं मगर कुछ होता नहीं दिखाई देता। मारवाड़ी स्कूल मे हेडमास्टरी की जगह नहीं ख़ाली थी, हाँ असिस्टेंट टीचरी मिल सकती थी। तनख़्वाह अलबत्ता कुछ बढ़ाई जा सकती थी। मुंशीजी ने 18 फ़रवरी सन'20 को लिखा—'मारवाड़ी स्कूल की असिस्टेंट टीचरी मुझे मंज़ूर नहीं ख़्वाह कितनी ही तनख़्वाह मिले। वही हालत तो यहाँ भी है। यहाँ फ़ुर्सत बहुत ज़्यादा है। हेडमास्टर निहायत माकूल। करूँगा तो हेडमास्टरी और असिस्टेंट रहना हो तो यहाँ बड़े मज़े मे हूँ। मुझे यहाँ मय मकान के 120 मिलते हैं। इस लिहाज़ से भी कोई फ़ायदा नहीं है। इसलिए ख़्वामख़्वाह क्यों डाँवाडोल हूँ।

"निश्चय अभी नहीं है। खिचड़ी मन में पक ही रही है। इसीलिए इतना सब हिसाब-किताब सूझ रहा है। सब अपने मन को बहलाने के लिए, टहलाने के लिए। बस उस घड़ी का इंतज़ार है जब बात मन में पक्की हो जायेगी। तब-तक यही संकल्प-विकल्प चलेगा।"

---

1. वही—पृ० 231-32

(v) **आकर्षक प्रस्तुति**—अंततः, जीवनी/आत्मकथा की आकर्षक रेडियो-प्रस्तुति उसके प्रसारण के लिए बेहद अनिवार्य है। अगर प्रभावशाली और भावानुकूल पाठ न हो तो चाहे जितनी भी रोचक और महत्त्वपूर्ण जीवनी या आत्मकथा हो, श्रोता के लिए अनाकर्षक ही होगी।

प्रस्तुति को और आकर्षक बनाने और एकरसता तोड़ने के, एकाधिक स्वरों का इस्तेमाल, उपयुक्त प्रसंगो का अभिनय तथा पार्श्व-संगीत, ध्वनि-प्रभाव और प्राकृतिक ध्वनियों का प्रयोग आदि अन्य साधन हैं।

4.4 यात्रा-वृत्तांत

जीवन साहित्य का मूल स्रोत है और साहित्य जीवन को अभिव्यक्त करने का साधन। स्वाभाविक है कि जीवन के सारे अनुषंग साहित्य में आएँ और यात्रा-वृत्तांत भी साहित्य का अंग बने।

यात्राएँ ज्ञान का भंडार हैं और उनका विवरण मनुष्य को उसकी स्थानीयता की सीमाबद्धताओं से मुक्त करता है तथा धरती के ओर-छोर नापता हुआ मनुष्य को मनुष्य से, सभ्यताओ को सभ्यताओं से, संस्कृतियो को संस्कृतियों से तथा व्यवस्थाओं को व्यवस्थाओं से जोड़ देता है और इन सबके ऊपर मनुष्यमात्र की अविच्छिन्नता को रेखांकित करता है। इस प्रकार यात्रा-साहित्य, साहित्य की किसी भी अन्य विधा से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अगर दृष्टि-संपन्न हो, तो यह सिर्फ़ मनोरंजन या ज्ञानवर्द्धन ही नहीं करता मानव-मात्र के संघर्षों और स्वप्नों, समस्याओं और समाधान की एकसूत्रता को सारे खंडित दृष्टि के संशयों से परे उभार कर रख देता है।

यात्रा-वृत्तांत की शैलियाँ

यात्रा-वृत्तांत मुख्यतः तीन प्रकार की शैली में लिखे जाते हैं :—

(i) **इतिवृत्तात्मक**—इनमें दृश्यों को यथारूप वर्णित कर दिया जाता है। लेखक की स्थिति बिल्कुल निर्लिप्त रहती है। वह केवल वर्णनकर्त्ता मात्र दिखलाई देता है।

(ii) **भावात्मकत एवं अलंकारिक**—इनमें रस और भावों की भी व्यंजना होती है, न सिर्फ़ यात्रा के ब्यौरों की।

स्वाभाविक रूप से ये अत्यंत हृदयस्पर्शी और मनोरम होते हैं। अज्ञेय की माझुली यात्रा के विवरण[1] का एक अंश दृष्टव्य है :—

"नागकेसर के फूल तब पूर्ण विकसित हो चुके थे, पंखुड़ियाँ झरने लगी थीं और केसर की मादक गंध छोटी पहाड़ियों और उपत्यकाओं को लाँघती हुई शून्य में फैल रही थी। तीसरे पहर बड़े-बड़े शुभ्र बादल उठते थे और बच्चों की तरह नाना प्रकार के जंतुओं का रूप धारने की क्रीड़ा करते हुए आकाश के प्रांगण के पार निकल जाते थे। मंदिर श्रेणी के नीचे बिछे हुए सरोवर का नीला जल विक्षुब्ध हो उठता था और मानो उसे परचाने के लिए किनारे के अशोक वृक्ष के दो-चार खिले फूल झरकर उस पर आ गिरते थे।"

(iii) **दार्शनिकता-प्रधान**—इस शैली में यात्रा के ब्यौरों के साथ-साथ वैचारिकता का भी समावेश होता है। उदाहरणस्वरूप, "प्रशांत सागर पर जहाज़ ऐसे तैरता है, जैसे तालाब में बत्तख। बिना पंख फड़फड़ाए जिस प्रकार बत्तख आगे चली जाती है, ठीक उसी प्रकार हमारा जहाज़ समुद्र की छाती पर मानो उड़ता-सा चला जा रहा था। समुद्र को इस प्रकार हारा हुआ देखकर मेरे पास बैठा हुआ

---

1 अरे यायावर रहेगा याद—स. ही. वा. अज्ञेय, पृ. 193

एक यात्री चिल्ला उठा—देखो मनुष्य की शक्ति! जहाज़ क्या जा रहा है मानो मनुष्य प्रकृति को पछाड़ रहा है। मैंने कहा—नहीं प्रकृति चुप बैठी हुई मनुष्य को अपना लाड़ला पुत्र समझकर उसे इस प्रकार चले जाने की इजाज़त दे रही है।''[1]

इनके अतिरिक्त पत्र एवं डायरी-शैली में भी यात्रा-वृत्तांत लिखे गये हैं। राहुल सांकृत्यायन, डॉ॰ भगवतशरण उपाध्याय, डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि ने इन शैलियों में भी प्रभूत यात्रा-साहित्य लिखा है।

4.4.1 यात्रा-वृत्तांत का प्रसारण

संस्मरण की तरह ही यात्रा-वृत्तांत भी प्रसारण के अत्यन्त उपयुक्त विधा है। परन्तु सफल प्रसारण हेतु इसमें निम्नलिखित गुण होने चाहिएं :—

(i) **संक्षिप्तता** प्रसारण होने वाले यात्रा-वृत्तांत का एक अपेक्षित गुण है। फिर भी अगर वृत्तांत बड़े हुए तो उनमें से कुछ विवरणों को अलग करके, उसे प्रसारण की समयावधि के उपयुक्त आलेख तय्यार किया जा सकने योग्य होना चाहिये।

(ii) **जिज्ञासा-परिशमन** यात्रा-वृत्तांत की सबसे बड़ी विशिष्टता होनी चाहिए। स्वभावतः मनुष्य सुदूर स्थानों-देशों, प्राकृतिक सुषमा से भरपूर पहाड़ों–जंगलों–नदी–नालों–समुद्र–तटों; अपरिचित जीव-जंतुओं, जातियों–जनजातियों, नगरों, कारख़ानों, ऐतिहासिक स्थलों–इमारतों, संस्कृतियों आदि के बारे में जानने की सहज उत्कंठा रखता है। यात्रा-वृत्तांत श्रोता की इस उत्सुकता को संतुष्ट करते हैं। इसलिए यात्रा-वृत्तांतों के प्रसारण के प्रति श्रोता की रुचि हमेशा बनी रहती है।

---

1. बरमा की यात्रा—प्रो॰ सत्यव्रत विद्यालंकार, माधुरी विशेषांक, अगस्त-सितंबर 1928, पृ॰ 285

रामवृक्ष बेनीपुरी की स्विट्ज़रलैंड-यात्रा का यह अंश[1] किसी भी श्रोता को अभिभूत करने की क्षमता रखता है—"गाड़ी से उतरकर ज्यों ही हम कुछ आगे बढ़े कि 'ठुन की झील' दिखाई पड़ी और इस झील को देखते ही जैसे रोम-रोम पुलकित हो उठे मानो चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे हों—अद्भुत, परम अद्भुत! हम एक बगीचे में खड़े थे, हमारे चारों ओर फूल-ही-फूल थे। जब पैर के नीचे ध्यान गया तो पाया, वहाँ भी छोटे-छोटे रंग-बिरंगे फूल घास की जगह पर बिछे हुए हैं। हमारी बाईं ओर से नदी आकर इसी झील में गिर रही है और झील नीले पानी का एक ऐसा विस्तृत अंचल जिसका कहीं ओर न छोर हो।"

मोहन राकेश का यात्रा-वृत्तांत[2] आख़िरी चट्टान तक सिर्फ़ प्रकृति-चित्रण ही नहीं करता श्रोता को यात्रा-पड़ावों की संस्कृतियों की झलक दिखाते चलने में भी सक्षम है—"काले से, जहाँ गोआ की लोहे की खानें हैं, हमारे डिब्बे में आठ-दस युवा जोड़े आ गये। वे बाहर से ही चहकते हुए आये थे और अंदर आकर भी उसी तरह चीख़ते-चहकते रहे। क्रिसमस-सप्ताह चल रहा था और नया साल आने वाला था। उन्हें इस समय किसी तरह का प्रतिबंध स्वीकार नहीं था। उन्होंने खिड़कियाँ बंद करके डिब्बे में बीस-पच्चीस ग़ुब्बारे छोड़ दिये और उनसे खेलने लगे। उनमें से अधिकांश ने—लड़कियों ने ही नहीं लड़कों ने भी बहुत-सा सोना पहन रखा था। उन्हें देखकर ऐसा लगता था, जैसे वहाँ लोहे की खानों में से लोहा नहीं, सोना निकलता है।"

(iii) **रोचकता** यात्रा-वृत्तांत का प्राण है। हर यात्रा में रोचक घटनाएँ होती ही हैं और उनका समावेश यात्रा-वृत्तांत के प्रसारण में चार-चाँद लगा देता है।

(iv) **आत्मनिष्ठता** भी यात्रा-वृत्तांत के प्रसारण की सफलता की शर्त है। यात्रा-

---

1 पैरों में पंख बाँधकर—रामवृक्ष बेनीपुरी—पृ. 226

2 आख़िरी चट्टान तक—मोहन राकेश, पृ. 36

वृत्तांत के ब्यौरे एक व्यक्ति के बताये हुए ब्यौरे होते हैं। इनमें सिर्फ़ विवरण ही नहीं लेखक का व्यक्तित्व, उसके विचार और उसका दृष्टिकोण भी होता है। दूसरी तरफ़ से, श्रोता सिर्फ़ लेखक/वार्त्ताकार द्वारा वर्णित यात्रा का वृत्तांत ही नहीं सुन रहा होता; उस वृत्तांत के माध्यम से लेखक के अभ्यंतर का परिचय भी पा रहा होता है। उदाहरणतः, राहुल साँकृत्यायन जब शिवालयों का वर्णन[1] करते हैं तो उनकी दृष्टि सिर्फ़ शिवालयों की भव्यता और सुंदरता पर ही टिककर नहीं रह जाती उनके पार भी देखती है—"उन जगमगाते शिवालयों में सर्वत्र सौंदर्य, कला और स्वच्छता का अखंड राज्य था। सभी वस्तुएँ शिवं सुन्दरं थीं। मुझे यह भी मालूम है कि यह सब वैभव उन दास-दासियों के परिश्रम से पैदा हुआ था, जो सारी जनता की चौथाई थी। शिवं सुन्दरं के लिए यह बड़े कलंक की बात थी, तो भी स्मृति जिस भव्य रूप को सामने चित्रित करती है, उसे देखकर थोड़ी देर के लिए आनंद और आकर्षण हुए बिना नहीं रह सकता, विशेषकर जबकि मैं जानता हूँ कि वह दासता का युग फिर लौटकर नहीं आ सकता, मनुष्य के पूर्ण स्वतंत्र होने को कोई नहीं रोक सकता। काली निशा दुनियाँ के बहुत-से भागों से दूर हो चुकी है। वह बाक़ी भागों में भी देर तक नहीं रह सकती।"

(v) **सहज प्रवहमान भाषा-शैली** यात्रा-वृत्तांत के लिए अनिवार्य है अन्यथा, श्रोता के लिए उसके साथ बहते चले जाना कठिन हो जायेगा। अत्यधिक अलंकरण अथवा दार्शनिकता यात्रा-वृत्तांत के श्रोता को अनायास ही विमुख कर देती है।

उपर्युक्त गुणों से युक्त यात्रा-वृत्तांत हमेशा प्रसारण को लोकप्रिय बनाने का कार्य करते हैं।

---

1 हिमालय-परिचय, भाग-1—राहुल सांकृत्यायन, पृ. 430

4.5 रेखाचित्र

'रेखाचित्र' शब्द से ही स्पष्ट है कि यह चित्रकला का शब्द है और वहाँ से साहित्य में आया है। कलाओं का पारस्परिक आदान-प्रदान चलता ही रहता है और यह बहुत स्वाभाविक है कि साहित्यकार के मन में भी विषय का चित्र खींचने की इच्छा जन्म ले। रेखाचित्र उसी इच्छा का फल है। 'रेखाचित्रकार साहित्यकार के साथ चित्रकार भी होता है। जिस प्रकार चित्रकार अपनी तूलिका के कलामय स्पर्श से चित्र-पटल पर अंकित विशृंखल रेखाओं मे से कुछ उभरी हुई रेखाओ को संवारकर एक अजीब रूप प्रदान कर देता है, उसी प्रकार रेखाचित्रकार मनःपटल पर विशृंखल रूप में बिखरी हुई शत-शत स्मृति-रेखाओं में से उभरी हुई रमणीय रेखाओं को अपनी कला की तूलिका से स्वानुभूति के रंग में रंजित कर जीते-जागते शब्द-चित्र में परिणत कर देता है। यही शब्द-चित्र रेखा-चित्र कहलाता है।'[1] दूसरे शब्दों में, 'अपने संपर्क में आये किसी विलक्षण व्यक्तित्व अथवा संवेदना को जगाने वाली सामान्य विशेषताओं से युक्त किसी प्रतिनिधि चरित्र के मर्मस्पर्शी स्वरूप को देखी, सुनी या संकलित घटनाओं की पृष्ठभूमि में इस प्रकार उभारकर रखना कि उसका हमारे हृदय में एक निश्चित प्रभाव अंकित हो जाय, रेखाचित्र या शब्दचित्र कहलाता है।''[2]

डॉ॰ रामगोपाल सिंह चौहान के अनुसार, 'रेखाचित्र विषय का दूरस्थ (डिस्टैंट) और विषय से अलगाव लिए हुए (डिटैच्ड) चित्र होता है। रेखाचित्र के विषय (ऑब्जैक्ट) के साथ लेखक का निकट संपर्क आवश्यक नहीं। जैसे चित्रकार किसी व्यक्ति, स्थल या वस्तु को देखकर उसके साथ बिना आत्मिक लगाव स्थापित किये हुए तटस्थ भाव से रेखाचित्र प्रस्तुत कर देता है वैसे ही रेखाचित्र भी। रेखाचित्र विषय का विभिन्न परिप्रेक्ष्य में विभिन्न कोणों से अंकित चित्र है जिसमें बाह्याकृति का रूपात्मक चित्रण अधिक, अंतस का कम, केवल उतना जितना रूपात्मक चित्रण से स्वतः झलक जाता है, जैसे चित्रकार के स्केच की मूक रेखाएँ

---

1. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त—डॉ. गोविंद त्रिगुणायत—पृ. 491
2. काव्यशास्त्र—डॉ. भगीरथ मिश्र—पृ. 97

भरा हुआ था।''[1]

रामवृक्ष बेनीपुरी के बलदेवसिंह, बालगोविन, रज़िया, देव, रूपा की आजी और बैजूमामा के रेखाचित्र तथा जगदीशचंद्र माथुर के खींचे अमरनाथ झा, शिशिर भादुड़ी, पन्नालाल घोष सच्चिदानंद सिन्हा आदि के पेन-पोर्ट्रेट हर श्रोता के लिए न भूले जा सकने वाले रेडियो-अनुभव होंगे।

4.5.2 प्रसारण हेतु रेखाचित्र के आवश्यक गुण

सफल प्रसारण के लिए रेखाचित्र में निम्नलिखित गुण होने चाहिएँ :—

(i) **संभावनाशील विषयवस्तु का चयन**—रेखाचित्र की विषयवस्तु व्यक्ति, घटना, वातावरण, दृश्य, भाव, विचार समस्या—कुछ भी हो उसे संवेदनशीलता की दृष्टि से संभावनापूर्ण होना चाहिए। रेडियो-प्रसारण में इतना समय नहीं होता, न ही श्रोता इतना धैर्यवान कि ऐसे विषय पर रेखाचित्र सुने जो फ़ौरन उसकी संवेदना को झंकृत करने में सक्षम न हों।

अगर विषय कोई घटना हो तो उसका सामाजिक परिप्रेक्ष्य भी ज़रूर होना चाहिए तथा उसका प्रस्तुतीकरण ऐसा होना चाहिए कि वह अपने-आप ही वह-सब कह दे जो लेखक व्यंजित करना चाहता हो।

वातावरण को विषय बनाकर लिखे गये रेखाचित्र में ब्यौरों का चयन ऐसा होना चाहिए जो वातावरण को उसकी सजीवता और समग्रता में प्रस्तुत करने के साथ-साथ श्रोता की कल्पना-शक्ति को भी जाग्रत कर सके। दृश्य की मूर्तिमत्ता सफल रेखाचित्र की कसौटी है।

व्यक्ति को विषय बनाने वाले रेखाचित्रों में तब तक आकर्षण नहीं आ सकता जब तक कि उसमें सर्वथा नवीन या मौलिक बात न हो।

---

[1] पथ के साथी—महादेवी वर्मा, पृ. 72

(ii) **बिंबात्मकता**—रेखाचित्र एक परम व्यंजक एवं लघु-आयामीय कलाकृति होती है, अतः उसे अधिकाधिक बिंबात्मक होना चाहिए। विस्तृत विवरणों के स्थान पर अगर प्रभावशाली बिंब हों तभी उसका प्रसारण सफल हो सकता है।

(iii) **सूक्ष्मता**—रेखाचित्र में लघु-कलेवर के कारण सारा ज़ोर सूक्ष्मता पर होना चाहिए। उसमें ऐसे तत्त्व होने चाहिएं जो वृहद् को लघुतम रूप प्रदन करने की विशेषता से युक्त हों।

(iv) **तीव्रता**—सफल प्रसारण हेतु रेखाचित्र मे तीव्रता का गुण अनिवार्यतः होना चाहिए। सम्पूर्ण विषयवस्तु एक ही दिशा की ओर तीव्रता से बढ़े तथा अन्य सभी तत्त्व उस गति को तीव्रतर बनाने में सहायक बनें, यह आवश्यक है।

(v) **विशिष्ट चरित्र**—विशिष्टता का अर्थ प्रसिद्ध होना नहीं है। किन्तु सफल प्रसारण हेतु रेखाचित्र के चरित्रों में ऐसी मौलिकता एवं अनन्यता ज़रूर होनी चाहिए कि वह श्रोता के मस्तिष्क पर अमिट छाप छोड़ सके।

(vi) **भाव-प्रवणता**—भावात्मकता सफल रेखाचित्र के लिए आवश्यक है। परंतु भावात्मकता कोरी भावुकता नहीं होती। वह गंभीर विचारों के गर्भ से उत्पन्न होती है। सच्ची भाव-प्रवणता के मूल में अनिवार्यतः गहन वैचारिकता होती है। दृष्टव्य है कि कैसे महादेवी की भावाकुलता के पीछे उनकी तीव्र वैचारिक प्रतिक्रियाएँ काम करती हैं—"उस समाधि जैसे घर में लोहे के प्राचीर से घिरे फूल के समान वह किशोरी बालिका बिना किसी संगी-साथी, बिना किसी प्रकार के आमोद-प्रमोद के, मानो वृद्धा होने की साधना में लीन थी। वृद्ध एक ही समय भोजन करते थे और वह तो विधवा ठहरी। दूसरे समय भोजन करना ही यह प्रमाणित कर देने के लिए पर्याप्त था कि उसका मन विधवा के संयम-प्रधान जीवन से ऊबकर किसी विपरीत दिशा में जा रहा है।"[1]

---

1. अतीत के चलचित्र—महादेवी वर्मा, पृ॰ 29

(vii) **चित्रात्मकता**—चित्रात्मकता तो रेखाचित्र की सज्ञा में ही अनिवार्यतः अवस्थित है। अगर रेखाचित्र में चित्रात्मकता न हो तो उसका प्रसारण सफल नहीं हो सकता। बेनीपुरी के एक रेखाचित्र का अंश दृष्टव्य है :— "हमने सुना, बाल गोबिन भगत का बेटा मर गया। देखकर दंग रह गया। बेटे को आँगन में एक चटाई पर लिटा कर एक़ सुफ़ेद कपड़े से ढाँक रखा है। वह कुछ फूल तो हमेशा ही रोपे रहते, उन फूलों में से तो कुछ तोड़कर उस पर बिखरा दिये हैं; फूल और तुलसीदल भी। सिरहाने एक चिराग़ जला रखा है और उसके सामने ज़मीन पर ही आसन जमाये गीत गाये चले जा रहे हैं। वही पुराना स्वर, वही पुरानी तल्लीनता। घर मे पुतोहू रो रही है, जिसे गाँव की स्त्रियाँ चुप कराने की कोशिश कर रही हैं। किन्तु बालगोविन भगत गाये चले जा रहे हैं।"[1]

(viii) **यथार्थवादी चित्रण**—यथार्थ चित्रण रेखाचित्र का ऐसा आधार है जिससे डिगने पर रेखाचित्र की सम्पूर्ण इमारत लड़खड़ा का गिरने लगती है। रेडियो-श्रोता का मन बनावट को बहुत जल्द पकड़ लेता है और प्रसारण से विमुख हो जात है।

(ix) **संकेतात्मकता**—रेडियो वर्णन का नहीं उद्‌बोधन का माध्यम है और रेखाचित्र भी अनावश्यक विस्तार और शिथिलता का बोझ वहन नहीं कर सकते। स्वाभाविक है कि रेखाचित्र की विधा में संकेतात्मकता आवश्यक गुण हो; प्रसारण के लिए तो यह अपरिहार्य है।

(x) **शैली**—रेखाचित्र कई शैलियों में लिखे जाते हैं कथात्मक शैली, निबंध शैली, संवाद शैली, डायरी शैली, संबोधन शैली, आत्मकथात्मक शैली आदि। शैली चाहे जो भी हो, प्रसारण के लिए अनिवार्य है कि वह आडंबरहीन, सहज और अनुभूतिप्रवण हो। एक सीमा से अधिक अलंकारिकता अथवा भावात्मकता रेखाचित्र के रेडियो-संप्रेषण में व्यवधान बन जाती है।

---

1. माटी की मूरतें—रामवृक्ष बेनीपुरी—पृ. 61

4.6 हास्य-व्यंग्य

'हास्य' और 'व्यंग्य' साहित्य की अलग विधाएँ हैं। 'हास्य' शब्द अंग्रेज़ी के 'ह्यूमर' का पर्याय है ओर 'विनोदिनी मन की अभिव्यक्त मुद्रा है, जिसमें सुखप्रद कोमल भाव अंतर्निहित रहते हैं, जिनके माध्यम से चित्त की संचित गंभीरता में आकस्मिक विस्फोट-सा उठकर चित्त को कुछ क्षणों के लिए सात्विक आनंद से भर देता है।'[1] ज़ाहिर है कि हास्यपरक साहित्य की रचना के पीछे विनोदी मन सक्रिय रहता है तथा इसका लक्ष्य एक निर्मल हास्य के आनंद की सृष्टि है। इसमें कोमलता और सहानुभूति का होना अनिवार्य है तथा इसके पीछे सुधार आदि कोई उद्देश्य नहीं होता। इसका एकमात्र उद्देश्य हँसाना है।

व्यंग्य 'सैटायर' का पर्याय माना जाता है। यह 'एक विशिष्ट समाजधर्मी प्रेक्षणाविधि अथवा एक विशिष्ट मानसिक भंगिमा है जिसका उद्‌भव अन्तर्विरोधों के कारण होता है और जिसमें व्यक्ति अथवा व्यवस्था-विशेष के दौर्बल्य की आक्षेपात्मक अभिव्यक्ति द्वारा परिवर्तन का अभीष्टपूर्ण होता है।'[2] स्पष्ट है कि व्यंग्य का उद्देश्य हँसाना नहीं अन्तर्विरोधों का उद्‌घाटन करना है। 'व्यंग्य जीवन से साक्षात्कार करता है, जीवन की आलोचना करता है, विसंगतियों, मिथ्याचारों और पाखंडों का पर्दाफ़ाश करता है।'[3] स्वाभाविक रूप से व्यंग्य हास्य की तरह सहानुभूतिपूर्ण नहीं हो सकता, उपहास (सार्काज़्म), वाग्वैदग्ध्य (विट), वक्रोक्ति (आयरनी) इसके प्रमुख सहायक तत्त्व हैं।

कुछ रचनाओं में हास्य और व्यंग्य इतने जुड़े हुए रहते हैं कि इन्हें अलग करके देखना आसान नहीं होता। इन्हें **हास्य-व्यंग्य** रचनाएँ कह सकते हैं। हालांकि व्यंग्य अपनी संप्रेषणीयता और प्रभविष्णुता के लिए हास्य का मुहताज़ नहीं होता फिर भी, 'उसे हास्य का

---

1. हिन्दी का स्वातंत्र्योत्तर हास्य और व्यंग्य—डॉ. बालेंदुशेखर तिवारी, पृ. 25
2. वही—पृ. 53
3. सदाचार कातावीज़—हरिशंकर परसाई, पृ. 3

पहरावा पहनाकर आसानी से संप्रेषित किया जा सकता है'[1]—शुगरकोटेड कुनैन की तरह। यही कारण है कि आमतौर से व्यंग्य-रचनाओं में हास्य का सहारा लिया जाता है और 'हँसते-हँसते विसंगतियों को व्यक्त करने वाला'[2] यह व्यंग्य ही 'हास्य-व्यंग्य' है।

4.6.1 हास्य-व्यंग्य का प्रसारण

वैसे तो हास्य और व्यंग्य के फ़ॉर्म में कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि सब कुछ लिखा गया है। परंतु, यहाँ हास्य-व्यंग्य के प्रसारण से आशय हास्य-व्यंग्य निबंध के प्रसारण से है।

4.6.2 हास्य-व्यंग्य के प्रसारण की आवश्यक शर्तें

हास्य-व्यंग्य निबंध में प्रसारण हेतु निम्नलिखित गुण अवश्य होने चाहिएं :—

(i) **संक्षिप्ति**—हास्य-व्यंग्य का प्रसारण प्रायः पाँच से पंद्रह मिनट की समयावधि में होता है—अगर वार्त्ता के कार्यक्रम में हो तो सामान्यतः दस से पंद्रह मिनट की और अगर युवा, महिला, बालक आदि श्रोतावर्गों के अन्य कार्यक्रमों में हो तो पाँच से दस मिनट की। हस्तलिखित प्रति पृष्ठ दो मिनट का समय रखें, तो ढाई-तीन पृष्ठ से लेकर पाँच-छः पृष्ठों के आलेख से अधिक का प्रसारण नहीं हो सकता। हास्य-व्यंग्य निबंध वैसे भी बहुत लंबे नहीं होते परन्तु पाँच-छः पृष्ठों की सीमा का अर्थ हुआ स्थितियों, चरित्रों और भाषा-शैली का और संघनन।

(ii) **स्वाभाविक भाषा-शैली**—आडंबरपूर्ण शैली और अलंकृत भाषा का आनंद मुद्रित हास्य-व्यंग्य में तो लिया जा सकता है लेकिन प्रसारण में ये निश्चित रूप से व्यवधान उत्पन्न करते हैं—"ऐसा सोचकर उन्होंने अपने

---

1. हिन्दी व्यंग्य-साहित्य—डॉ. ए. एन. चंद्रशेखर रेड्डी, पृ. 45
2. व्यंग्य के मूलभूत प्रश्न—डॉ. शेरजंग गर्ग, पृ. 35

काले-घुंघराले केशों वाले फ्रेंचकट मस्तक का मुंडन करवा दिया, टेरीकॉट की पतलून और टेरीलीन की बुश्शर्ट उतारकर खादी का काषायवस्त्र धारण कर लिया और गाँधी टोपी लगाकर पिता को रोते हुए और पत्नी को सोते हुए छोड़कर 'किं कुशलम्' की गवेषणा करते हुए वहाँ जा पहुँचे, जहाँ कांग्रेस कमेटी का कार्यालय था और आलान-कामान बैठा हुआ श्रद्धालुओं से नमस्कार, मानपत्र और चंदा ग्रहण कर रहा था और अपने प्रियजनों में विधान-सभा तथा लोक-सभा का टिकट वितरण का रहा था।"[1]

दूसरी तरफ़ दृष्टव्य है कि लंबी भूमिकाएँ लिखने वाले लेखकों पर कितनी सादगी से कैसा सटीक व्यंग्य किया गया है :—"भूमिका इसलिए होती है कि पाठक समझ लें कि लेखक की एक अपनी भूमि भी है। भूमिहीन लेखकों के लिए भूमिका का और भी महत्त्व है। इसलिए नाटक के कई अंक काटकर एक भूमिकर लिखना नाटककार की बुद्धिमत्ता में शामिल है।"[2]

(iii) **मिठासयुक्त व्यंग्य**—व्यंग्य में प्रहार तो अनिवार्य है लेकिन शुगरकोटेड कुनैन की तरह वह प्रहार जितनी मिठास लिए होगा उतना ही प्रसारण के उपयुक्त। श्रोता पाठक की तुलना में कम प्रबुद्ध होता है और कम प्रतिबद्ध भी। अतः, एक सीमा के बाद खुला प्रहार पचाना उसके लिए कठिन होने लगता है। परसाई के एक निबंध का अंश है—"हनुमान का भी कमाल है। यह कई तरह का होता है—दुश्मन-फटकार हनुमान, संकट-मोचक हनुमान, पुलिस महावीर। वेश्याओं के मुहल्ले में जो हनुमान है उसका नाम है 'छिनाल मारूति'। हिन्दुस्तानी आदमी अद्भुत है। इसके पास छिनाल मारूति भी है और हिजड़ों की मस्जिद भी।"[3] स्पष्ट है कि इसका प्रसारण विकर्षक ही होगा।

---

1. अनुत्तर योग-क्षेम की पर्येषणा—राधाकृष्ण, नई कहानियाँ, नवंबर 1971—पृ. 104
2. अंगद का पाँव—श्रीलाल शुक्ल, पृ. 109
3. शिकायत मुझे भी है—हरिशंकर परसाई—पृ. 27

(iv) **मर्यादाशीलता**—हास्य-व्यंग्य में अक्सर अश्लीलता और मर्यादाहीनता की प्रवृत्ति पायी जाती है। कहने की ज़रूरत नहीं कि "त्यागीजी का जन्म उनके माता-पिता की शादी के बाद हुआ था"[1] जैसे व्यंग्य का प्रसारण में कोई स्थान नहीं है।

(v) **कौतुकपूर्ण पाठ**—प्रसारण सिर्फ लेखन ही नहीं है। इसमें प्रस्तुति उतनी ही महत्त्वपूर्ण होती है जितना कि अच्छा आलेख। हास्य-व्यंग्य की अभिव्यक्ति में जो विनोद और वक्रता होती है अगर उसके पाठ में वह न आये तो अच्छे से अच्छा हास्य-व्यंग्य अपना प्रभाव खो बैठेगा। अतः अनिवार्य है कि हास्य-व्यंग्य के पाठ में भी आलेख की दृष्टि मुखर होकर आये।

4.7 **निष्कर्ष**—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अकाल्पनिक गद्य-विधाओं—निबंध, संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत रेखाचित्र, व्यंग्य-विनोद आदि का प्रसारण सफलतापूर्वक किया जा सकता है अगर इनमें रोचकता, आत्मनिष्ठता, भाषा और शैली की सहजता-प्रवहमानता आदि गुण हों। जीवनी और आत्मकथा का धारावाहिक प्रसारण ही संभव है और इन्हें कई स्वरों के प्रयोग तथा अभिनय आदि के संयोग द्वारा रेडियो और प्रभावशाली बना सकता है। परन्तु, इन गद्य-विद्याओं के सफल आलेख के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है कि वे रेडियो-माध्यम के लिए अवधारित की गयी हों, सुनने के लिए न कि पढ़ने के लिए।

□□□

1. खुली धूप में नाव पर—रवींद्रनाथ त्यागी—पृ. 47

अध्याय 5

श्रव्य माध्यम की चुनौतियाँ तथा नये साहित्य एवम् कला-रूप

अध्याय-5

श्रव्य-माध्यम की चुनौतियाँ तथा नये साहित्य एवं कला-रूप

5.1 रेडियो-नाटक

5.1.1 उद्गम और विकास

5.1.2 रेडियो-नाटक की प्रकृति

5.1.3 मंच-नाटक और रेडियो-नाटक

5.1.4 रेडियो-नाटक का रूप-विधान

5.1.5 रेडियो-नाटक के उपकरण

5.1.6 रेडियो-नाटक के विभिन्न रूप

5.2 रेडियो-रूपक

5.2.1 रेडियो-नाटक और रूपक में समता-विभिन्नता

5.2.2 रेडियो-रूपक का क्षेत्र

5.2.3 रेडियो-रूपक का इतिहास

5.2.4 रेडियो-रूपक के प्रकार

5.2.5 रेडियो-रूपक का स्थापत्य

5.2.6 आलेख-रूपक

5.2.7 आलेख-रूपक का निर्माण

5.3 रेडियो-वार्त्ता

5.3.1 वार्त्ता की सीमाएँ और शक्तियाँ

5.3.2 सफल वार्त्ता की आवश्यक शर्तें

5.4 संगीत-रूपक

5.4.1 संगीत-रूपक का क्षेत्र

5.4.2 संगीत-रूपक का रूप-विधान

5.5 रेडियो-कार्टून

5.5.1 रेडियो-कार्टून का इतिहास

5.5.2 रेडियो-कार्टून और झलकी

5.5.3 रेडियो-कार्टून की शैली और इसका शिल्प

5.5.4 रेडियो-कार्टून के कुछ नमूने

5.6 निष्कर्ष

श्रव्य माध्यम की चुनौतियाँ तथा नये साहित्य एवम् कला-रूप

सभ्यता के विकास के साथ-साथ विज्ञान और टेक्नोलॉजी का भी विकास होता है क्योंकि यह अपेक्षाकृत विकसित समाज की आवश्यकता होती है और हर तकनीकी विकास संस्कृति को बदलता है, साहित्य और अन्य कलाओं को बदलता है। लिपि और लेखन-सामग्री के आविष्कार के बाद कविता वह नहीं रह गयी जो कि वाचिक परंपरा में थी। सिनेमा, रेडियो और टेलीविज़न के आने के बाद नाटक या संगीत में आये परिवर्तनों को आसानी से रेखांकित किया जा सकता है।

'प्रत्येक कला-माध्यम एक संप्रेषणात्मक अन्वेषण है और स्वाभाविक ही है कि संप्रेषण के उपकरणो में होनेवाले परिवर्तनों का प्रभाव संप्रेषण की ही नहीं, सर्जन की प्रक्रिया और रूप पर भी पड़े।'[1] प्रत्येक कला के माध्यम और उपकरण तथा उनमें आने वाले परिवर्तन उस कला के स्वभाव और स्वरूप में भी कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य करते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक नया माध्यम या माध्यम में हुआ प्रत्येक परिवर्तन सर्जनात्मकता के समक्ष एक चुनौती रखता है और इसका परिणाम या तो तत्कालीन साहित्य और कला-रूपों में परिवर्तन में होता है या नये कला-रूपों के उद्भव में।

एलेक्ट्रॉनिक श्रव्य-माध्यम रेडियो के आविष्कार के बाद मुख्य रूप से निम्नलिखित साहित्य एवं कला-रूपों ने जन्म लिया है :—

---

1. रंग-प्रसंग—नंदकिशोर आचार्य, जनवरी से जून १९९८, पृ॰ ९

1. रेडियो-नाटक
2. रेडियो-रूपक
3. रेडियो-वार्त्ता
4. संगीत-रूपक और
5. रेडियो-कार्टून

5.1 रेडियो-नाटक

5.1.1 उद्गम और विकास

रेडियो-नाटक एक आधुनिक उत्पत्ति है। आधी सदी पूर्व उसका कोई अस्तित्व नहीं था—साहित्य में तो नहीं ही, रेडियो में भी नहीं। अगर था भी तो 'पुराने रेडियो नाटक का स्वरूप प्रायः वही था जो उसके सम-सामयिक रंग-नाटक का था। रंग-निर्देश अक्सर एक निरूपक द्वारा पढ़ दिये जाते थे। प्रवेश-प्रस्थान आदि मंचीय कार्यकलाप को ध्वनियुक्त क्रिया से व्यक्त किया जाता था। कथा का निर्वाह प्रायः रंग-नाटक के कथानक ऐसा ही रहता—ढीला-ढाला, विस्तृत और कभी-कभी उच्छृंखल। ...... बंगाल में रंगमंच परंपरा के प्रभाव के अंतर्गत जो साप्ताहिक नाटक जनवरी 1928 में शुरू हुए उनकी अवधि तीन घंटे हुआ करती थी और इनमें सभी मंचीय-युक्तियाँ प्रयुक्त होती थीं।[1] जैसे-जैसे रेडियो की तकनीक का विकास होता गया, यह स्पष्ट होता गया कि रेडियो पर केवल वही नाटक सफल हो सकता है जो ख़ासतौर से रेडियो के लिये लिखा गया हो। धीरे-धीरे लेखकों का ध्यान इस दिशा में आकृष्ट हुआ और रेडियो-नाटक लिखे जाने लगे। ऐसे नाटक जिनके पूरे प्रभाव को, समूचे सौंदर्य को श्रुति और केवल श्रुति के माध्यम से अभिव्यक्त किया जा सकता था। लोकप्रियता की दृष्टि से भी रेडियो-नाटक प्रसारित कार्यक्रमों में समाचारों और फ़िल्म तथा लोकसंगीत के बाद सबसे

---

1. रेडियो-नाटक—हरिश्चंद्र खन्ना, पृ. 10 और 13

ऊपर होने के कारण लेखक इस क्षेत्र में सक्रिय हुए और आकाशवाणी द्वारा प्रकाशित रेडियो-नाट्य-संग्रह के खंडों को देखें तो सभी भारतीय भाषाओं के अनेक मूर्धन्य रचनाकारों की नाट्य-रचनाएँ मिल जायेंगी। विष्णु प्रभाकर, रामकुमार वर्मा और अश्क़ जैसे लेखकों ने तो जैसे इस क्षेत्र में विशेषज्ञता प्राप्त कर ली थी। योरोप और अमेरिका में भी द्वितीय विश्वयुद्ध के समय से इस विधा का तेज़ विकास हुआ और सैम्युएल बैकेट एवं ऑर्थर मिलर जैसे नाटककारों ने ख़ासतौर से रेडियो-नाटक लिखे। स्वीडन और जर्मनी जैसे देशों में रेडियो-नाटकों के अनेक संकलन हर साल प्रकाशित होने लगे और हज़ारों की संख्या में बिकने लगे।[1]

आज रेडियो-नाटक एक सुस्थापित कला-रूप है और गंभीर अध्ययन एवं रचनात्मकता की माँग करता है।

5.1.2 रेडियो-नाटक की प्रकृति

(i) **निर्बंधता :** 'रेडियो-नाटक प्रत्यक्षता के बंधन से मुक्ति का नाटक है—रूप, रंग, दृश्यबन्ध, प्रकाश-योजना आदि के बन्धनों से वह पूर्णतः मुक्त होता है। दृश्य की सीमाएँ होती हैं; वह सदैव देश और काल की सीमाओं से बंधा होता है। दृश्य सीमाबद्ध है, अदृश्य सीमाहीन। रेडियो-नाटक अदृश्य है, फलतः इसका क्षेत्र सीमाहीन है। यह बात नाट्यकर्मियों द्वारा इसके प्रस्तुतीकरण और श्रोता द्वारा इसके ग्रहण-दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।'[2] रेडियो-नाटक का प्रस्तुतकर्त्ता कोई भी दृश्य प्रस्तुत कर सकता है और श्रोता उसे अपने उसी रूप में ग्रहण कर सकता है। मानवीय कल्पना में जो भी संभव है, रेडियो नाटक में चित्रित हो सकता है। नॉर्मन कॉर्विन अपने नाटक 'डेब्रेक' में एक सुपर स्ट्रैटोप्लेन में श्रोताओं को सारी धरती की परिक्रमा कराते हैं। वायुयान की रफ़्तार उतनी है जितनी कि पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने की। प्लेन 24 घंटे में पृथ्वी

---

1. बी. बी. सी. 1966 में रेडियो ड्रामा टुडे—मार्टिन एसलिन, पृ. 7
2. रेडियो-नाटक की कला—डॉ. सिद्धनाथ कुमार, पृ. 14

की परिक्रमा करता है लेकिन कॉर्विन आधे घंटे में ही श्रोता को यह यात्रा करा देते हैं। यात्रा शुरू होती है तो लंदन पर सवेरे की किरणें फूट रहीं हैं और रात का पीछा करते प्लेन के पायलट के साथ श्रोता सारी धरती पर, जहाँ-जहाँ देखता है, सवेरा होता पाता है—द॰ अमेरिका के कैरीबियन द्वीप समूह और अर्जेंटिना-वेनेज़ुएला, उत्तरी अमेरिका के ओकलोहोमा और लॉस एंजेलिस, न्यूज़ीलैंड, ऑस्ट्रेलिया, पूर्वी यूरोप,एशिया और अफ्रीका तक हर जगह। देखता है हर जगह आदमी अपने रोज़मर्रा के काम में लगा है—मछली पकड़ रहा है, खेत जोत रहा है, अस्पताल में मृत्यु से लड़ रहा है, रेल और जहाज़ में सफ़र कर रहा है। मूलतः उसके जीवन की समस्याएँ एक सी हैं; आशा-आकांक्षाएँ एक सी हैं। और आधे घंटे में 'एक दुनियाँ' का विचार श्रोता के मन में पूरी प्रभविष्णुता से स्थापित हो जाता है।[1] रेडियो ने नाटक के क्षेत्र का जो विस्तार किया है, वह अभूतपूर्व है। 'इसने रूप, वर्णन, संवेग एवं विचार की ऐसी सृष्टि संभव कर दी है जो देश एवं क्षमता की नियंत्रक सीमाओं में नहीं बंधी है। रेडियो ने अपनी प्रकृति से ही लेखक को उसकी कल्पना के सदृश ही विस्तृत क्षितिज प्रदान किया है। व्यवहारिक दृष्टि से इसमें दृश्य-योजना, प्रकाश आदि की भौतिक समस्याएँ नहीं हैं, सौंदर्यपरक दृष्टि से इसके आयाम असीम एवं अबंध्य हैं।'[2]

(ii) **उद्बोधकता :** रेडियो-नाटक प्रत्यक्ष-चित्रण की अपेक्षा उद्बोधन को अपना उपकरण बनाता है। यह श्रोता की कल्पना को उद्बुद्ध करता है। 'रेडियो किसी भी अन्य नाट्य-माध्यम की अपेक्षा अधिक सक्षमतापूर्वक श्रोता की कल्पना को उद्दीप्त करता है और यही इस माध्यम की सबसे बड़ी शक्ति है।'[3] इस बेजोड़ शक्ति के कारण रेडियो एक ऐसे नाट्य-प्रकार को संभव बनाता है जो उन

---

1. रेडियो-नाटक—'डेब्रेक', लेखक : नॉर्मन कॉर्विन, पृ॰ 168
2. दि आर्ट ऑव रेडियो—डोनाल्ड मैकव्हिनी, पृ॰ 37
3. बी॰ बी॰ सी॰ 1966 की प्रस्तावना—मार्टिन एसलिन—पृ॰ 8

विषयों का भी समावेश कर लेता है जिनके निकट फ़िल्म और रंगमंच पहुँच भी नहीं सकते।

रेडियो-नाटक में कोलाहल, गाड़ियों के आवागमन की सूचना की उद्घोषणा और फेरीवालों की आवाज़ों की ध्वनियाँ श्रोता सुनता है और तीन-चार सेकेंड के इन ध्वनि-संकेतों से पूरा-का-पूरा रेलवे-प्लेटफ़ॉर्म उसके मस्तिष्क में सजीव हो उठता है। एक अकेली ध्वनि क्रमशः अनेक चित्र-शृंखलाओं को व्यंजित कर देती है, उस ध्वनि से संबद्ध दूसरी ध्वनियाँ अनायास उत्पन्न हो जाती हैं और एक बिंब दूसरे बिंब की व्यंजना करने लगता है। ध्वनि-संकेतों के इस अद्भुत उद्बोधक इस्तेमाल के कारण ही रेडियो-नाटक अन्य नाट्य-रूपों की अपेक्षा इतना मितव्ययी है। क्रमशः परिवर्तित होते हुए कार्य-व्यापारों, परिवेशों और मनःस्थितियों को सिर्फ़ ध्वनि-संकेत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत कर देते हैं। विवाह तय होने के प्रसंग के बाद ब्याह के शोरगुल और शहनाई एवं मंत्रोच्चार का स्वर सुनाई पड़ता है और फिर नवविवाहित युगल के संवाद आते हैं और दो-तीन सेकेंड में ब्याह सम्पन्न हो जाता है।

(iii) **लचीलापन :** रेडियो-नाटक में केवल ध्वनि का उपयोग होने के कारण एक अद्भुत गतिशीलता और लचीलापन रहता है। इसमें देशकाल की अनिर्बंध मुक्त यात्रा की जा सकती है; जीवन-सत्यों के विस्तृत क्षेत्र में एक छोर से दूसरे छोर तक स्वच्छन्द विचरण किया जा सकता है। बहिर्जीवन और अन्तर्जीवन, वस्तुनिष्ठता और आत्मनिष्ठता, वास्तविकता और सत्य—सबकी सीमाओं को तोड़कर एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में क्षिप्र गति से आवागमन किया जा सकता है।

1979 में आकाशवाणी से नाटकों के अखिल भारतीय कार्यक्रम में प्रसारित इक़बाल मज़ीद के नाटक 'काँस के फूल' का एक अंश है :[1]

---

1. रेडियो-नाटक 'काँस के फूल' लेखक : इक़बाल मज़ीद, आकाशवाणी नाट्य-संग्रह 1979, पृ. 8

नसीम : (धीमी और खोई हुई आवाज़ मे) सब कुछ बताऊँगा डॉक्टर साहब। मेरा नाम नसीम अहमद है। एम॰ ए॰ तक तालीम पायी है, कॉलेज में पढ़ाता हूँ। यह लड़की जो लोहे के कटहरे मे बंद है, मेरी ख़ाला की लड़की है। मैंने इस पौधे को अपनी आँखों के सामने फलते-फूलते देखा है। मैंने इससे खिलवाड़ किये हैं।

पृष्ठभूमि में आवाज़

नसीम : हलवा कौन खायेगा?

शम्मो : हा...ा...म।

नसीम : रिक्शे पर कौन बैठेगा?

शम्मो : हा...ा...म।

नसीम : टॉफ़ी कौन खायेगा?

शम्मो : हा...ा...म।

नसीम : घूँसे कौन खायेगा?

शम्मो : हा...(खिलखिलाहट)।

ऑटोवियन संवाद

नसीम : गोदियों में खिलाया है मैंने इसे। लेकिन एक दिन जब मैं घर आया तो कॉन्वेंट में पढ़ने वाली यह नन्हीं-सी गुड़िया बस अचानक ही जैसे यकबारगी लदी-फंदी बेरी-सी खड़ी थी। उसका बचपन दबे पाँव न जाने कब और कहाँ खो चुका था।

वर्तमान से स्मृति और फिर स्मृति से वर्तमान का सहज संचरण यहाँ दृष्टव्य है; वर्तमान पर स्मृति की छाया भी।

(iv) **आत्मीयता** : रेडियो-नाटक अपनी प्रकृति से अंतर्मन का नाटक है। और ऐसा इसलिए है कि यह अदृश्य तो है ही, अभिव्यक्ति का अत्यंत आत्मीय माध्यम है। इसमें वक्ता और श्रोता के बीच की दूरी नहीं होती। अभिनेता और मायक्रोफ़ोन के बीच जो दूरी होती है वही पात्र और श्रोता के बीच की दूरी है।

नाटक का पात्र फुसफुसाहट में कुछ कहता है और वह सीधे श्रोता के कानों में फुसफुसा रहा होता है। यही कारण है कि 'स्वगत' जितना रेडियो-नाटक में स्वाभाविक लगता है उतना और किसी नाट्य-रूप में नहीं।

(v) **अंतर्मन का चित्रण** : आत्मीयता के कारण अन्तर्मन के चित्रण की विशेष सुविधा रेडियो-नाटक को प्राप्त होती है और मनोवैज्ञानिक नाटकों को उनके सरलतम रूप मे यहाँ प्रस्तुत किया जा सकता है। रेडियो-नाटक कल्पना और अभिव्यंजना का नाटक है। जैसे कविता अभिधा में विश्वास नहीं करती वैसे ही रेडियो-नाटक यथातथ्यता के चित्रण का आग्रह नहीं करता। दोनों की वास्तविक शक्ति व्यंजना की है। 'काव्य शब्द एवं रचना के आंतरिक संगठन में है, और रेडियो-नाटक में इन्हीं का महत्त्व है।[1] रेडियो-नाटक उच्चरित शब्द की क्षमता पर ही निर्भर है, और उसी का अधिकाधिक उपयोग करता है। दृश्य-नाटक में भी शब्दों का उपयोग होता है पर वहाँ शब्द सिर्फ़ संकेतक होते हैं। दृश्य-उपकरण : आँगिक अभिनय, वेश-भूषा, प्रकाश-योजना आदि वहाँ अभिव्यक्ति के प्राथमिक माध्यम हैं। लेकिन रेडियो-नाटक में अभिव्यक्ति का एकमात्र माध्यम ध्वनि है और उसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाषा है। यह शब्द-केंद्रित नाट्य-रूप है और यही इसका वैशिष्ट्य है।

(vi) **गृहीता की आत्मनिष्ठता** : गृहीता की दृष्टि से देखें तो रेडियो-नाटक एक आत्मनिष्ठ नाट्य-रूप है। चूँकि यह श्रोताओं में कल्पना के स्तर पर कार्य करता है इसलिए एक बड़े श्रोता-समूह का हिस्सा होने के बावजूद हर श्रोता की पात्रों, वातावरण और कार्य-व्यापार की कल्पना अपनी और दूसरे से भिन्न होती है। एक बुज़ुर्गवार की काँपती आवाज़ में संवाद आता है और हर श्रोता उस चरित्र का ख़ाका अपने हिसाब से खींचता है। पात्रों के शारीरिक संघर्ष के संकेत मिलते

---

1. रेडियो-नाटक की कला—डॉ. सिद्धनाथ कुमार—पृ. 19

हैं या किसी बाग़ का ध्वनि-प्रभाव आता है और हर श्रोता उन संकेतों के स्केच में अपनी कल्पना के रंग भरता है।

5.1.3 मंच-नाटक और रेडियो-नाटक

मंच-नाटक के पास अनेक दृश्य-साधन उपलब्ध हैं—वातावरण और परिस्थितियों को व्यंजित करने वाले दृश्य-बंध, प्रकाश-योजना, पात्रों के व्यक्तित्व-सूचक परिधान और अलंकरण, कार्य-व्यापार, भाव-भंगिमाएँ और इन दृश्य साधनों का अपना महत्त्व, अपना आकर्षण होता है। कहने की ज़रूरत नहीं कि रेडियो—नाटक इन साधनों से पूर्णतः वंचित होता है। उसे मात्र ध्वनियों से और भाषा से अपना काम चलाना होता है।

रेडियो-नाटक कार्य-व्यापार, वातावरण आदि के चित्र ध्वनियों के माध्यम से दे सकता है या उन्हे सूच्य बना सकता है लेकिन वहाँ भी वह कुछ संकेत ही कर सकता है। लंबे चित्रणों की इजाज़त रेडियो नाटक नहीं देता।

उदाहरणतः—विष्णु प्रभाकर के एक नाटक का अंश है[1] :—

बुनियाद : मुनीर, क्या हम ठीक जगह पर आ पहुँचे हैं?

मुनीर : हाँ, कप्तान साहब। हम सही ठिकानों पर यही उतरे हैं। लेकिन हमें बहुत जल्दी छिपने का इंतज़ाम कर लेना चाहिए, चाँदनी होने ही वाली है।

बुनियाद : नहीं-नहीं अभी देर है। हमें अपने दूसरे साथियों की टोह लेनी चाहिए। वह देखो, उधर कुछ खेत दिखाई दे रहे हैं। आओ, हम वहीं चलें। और वहऐसा लगता है कि सामने से हमारे दो साथी भी आ रहे हैं। आओ, जल्दी करें।

मुनीर : यहाँ तो कोई नहीं दिखाई दे रहा। वो उधर कुछ झाड़ियाँ हैं, कहीं वे लोग वहीं तो नहीं छिप गये?

---

1. रेडियो-नाटक 'वापसी'—विष्णु प्रभाकर—वि. प्र. के सम्पूर्ण नाटक भाग-2—पृ. 95-96

बुनियाद : हो सकता है। तुम ऐसा करो, जल्दी से वहाँ चले जाओ या ठहरो, मैं भी चलता हूँ। तुम अपनी टोपी लगा लो, जिससे हमको कोई देखे तो समझे कि हम इंडियन सिविल डिफ़ेन्स के आदमी हैं।

मुनीर : हो सकता है, किसी ने हमें उतरते हुए देख लिया हो और वे लोग इधर ही आने वाले हों। देखो, देखो, वे कौन हैं?

बुनियाद : अरे, वे तो अपने ही साथी हैं। असगर भी है। आओ, इन झाड़ियों में से आओ।

(झाड़ियों में चलने की ध्वनि)

मंच पर एक साथ ही अनेक पात्रों को उपस्थित किया जा सकता है। दर्शक उन्हे रंग-रूप, वेश-भूषा आदि के द्वारा एक-दूसरे से अलग कर सकते हैं। लेकिन रेडियो-नाटक में एक साथ तीन-चार से अधिक पात्रों को रखना व्यवहार्य नहीं हो सकता क्योंकि मंच पर तो भाषा से इतर आँगिक प्रतिक्रियाएँ भी अर्थव्यंजक होती हैं लेकिन रेडियो पर पात्र संवादों और हँसने, चौंकने, लंबी साँस भरने, खाँसने, कराहने, हाँ-हूँ करने आदि कुछ ध्वनियों के अतिरिक्त और किसी तरह अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं कर सकता। इसके अलावे एक ही दृश्य में तीन-चार से अधिक पात्रों की संवाद-योजना अव्यवहारिक होने लगती है। और अगर किसी पात्र के संवाद अगर अधिकतम अनुमन्य अंतराल तक न आयें तो उनकी उपस्थिति और पहचान का संकट आ खड़ा होता है।

मंच पर मौन भी अभिव्यक्ति का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम बनकर आता है। मौन रेडियो पर भी एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है लेकिन एक सीमा से अधिक उसका उपयोग नहीं किया जा सकता अन्यथा वह पात्र की उपस्थिति का ही निषेध करने लगता है। मंच पर संवादहीन दृश्य आँखों के सामने से गुज़रते जाते हैं और नाटकीय गति भी बनी रहती है और अभिव्यंजना भी लेकिन रेडियो नाटक में सिर्फ़ ध्वनि-प्रभावों की शृंखला का प्रयोग बेहद सीमित रूप मे हो सकता है। मंच पर दर्शक स्वयम् देखता रहता है कि कौन पात्र आया, कौन गया/ पात्रों के नामोल्लेख की भी हमेशा ज़रूरत नहीं होती। लेकिन रेडियो-नाटककार को

इसका ध्यान रखना पड़ता है कि श्रोता पात्रों को पहचानता रहे और उनकी गतिविधि से अवगत होता रहे।

रंगमंच को जहाँ दृश्यत्व के कारण इतनी सुविधाएँ प्राप्त हैं, वहीं उसकी कुछ सीमाएँ भी हैं और उन्हीं सीमाओं से रेडियो-नाटक की शक्ति का जन्म होता है। मंच-नाटक किसी भी तरह क्रिकेट या फ़ुटबॉल मैच, मैराथन दौड़, युद्ध, बमवर्षा, बाढ़-भूकम्प नहीं दिखा सकता। लेकिन रेडियो-नाटक के लिए कोई भी दृश्य-रचना असंभव नहीं है। एक पूरा दृश्य रचने के लिए एक ध्वनि-प्रभाव काफ़ी है। हवाई जहाज़ के 'टेक-ऑफ़' का प्रभाव आया नहीं कि श्रोता के सामने वह उपस्थित हो गया और परिचारिका का पारंपरिक स्वागत-संवाद आया नहीं कि वह प्लेन के भीतर। मति नंदी का एक नाटक एक मछुआरे की बेटी के तैराक़ी का चैंपियन बनने की कहानी कहता है और इसके कई दृश्य नदी और 'स्वीमिंग-पूल' तथा तैराक़ी-प्रतियोगिताओं के हैं जिन्हें विश्वसनीय रूप में मंच पर दिखाना असंभव है।

मंच-नाटक की तुलना में **रेडियो-नाटक फ़ैंटेसी या अतिकल्पना आदि को बेहद सहजता से प्रस्तुत कर सकता है।** भारतेंदु हरिश्चन्द्र के 'भारत-दुर्दशा'[1] के निर्लज्जता, रोग, अंधकार, आलस्य हों या प्रसाद की 'कामना'[2] के संतोष, विवेक, विलास, दंभ, दुवृत्त, कामना आदि रेडियो पर इन्हें कहीं अधिक विश्वसनीयता से प्रस्तुत किया जा सकता है। 'जिस क्षेत्र में रेडियो का कोई प्रतियोगी नहीं है वह है शुद्ध और सरल कल्पना का क्षेत्र। अपने उत्कर्ष पर पहुँची हुई कोई रंगमंचीय प्रतिभा ही इसे कर सकती है—'दि टेंपेस्ट' में शेक्सपियर या 'पिअर जिंट' में इब्सन, पर रेडियो-नाटककार जो कुछ कर सकता है, उसमें सर्वाधिक सरलता से इसे ही कर सकता है।'[3]

रंग-नाटक अभिनेता और दर्शक के जीवंत संबंध का नाटक होता है— अभिनेता दर्शकों को प्रभावित करते हैं और स्वयं उनकी प्रतिक्रियाओं से प्रभावित होते हैं।

---

1. भारत-दुर्दशा—भारतेंदु हरिश्चंद्र
2. कामना—जयशंकर प्रसाद
3. दि आर्ट ऑफ रेडियो—डॉनाल्ड मैकव्हिनी—पृ. 60-61

दर्शक हँसे नही, रोयें नही, तालियाँ नहीं बजायें तब भी हॉल के वातावरण से अभिनेताओं को अनुमान रहता है कि दर्शक कहाँ तक उसके साथ हैं और कब उसका साथ छोड़ गये। **रेडियो का नाट्यकर्मी इस 'इंस्टैंट' प्रतिक्रिया से वंचित रह जाता है।**

सिर्फ़ प्रतिक्रिया ही नहीं **रेडियो-नाटक उस मानसिकता और परिवेश से भी वंचित रह जाता है जो मंच-नाटक को अनायास मिल जाते हैं।** रेडियो-नाटक का श्रोता ख़ासतौर से समय निकालकर नाटक देखने नहीं आता, उसने टिकट नहीं ख़रीदा होता इसलिए ज़रा सी अरुचि होते ही उसे स्विच-ऑफ़ करने या स्टेशन बदल देने में कुछ सोचना नहीं पड़ता। साथ ही, रंगशाला के शांत वातावरण में अपने जैसे ही सैकड़ों अन्य नाट्यप्रेमियों के साथ पूरी तरह मंच पर ध्यान केंद्रित कर नाटक देखने वाले दर्शक की तरह वह नाटक नहीं सुन पाता; घर में तरह-तरह के व्यवधान होते हैं। इसलिये रेडियो-नाटक पर एक अतिरिक्त भार रहता है कि वह पहले मिनट से ही श्रोता को बाँध ले और अंत तक कहीं भी भटकने का अवकाश न दे।

लक्षित गृहीत भी मंच-नाटक और रेडियो-नाटक में एक बड़ा फ़र्क़ पैदा करता है। मंच-नाटक दर्शकों के समूह को लक्षित होते हैं जिसमें दर्शकों की चेतना व्यक्तिगत न होकर बहुत कुछ सामूहिक चेतना का अंग बन जाती है। किसी दृश्य में दो-चार तालियाँ बजती हैं और पूरा हॉल तालियों से गूँज उठता है। एक-आध जगह से हँसी की शुरूआत होती है और उसकी लहरें पूरे हॉल को बहा ले जाती हैं। **संवेदना की यह संक्रामकता रेडियो-नाटक को उपलब्ध नहीं है।** एक बहुत बड़े श्रोता-समूह की इकाई होने के बावजूद हर श्रोता की अस्मिता स्वतंत्र रूप से बनी रहती है। अगर एक कमरे में बैठे दस लोग एक साथ कोई नाटक सुन रहे हों तब भी संवेदना का वैसा प्रभावशाली संक्रमण नहीं हो सकता क्योंकि नाटक कहीं बाहर नहीं श्रोता के मानस-पटल पर चल रहा होता है।

5.1.4 रेडियो-नाटक का रूप-विधान

रेडियो-नाटक में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उसका रूप-विधान या स्थापत्य है। स्थापत्य के

अंतर्गत नाटक की विभिन्न घटनाओं, प्रसंगों, कार्य व्यापारों आदि का, कथानक के विभिन्न खडो का पारस्परिक संबंध तो आता ही है, कथानक से संबद्ध सभी बाते आती हैं। कथानक की गति, दूसरे शब्दों में, नाटक की घटनाओं की गति मंद है या क्षिप्र, नाटक के प्रारम्भ, विकास और अंत के विभिन्न चरण, संघर्ष, संक्रांति और चरम सीमा की स्थितियाँ, दृश्य और सूच्य प्रसंगो का अनुपात, घटनाओं और पात्रों तथा पात्रों और संवादों का संबंध, और ऐसी ही सारी बातें जिनका संबंध नाटक की प्रभाव-सृष्टि से होता है, स्थापत्य के अंतर्गत आ जाती हैं।

(i) **कथानक**—चरित्रों और घटनाओं द्वारा एक समस्या का विकास करना और समाधान करना ही कथानक है।[1] स्थापत्य का मूल आधार है उसका कथानक। रेडियो-नाटक में एक ऐसे कथानक की आवश्यकता होती है जो श्रोताओं की जिज्ञासा जगाकर उसे अंत तक बनाये रखे। नाटक का घटनाक्रम कसा हुआ हो। रंग-नाटक के कथानक की शिथिलता की क्षतिपूर्ति कुछ हद तक दृश्य तत्त्वों का आकर्षण पूरा कर देता है लेकिन रेडियो-नाटक के पात्र औरकार्य-व्यापार अदृश्य होते हैं इसलिए इसका कथानक इतना चुस्त और सुसंबद्ध होना चाहिए कि इसका प्रभाव बिखरने न पाये। कम अविध का होने के कारण इसमें अप्रासंगिक और अवांतर कथाओं के लिए अवकाश तो नहीं ही होता, इसमें एकाग्रता और अन्विति आवश्यक हैं। साथ ही इसमें नाटकीय स्थिति का होना भी ज़रूरी है। वर्ना नाटक का आकर्षण और इसकी रोचकता समाप्त हो जायेगी। कथानक में गति और दिशा का होना भी अनिवार्य है।

समस्या और संघर्ष रेडियो-नाटक के कथानक के प्राण हैं। कथा वस्तु में समस्या का अभाव नाटक को सर्वथा आकर्षणहीन बना देता है क्योंकि समस्या से ही श्रोता की उत्सुकता जागती है और समस्यामूलक विचारवस्तु संघर्ष द्वारा प्रकाशित होती है। संघर्ष के अभाव में क्रिया-तत्त्व विकसित नहीं हो पाता।

---

1. रेडियो-नाटक—हरिश्चंद्र खन्ना—पृ. 82

संघर्ष के कई कारण हो सकते हैं। यह विचार का विचार से, आदर्श का आदर्श से, व्यक्ति का व्यक्ति से या व्यक्ति का अपने-आप से हो सकता है।

(ii) **चरित्र**—नाटक के कथानक की कल्पना चरित्रों के बिना असंभव है क्योंकि श्रोता तक पहुँचने के लिए कथानक चरित्रों का सहारा लेता है। चरित्र ही वह माध्यम है जिसके द्वारा नाटककार अपनी वस्तु को अभिव्यक्त करता है।

किसी नाटक में प्रायः दो प्रकार के पात्र होते हैं—प्रमुख और गौण। रेडियो-नाटक का क्षेत्र समय की क्रूरता के कारण बहुत सीमित होता है। इसलिए बहुत से चरित्रों की गुंजाइश इसमें नही होती। यहाँ केवल वही चरित्र रह सकते हैं जिनका कथा की प्रगति और समूचे नाटक के विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध हो।

रेडियो-नाटक में चरित्र की समूची विशेषता को स्वर द्वारा ही व्यक्त करना होता है इसलिए एक चरित्र को दूसरे चरित्र से अलग पहचानने के लिए उनकी ध्वन्यात्मक रूपरेखा को कुछ गहरा कर दिया जाता है। रेडियो-नाटककार और निर्देशक चरित्रों की कल्पना आकृति के रूप में न करके स्वर के रूप में करता है। रंगमंच के बरक्स रेडियो-नाटक में वेशभूषा, हाव-भाव आदि की जगह पात्रों के वाक्य, उनकी भाषा, संबोधन-शैली, विस्मयादि का तरीक़ा और उनके परस्पर स्वरभेद से ही उनकी छवि श्रोता के मन में बनती है। यहाँ स्वर प्रतीक होता है प्रवृत्ति का हालाँकि हर नायिका मधुरकंठी नहीं होती न ही प्रत्येक प्रतिनायक क्रूर स्वर वाला। फिर भी, जितने ही चरित्रों को स्वरगत विशेषता दी जा सके उतना ही रेडियो-नाटक प्रभावशाली बनता है।

(iii) **प्रारम्भ, मध्य और अंत**—रेडियो-नाटक के लिए कहानी को उस स्थान से उठाना अच्छा होता है जहाँ से बहुत समय नष्ट किये बिना ही श्रोता मुख्य समस्या और उसमें अन्तर्निहित संघर्षों का परिचय पा सकें। यह स्थान घटना-क्रम में कहीं भी मिल सकता है, कथा के आरम्भ में, उसके मध्य में या कहानी

के उत्कर्ष-बिन्दु के पास ही जहाँ से पिछली घटनाओं को एक फ़्लैश-बैक में प्रस्तुत किया जाता है।

रेडियो-नाटक का प्रारंभ नाटकीय होना चाहिए। कथा के किसी ऐसे बिन्दु से, जहाँ स्थितियों और चरित्रों में संघनन (intensity) हो और जो तुरंत श्रोता को एकाग्रचित्त कर ले। उदाहरणतः, कोई नाटक ठीक उस बिन्दु से आरंभ हो सकता है जहाँ कोई द्वन्द्व संक्रांति को जन्म देता है या, जहाँ कोई पात्र अपने जीवन के नये मोड़ पर हो या, किसी का कोई मूल्यवान विषय दाँव पर लगा हो। किसी ऐसे निर्णय से भी नाटक शुरू हो सकता है जो संघर्ष को जन्म देने वाला हो। मोहन राकेश के रेडियो-नाटक 'रात बीतने तक' (जिसके आधार पर उन्होंने बाद में अपना प्रसिद्ध नाटक 'लहरों के राजहंस' लिखा) का आरंभ इन संवादों से होता है :—

सुंदरी : (हँसती हुई) निर्वाण, मोक्ष और अमरत्व! ...... बस इतना ही? और भी तो बता, अलका, कि नदी तट से क्या-क्या उपदेश सुनकर आयी है?

अलका : यह हँसने की बात नहीं है, आप स्वयम् चलकर उनके मुँह से सब सुनें तो......।

सुंदरी : तो मुझे वहाँ भी हँसी आये बिना न रहेगी। मनुष्य कितने सुंदर शब्दों की खाल में अपने अभावों को ढँकने का प्रयत्न करता है? और तेरे जैसे भोले लोग अलका, हर शब्द पर विश्वास कर लेते हैं।

अलका : मैं भोली सही, राजकुमारी पर कपिलवस्तु के सब लाग तो भोले नहीं हैं।

सुंदरी : भोले नहीं वे पागल हैं। वे सोचना नहीं जानते।[1]

दृष्टव्य है कि पहले संवाद से ही दो विपरीत विचारों का संघर्ष श्रोता के सम्मुख रख

---

1 रेडियो-नाटक—'रात बीतने तक'—मोहन राकेश, रात बीतने तक तथा अन्य ध्वनि-नाटक—पृष्ठ 9-10

दिया गया है, दो व्यक्तियों का संघर्ष भी और कुछ ही संवादों के बाद जब सुंदरी बुद्ध की हँसी उड़ाती हुई कहती है—'नलिन-सरोवर में तैरते हुए हंसों के जोड़ों को देखा है न? आज तू जाकर उनसे यह निर्वाण और अमरत्व की बातें कहना। वे चोंच से चोंच मिलाकर चकित दृष्टि से तेरी ओर देखेंगे। तू जाकर फिर उनका यह मौन उत्तर गौतम बुद्ध को सुना देना', तो जैसे इस द्वन्द्व का शंखनाद ही कर देती है।

ऐसे प्रारंभ से नाटक के कार्यव्यापारों को स्वतः दिशा मिलती जाती है। एक घटना से दूसरी घटना अपने-आप निकलती जाती है, एक संवाद से दूसरा संवाद निकलता जाता है।

रेडियो-नाटक का आरंभ अगर उसकी नींव है और उसकी सुदृढ़ता महत्त्वपूर्ण है तो किसी सुंदर इमारत की ही तरह उसका मध्य-भाग भी आकर्षक, उपयुक्त अनुपात में और सुडौल होना चाहिए। नाटक के मध्य भाग में कथानक के सभी पहलुओं पर प्रकाश डाला जाता है। इसी में चरित्रों की भावात्मक पृष्ठभूमि का परिचय मिलता है, भविष्य की घटनाओं का निर्माण होता है और इसी की सहायता से नाटक को उत्कर्ष प्राप्त होता है।

मध्य भाग के पहले अंश में नाटक के आरंभ में प्रस्तुत की गयी समस्या को उभारा जाता है, दूसरे अंश में समस्याएँ गंभीर हो जाती हैं लेकिन इसी के साथ उनके समाधान की संभावना भी बनने लगती है।

मध्य भाग में प्रायः गौण और द्वितीयक संघर्षों का विकास किया जाता है जिसका उद्देश्य मुख्य समस्या को अन्य दृष्टिकोणों से देखना या अन्य संबद्ध उपसमस्याओं को जोड़ना होता है। लेकिन इनका तर्कसंगत, कलात्मक और मुख्य संघर्ष से संश्लिष्ट होना अनिवार्य है अन्यथा श्रोता पूरी तरह दिग्भ्रमित हो जायेगा।

नाटक के अंत को पहले के कार्यव्यापारों की सहज परिणति के रूप में आना चाहिए वर्ना यह आरोपित लगेगा। अंत समाधान के रूप में हो सकता है और प्रश्न के रूप में भी। महत्त्वपूर्ण यह है कि अंत नाटक के समग्र प्रभाव को अक्षुण्ण बनाये रखे।

(iv) **दृश्य-संयोजन**—रेडियो-नाटक में दृश्यों की संख्या का कोई बंधन नहीं होता। एक दृश्य का भी नाटक हो सकता है, पच्चीस दृश्यों का भी और दृश्य दो-चार संवादों से लेकर चालीस-पचास संवादों के भी हो सकते हैं; दस सेकेंड के भी और पाँच मिनट के भी। दृश्य-संयोजन वास्तव में कथावस्तु की गति और घटनाओं के आकार द्वारा निर्धारित होता है।

इसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उसका प्रभाव, संतुलन और कथानक का सहज, तार्किक और कलात्मक विकास होता है। आमतौर से बहुत छोटे दृश्य अपना वांछित प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पाते और बहुत बड़े दृश्य में प्रभाव टूटने लगता है। रेडियो-नाटक के लेखक और प्रस्तुतकर्त्ता को बेहद सतर्कता से इसका ध्यान रखना पड़ता है।

दृश्य-संयोजन में दृश्य और सूच्य प्रसंगों का भी प्रभावशाली चयन होना आवश्यक है। आवश्यक है कि कथा के मार्मिक स्थलों को घटते हुए दिखाया जाय और रसहीन वस्तु की मात्र सूचना दी जाय।

5.1.5 रेडियो-नाटक के उपकरण

'रेडियो-नाटक एक संश्लिष्ट शब्द-चित्र है, जो संवाद, संगीत, ध्वनि-प्रभाव और मौन के समन्वित सहयोग से इस प्रकार चित्रित होता है कि वह श्रोता के मानस-पटल पर स्पष्ट चित्र की सृष्टि कर सके।[1] ध्यान से देखा जाय तो संवाद, संगीत और ध्वनि-प्रभाव मूलतः एक ही उपकरण ध्वनि के तीन रूप हैं और मौन तो ध्वनि का ही दूसरा पक्ष है।

(i) **संवाद**—संवाद रेडियो-नाटक के प्राण हैं। लेकिन रेडियो-नाटक के संवादों का एक विशिष्ट चरित्र होता है। 'मंच-नाटक' के संवाद मेगाफ़ोनिक होते हैं जबकि रेडियो-नाटक के मायक्रोफ़ोनिक[2] नैकट्य और अंतरंगता रेडियो-संवादों के ख़ास

---

1. रेडियो-नाटक की कला—डॉ॰ सिद्धनाथ कुमार—पृ॰ 39

2. रेडियो-प्ले—फ़ेलिक्स फ़ेल्टन—पृ॰ 34

स्वभाव हैं। चूँकि रेडियो-नाटक समूह को नहीं समूह के प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग लक्षित करता है इसलिए लच्छेदार, जोशीले और थियेट्रिकल संवाद इसके लिए अनुपयुक्त हैं। स्वाभाविकता इसके संवादों का मुख्य गुण है, अतिरंजना और बनावट सबसे बड़ा दोष।

संवादों में शब्द-संयोजन बेहद महत्त्वपूर्ण होता है। शब्द ऐसे हों जिनमें भावोद्दीपन का गुण हो और शब्दावली ऐसी संवेदन-सम्पन्न कि प्रत्येक शब्द सीधे अपने अंतर्भूत प्रभाव को श्रोता तक पहुँचा सके।

संवादों में संक्षिप्ति और लय का बेहद महत्त्व होता है।

उदाहरणस्वरूप, मोहन राकेश द्वारा अपने नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' के रेडियो-रूपांतर[1] के संवाद हैं :—

मल्लिका : माँ, तुमने बात नहीं बतायी।

अंबिका : अग्निमित्र आज लौट आया है।

मल्लिका : लौट आया है? कहाँ से?

अंबिका : जहाँ मैंने उसे भेजाथा।

मल्लिका : तुमने भेजा था? किन्तु मैंने तुमसे कहा था, अग्निमित्र को कहीं भेजने की आवश्यकता नहीं है। तुम जानती हो मैं विवाह नहीं करना चाहती। फिर उसके लिए प्रयत्न क्यों करती हो? तुम समझती हो मैं निरर्थक प्रलाप करती हूँ?

अंबिका : देख रही हूँ कि तुम्हारी बात ही सार्थक होने जा रही है। अग्निमित्र यही संदेश लाया है कि वे लोग इस संबंध के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। वे कहते हैं......।

---

1. रेडियो नाटक—'आषाढ़ का एक दिन'—मोहन राकेश—रात बीतने तक तथा अन्य ध्वनि-नाटक—पृ. 100-101

मल्लिका : क्या कहते हैं वे? क्या अधिकार है उन्हें कुछ भी कहने का? मल्लिका का जीवन उसकी अपनी संपत्ति है। वह उसे नष्ट करना चाहती है तो किसी को उस पर आलोचना करने का क्या अधिकार है?

अंबिका : मैं कब कहती हूँ कि मुझे अधिकार है?

मल्लिका : मैं तुम्हारे अधिकार की बात नहीं कर रही थी।

अंबिका : तुम न कहो, मैं तो कह रही हूँ। आज तुम्हारा जीवन तुम्हारी संपत्ति है। मेरा तुम पर कोई अधिकार नहीं है।

मल्लिका : ऐसा क्यों कहती हो? तुम मुझे समझने का प्रयत्न क्यों नहीं करतीं?

अंबिका : मैं जानती हूँ कि तुम पर आज इतना अधिकार भी नहीं है। किन्तु......इतना बड़ा अपवाद मुझसे सहा नहीं जाता।

रेडियो-नाटक के संवादों की भाषा प्रत्यक्षतः लिखित होकर भी मूलतः उच्चरित होती है। रेडियो-नाटक उच्चरित शब्दों की शक्ति पर आधारित होता है। उच्चरित भाषा अनिवार्यतया दैनिक जीवन की बोलचाल की भाषा हो ऐसा नहीं है। यह परिवेश एवं पात्रों के अनुरूप तत्सम-प्रधान भी हो सकती है। शर्त सिर्फ़ इतनी है कि शब्द-संयोजन और वाक्य्-विन्यास बोलने की दृष्टि से सहज हों, सहज बोधगम्य हों। 'आषाढ़ का एक दिन' में ही कालिदास का संवाद दृष्टव्य है :—

कालिदास : हम जियेंगे, हिरणशावक! जियेंगे न? एक बाण से आहत होकर हम प्राण नहीं देंगे। हमारा शरीर कोमल है तो क्या हुआ? हम पीड़ा सह सकते हैं। एक बाण प्राण ले सकता है तो उँगलियों का कोमल स्पर्श प्राण दे भी सकता है। हमें नये प्राण मिल जायेंगे। हम कोमल शय्या पर विश्राम करेंगे। हमारे अंगों पर घी का लेप होगा। कल फिर हम वनों में घूमेंगे। कोमल दूब खायेंगे।[1]

---

1. आषाढ़ का एक दिन—रात बीतने तक तथा अन्य ध्वनि-नाटक मोहन राकेश—पृ. 102

संवाद क्या है जैसे कविता। लेकिन छठी शताब्दी के कवि के लिए कितनी उपयुक्त!

रेडियो-नाटक के संवादो को रंग-नाटकों में उपलब्ध दृश्य-साधनों के अभाव के कारण परिपार्श्व-चित्रण भी करना पड़ता है, पात्रों के कार्यकलापों की सूचना भी देनी पड़ती है, उनका ख़ाक़ा भी खींचना होता है। अतः संवादों में यथास्थल चित्र-निर्माण के गुण की बहुत आवश्यकता पड़ती है।

मोहन राकेश के ही एक रेडियो-नाटक के संवाद देखें :—

राजू : अब तू बोल नहीं बहुत धीमे पाँओं जा रही हूँ।

पाशी : भौजाई अब और रहने दो। देखो उसकी नींद खुल रही है। हाय राम यह क्या किया, भौजाई?

(दूर अधेड़ स्त्री की आवाज़—बच्चे को कौन ले गया है यहाँ से? हाय, हमारा बच्चा किसी ने चुरा लिया।)

पाशी : (दबे स्वर में) चल, जल्दी से यहाँ से निकल चलें। संतोखी को तू बाँहों में उठा ले, जल्दी चल। लाइन पार करके उधर खंभे की तरफ़ को निकल चलते हैं। हाँ-हाँ, सँभाल ले इसे ...... चल।

आस-पास शोर बढ़ता है.......

क्या हुआ है? किसका बच्चा उठाया गया है? उधर देखो लाइनों की तरफ़। उधर आगे तो पानी ही पानी है। उधर नहीं, उधर पगडंडी की तरफ़ देखो। उधर तो कोई नहीं।[1]

रेडियो-नाटक में संवाद का एक महत्त्वपूर्ण रूप 'स्वगत-भाषण' है और इसका प्रयोग भी बहुत होता है। रंगमंच पर भी इसका प्रयोग होता है लेकिन वहाँ यह उतना स्वाभाविक नहीं

---

1. रे॰ ना॰ 'दूध और दाँत'—मोहन राकेश—वही—पृ॰ 159-160

लगता क्योंकि स्वगत-भाषण के लिए ऐसे स्वर की आवश्यकता पड़ती है जो मंच पर संवादों के प्रक्षेपण के कारण संभव नहीं हो पाता। फ़िल्मों में जो महत्त्व क्लोज़-अप का होता है वही महत्त्व रेडियो-नाटक में स्वगत-भाषण का है अतः इसका प्रयोग बेहद सावधानी और कलात्मकता के साथ होना चाहिए।

(ii) **सूत्रधार**—कुछ दशक पहले तक सूत्रधार रेडियो-नाटक का बेहद महत्त्वपूर्ण उपकरण माना जाता था। लेकिन समय के साथ इसे नाटक की दुर्बलता माना जाने लगा और अब इसका प्रयोग बेहद सीमित हो गया है। यह सही भी है क्योंकि नाटक के सारे उद्देश्य संवादों के माध्यम से ही सिद्ध किये जाने चाहिएं।

सूत्रधार देश-काल का परिचय देता है, घटनाओं की शृंखला जोड़ता है, उन पर आवश्यक टिप्पणी करता है। यह पात्र-नैरेटर के रूप में हो सकता है और तटस्थ नैरेटर के रूप में भी। ऑर्थर लॉरेंट्स के नाटक 'दि फ़ेस', जो कि विश्व-युद्ध में बुरी तरह घायल हुए सैनिकों के पुनर्वास को अपना विषय बनाता है, का आरम्भ है[1]:—

सूत्रधार : रुकिए और उनके बारे में सोचिये। रुकिए, अभी, और उन पतियों, बेटो, भाइयों और प्रेमियों के बारे में सोचिए। आपके ये सिपाही जो आपसे दूर हैं, उनके बारे में सोचिये। आप क्या देखते हैं? उनका चेहरा। एक चेहरा जिसे आप जानते हैं, जिसे आपने प्यार किया है, प्यार से अपने हाथों में लिया है। ठीक है। अब इसके बारे में सोचिये। यह तकलीफ़देह होगा। लेकिन इसके बारे में सोचिये। उस चेहरे के बारे में सोचिये—जला हुआ, क्षत-विक्षत, लगभग पूरी तरह नष्ट। प्लास्टिक-सर्जरी से सेना उन्हें उनका चेहरा दे देगी......बिल्कुल पहले चेहरे जैसा। लेकिन......क्या सचमुच? लेकिन अगर ऐसा नहीं भी हो सकता तो क्या

---

1. रे॰ ना॰—दि फ़ेस—ऑर्थर लॉरेंट्स—रेडियोज़ बेस्ट प्लेज़ सं॰ जोसेफ़लिस—पृ॰ 83

यह इतना महत्त्वपूर्ण है? क्या आप सिर्फ़ एक आदमी के चेहरे से प्यार करते हैं?

ऑर्थर मिलर के नाटक 'दि स्टोरी ऑफ़ गस' में सूत्रधार ख़ुद एक सेलर है जो अपने एक साथी गस की कहानी सुनाता है। गस—जो रिटायर होकर आराम की ज़िंदगी जीने चला जाता है लेकिन युद्धरत देश के प्रति उसके कर्त्तव्य की पुकार उसे चैन से बैठने नहीं देती और वह वापस आ जाता है—इस बार अपने जवान बेटे के साथ।[1] मॉर्टन विशेनग्रैड के नाटक 'दि लास्ट इंका' में पेरू का रेड इंडियन राजकुमार ट्यूपैक अमारू स्पैनिश अत्याचारों और उसके प्रति किये गये विद्रोह की कहानी ख़ुद सुनाता है—अपनी जघन्य हत्या के डेढ़ सौ साल बाद, अपनी क़ब्र से।[2]

जीवन-चरितात्मक या आत्म-चरितात्मक नाटक में पात्र-नैरेटर का व्यवहार सहज रूप में किया जा सकता है। असहजता तटस्थ-नैरेटर के प्रयोग में होती है क्योंकि कई बार उसके आने से प्रसंगों की गति में बाधा पड़ने लगती है। अतः सूत्रधार का प्रयोग वहीं होना चाहिए जहाँ अपरिहार्य हो।

(iii) ध्वनि-प्रभाव—रेडियो-नाटक में ध्वनि-प्रभाव उस अभाव को पूरा करते हैं जो दृश्य-तत्त्व न होने से अनुभव होता है। ध्वनि-प्रभाव परिपार्श्व का मिर्माण करते हैं, यथार्थ की व्याख्या करते हैं और द्वितीय परिमाण का निर्माण करते हैं। ध्वनि-प्रभाव रेडियो-नाटक का अपना एक्सक्लूसिव उपकरण है। इसका प्रयोग रंग-नाटकों में भी होता है लेकिन वहाँ इसका वह प्रभाव नहीं हो पाता क्योंकि दृश्य ही इसमें बाधक बन जाता है। रेडियो में दृश्य की अनुपस्थिति में यह पूरी तीव्रता से वांछित प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम होता है।

प्रत्येक ध्वनि अपना वैशिष्ट्य रखती है और इसी से उसकी एक

---

1. रे॰ ना॰—दि स्टोरी ऑफ़ गस—ऑर्थर मिलर—रेडियो थियेटर—सं॰ वैल गीलगुड—पृ॰ 307
2. रे॰ ना॰—दि लास्ट इंका—मॉर्टन विशेनग्रैड—रेडियो-प्लेज़—सं॰ लूथर वीवर—पृ॰ 217

विशेष सहस्मृति होती है। ध्वनियों का संबंध स्थान, वस्तु और भाव से होता है और चूँकि श्रव्य-नाट्यकार ध्वनियों और शब्दों के ही आधार पर चित्र-निर्माण करता है इसलिए रेडियो-नाटक के शिल्प में ध्वनि-प्रभावों का बेहद महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ध्वनि-प्रभाव परिपार्श्व का निर्माण करने में रेडियो-नाटककार की सहायता करते हैं। नाटक शून्य में घटित न होकर ठोस धरातल पर किसी विशेष देश-काल में घटित हो रहा है, श्रोता को इसका बोध कराना आवश्यक है। यह काम ध्वनि-प्रभाव बख़ूबी करते हैं। इनसे नाटक में घनता का प्रभाव आता है; श्रव्य-चित्र में प्राकृतिकता और प्रत्यक्षता आती है। कॉलबेल बजती है, दरवाज़ा खुलता है और श्रोता को घर का आभास हो जाता है, टाइपराइटरों और कम्प्यूटरों की आवाज़ आते ही दफ़्तर का चित्र खिंच जाता है, झिंगूरों और कुत्तों की आवाज़ अनायास रात्रि का दृश्य उपस्थित कर देती है। लेकिन ध्यान रखने की बात है कि ध्वनि-प्रभाव पूरा चित्र नहीं दे सकते, यह केवल संकेत कर सकते हैं। इसलिए आवश्यक है कि उसके प्रभाव को संवाद प्रामाणिकता दें। वर्ना चिड़ियों की चहचहाहट लॉन में भी हो सकती है, बाग़ में भी; झिंगुरों का स्वर रात के सन्नाटे का संकेत भी कर सकता है, जंगल का भी; किसी द्रव को ग्लास में डालने का प्रभाव पानी उड़ेलने का बोध करा सकता और शराब उड़ेलने का भी।

ध्वनि-प्रभाव नाटक के कार्य-व्यापार की व्याख्या करके संवादों के प्रभाव को पूर्णता प्रदान करते हैं। एक पात्र कहता है—'कमरे में घुटन है, खिड़की खोल दो।' इसके बाद खिड़की खोलने का ध्वनि-प्रभाव इस कार्य को पूर्णता प्रदान करता है। अभिनेता की हर क्रिया—चाय पीने, कपड़े धोने, नहाने, चलने-फिरने आदि की व्याख्या ध्वनि-प्रभावों से होती रहे तो श्रोता के मस्तिष्क में प्रकरण का स्पष्ट और प्रभावशाली चित्र बनता है। लेकिन हर क्रिया का हर बार ध्वनि-प्रभाव भी निरर्थक होने लगता है। 'बिला वजह क़दमों और दरवाज़ों का ध्वनि-प्रभाव उनके नाटकीय महत्त्व को ख़त्म कर देता है।'[1] जब तक ध्वनि-प्रभाव कार्य-व्यापार की व्याख्या करने के लिए आवश्यक न हों तब तक उनके प्रयोग से बचना ही

---

1. दि रेडियो-प्ले—फ़ेलिक्स फ़ेल्टन—पृ. 49

श्रेयस्कर है। उदाहरणतः, अगर बिना कुछ कहे पात्र को दृश्य से हटना है तो क़दमों का प्रभाव ज़रूरी होगा। अगर पात्र को सीढ़ियाँ चढ़ या उतरकर जाना है तो सिर्फ़ माइक के दूर जाते हुए संवाद बोलने से इसकी व्यंजना नहीं हो सकती।

चरित्रांकन में भी ध्वनि-प्रभाव महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। 'थैंक यू मि॰ ग्लाड' में मि॰ ग्लाड की भारी बूटों वाली पदचाप आती है और चिड़ियाँ चहचहाना बंद कर देती हैं। अनिल बर्वे सिर्फ़ इस एक ध्वनि-प्रभाव से मि॰ ग्लाड के क्रूर चरित्र को स्थापित कर देते हैं। नाटक के क्लाइमैक्स में भी पूर्णतः रूपांतरित मि॰ ग्लाड के भारी क़दमों की आवाज़ आती है लेकिन चिड़ियों का चहचहाना बंद होने की जगह और बढ़ जाता है। मि॰ ग्लाड के इस रूपांतरण की इस ध्वनि-प्रभाव से अधिक सर्जनात्मक और कल्पनाशील व्याख्या नहीं हो सकती।[1]

ध्वनि-प्रभाव वातावरण की सृष्टि के लिए भी बेहद उपयोगी होते हैं। कल्पना कीजिये कि हमें रात, निर्जनता, शांति और विस्तृत देश का चित्रण करना है। लेकिन ये ध्वन्यात्मक गुण नहीं हैं। अब अगर झाड़ियों मेंहवा की साँय-साँय, पक्षी की एक अकेली चीख़ और कहीं दूर से आती रेल की सीटी सुनाई पड़े जो कभी स्पष्ट और कभी अस्पष्ट होकर अचानक शांत हो जाय तो अनायास ही श्रोता तक रात, निर्जनता और दूर-दूर तक फैले खेतों का दृश्य पहुँच जायेगा। हैज़े की मार से वीरान पड़े गाँव की उदासी, निर्जनता और वीरानी को एक अकेले कुत्ते के रोने से बख़ूबी व्यक्त किया जा सकता है। पनचक्की की पुक-पुक एकाएक ग्रामीण परिवेश रच देती है।

दृश्य की संरचना में दूसरे परिमाण का प्रभाव प्रस्तुत करने में भी ध्वनि-प्रभाव बेहद सहायक होते हैं। डब्ल्यू॰ डब्ल्यू॰ जैकब्स की कहानी 'दि मंकीज़ पॉ' के रूपांतर 'अदरक के पंजे' में बूढ़े माँ-बाप सर्दी से ठिठुरते हुए अपने बेटे का इंतज़ार कर रहे हैं। उनके

---

1. थैंक यू मि॰ ग्लाड—अनिल बर्वे—आकाशवाणी नाटक-संग्रह 1979—पृ॰ 191 और 223

संवाद माइक के नज़दीक़ से आते हैं और पृष्ठभूमि में तूफ़ान हुंकार रहा है। वे जैसे ही तंग-पेचीली सड़क से अपने बेटे के लौटने का ज़िक्र करते हैं, तेज़ हवा का गहरा शोर गूँज उठता है।[1] अग्रभूमि और पार्श्वभूमि की इस ध्वनि-संरचना से दृश्य में गहराई और विस्तृति का आयाम आ उभरता है। एक और उदाहरण लें। बैठक के एक हिस्से में ताश की मंडली जमी है और खेल में मस्त पुरुषों का हुल्लड़ सुनाई पड़ता है। फिर यह हुल्लड़ पृष्ठभूमि में चला जाता है और बैठक के दूसरे हिस्से में चल रहे वार्तालाप में इस हुल्लड़ पर टिप्पणी आती है। श्रोता के समक्ष अपने-आप दृश्य का दूसरा आयाम आ जाता है।

(iv) **विशेष प्रभाव**—विशेष-प्रभाव एक एलेक्ट्रॉनिक सर्जना है और रेडियो-नाटक का विशिष्ट उपकरण। सामान्य स्वर को आवर्द्धित/अतिरंजित करके, उसमें अनुगूँजे या विकृति उत्पन्न करके या स्वर के स्वभाव में परिवर्तन लाकर ऐसे प्रभाव उत्पन्न किये जाते हैं। एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण लें जो इस अनुभूति की तीव्रता से ग्रस्त हो रहा है कि समय अपनी क्षिप्र गति से व्यतीत होता जा रहा है और वह काफ़ी पीछे छूट गया है। अगर एक टेबल-क्लॉक की टिक-टिक का स्वर-भार और लय बढ़ाकर उसमें एक क्रूर विकृति पैदा कर दी जाय तो इस पात्र की मनोभूमि उपस्थित हो सकती है।

लय और स्वर-भार में अतिरंजना उत्पन्न करने के अतिरिक्त मूल ध्वनि के स्वभाव में परिवर्तन लाकर भी विशेष प्रभाव उत्पन्न किये जाते हैं। यह फ़िल्टरों के उपयोग से होता है जिनकी सहायता से ध्वनि के तीव्र नाद-कंपन और मंद नाद-कंपन के प्राकृतिक संतुलन में भेद पैदा करके उसके स्वभाव को बिल्कुल बदल दिया जाता है। कंपन को कम कर देने से ध्वनि में एक प्रकार की कर्कशता आ जाती है और तीव्र नाद-कंपनों को काट देने से इससे विपरीत प्रभाव प्राप्त होता है।

---

1. अदरक के पंजे—डब्ल्यू॰ डब्ल्यू॰ जैकब्स—रूपां॰-सय्यद इम्तियाज़ अली ताज—आकाशवाणी नाटक-संग्रह 1964—पृ॰ 246

(v) **संगीत**—संगीत रेडियो-नाटक का बेहद महत्त्वपूर्ण उपकरण है। संगीत का प्रयोग यूँ तो दृश्य-श्रव्य माध्यमों—मंच-नाटक, टी॰ वी॰, फ़िल्म आदि में भी होता है लेकिन वहाँ दृश्य की उपस्थिति के कारण संगीत की वह स्वायत्त सत्ता नहीं होती, न ही दर्शक द्वारा प्रभाव-ग्रहण का वह परिमाण ही। रेडियो-नाटक का संगीत सौदा फ़ीसदी अपना प्रभाव पा लेता है।

रेडियो-नाटक में संगीत का प्रयोग मुख्यतः नाटक के आरंभ और अंत के लिए, दृश्यांतर के लिए तथा पार्श्व-संगीत के रूप में होता है और अगर कल्पनाशीलता के साथ इसका प्रयोग किया जाय तो हर जगह संवेदना के निर्माण और उसकी सघनता के लिए, दृश्य एवं चरित्रों की व्याख्या और उन पर टिप्पणी करने के लिए संगीत से अधिक सशक्त और रचनात्मक उपकरण नहीं हो सकता। सिर्फ़ इतनी सावधानी बरतने की ज़रूरत होती है कि संगीत संवेदना के बिल्कुल अनुरूप हो, बेहद संक्षिप्त हो और वहीं हो जहाँ एक रचनात्मक हस्तक्षेप करे। सिर्फ़ संगीत के लिए संगीत का प्रयोग न सिर्फ़ प्रस्तुति को हास्यास्पद बनाता है बल्कि कई बार मूल संवेदना की हत्या तक कर देता है। राजेन्द्र सिंह बेदी का अप्रतिम रेडियो-नाटक 'नक़्ले-मकानी'[1] (जिस पर बाद में बेदी ने बहुचर्चित फ़िल्म 'दस्तक' बनाई) अपनी थीम, अपने संवादों, अपने ट्रीटमेंट और अभिनेताओं के मर्मस्पर्शी अभिनय के बूते रेडियो-नाटक को असाधारण ऊँचाई तक पहुँचाता है। लेकिन कोठों के चित्र-निर्माण के लिए प्रस्तुतकर्त्री वसुंधरा कानड़े (आकाशवाणी मुंबई) ने हिन्दी फ़िल्मों के चालू मुजरों के टुकड़े डाल दिये हैं और ऐसे अद्‌भुत नाटक में संगीत का यह प्रयोग कितना असहनीय हो उठता है यह सुधी श्रोता ही जान सकता है।

---

1. रेडियो नाटक—'नक़्ले-मकानी'—ले॰ राजेन्द्र सिंह बेदी—आकाशवाणी नाटक संग्रह 1969—पृ॰ 231

रेडियो-नाटक में **कार्य-व्यापार की व्यंजना के लिए, शीघ्रता से बदलने वाले दृश्यों के लिए, स्मृति-दृश्यों, स्वप्न-दृश्यों और अतिकल्पनाओं आदि के लिए संगीत का बेहद महत्त्वपूर्ण स्थान है।** शहनाई का एक टुकड़ा ब्याह-कार्य की सूचना दे देता है और वायलिन या सारंगी के सुर वातावरण को मातमी कर देते हैं। कल्पना कीजिये कि नायक बदहवासी में, मेले में खो गये बच्चे को ढूँढ़ रहा है। अगर पृष्ठभूमि में द्रुत लय का वायलिन डाल दें जो हर बार नायक के रुकने पर रुकता हो और भागते ही शुरू हो जाता हो तो इस आवेश को वह और तीव्र करेगा।

उपेन्द्रनाथ अश्क़ द्वारा किये गये मुंशी प्रेमचंद के उपन्यास 'निर्मला' के रेडियो-नाट्य रूपांतर की प्रस्तुति में निर्देशक हरिश्चंद्र खन्ना ने लंबे काल-खंड में फैले घटनाक्रम को व्यक्त करने के लिए सितार और पियानो की विभिन्न लयों का प्रयोग किया। जब तक स्थिति सामान्य है पियानो की गति-लय सामान्य है। फिर ज्यों-ज्यों निर्मला का जीवन दुःखमय होता गया संगीत की लय कम होती गयी और जब नाटक उस स्थल पर पहुँच गया जहाँ पात्रों के लिए समय चलता-चलता रुक-सा गया है, संगीत की लय भी धीमी होते-होते लड़खड़ाने-सी लगी।[1] इस प्रकार नाटक को संगीत ने रचनात्मक पुष्टि दी।

पार्श्व-संगीत रेडियो-नाटक की सटीक भावात्मक व्याख्या करता है और इस सहगामी क्रिया-नाटक के प्रभाव और उत्कर्ष को बल प्राप्त होता है। नरेश मेहता के नाटक 'नील-दिशाएँ' के एक संवाद-क्रम में मन से अस्थिर और प्रायः अर्द्धविक्षिप्त नायक महसूस करता है कि उसके हॉल में लटकता हुआ झाड़फानूस ज़ोर से हिल उठा है और उसके सिर पर गिरने ही वाला है। नायक के इस भाव-दशा में प्रविष्ट होते ही माइक से दूर रखे तानपूरे के तारों के कंपन और पियानों के एक झन्नाटेदार कॉर्ड का प्रयोग किया जाता है। ज्यों-ज्यों नायक और भयभीत होता जाता है संगीत की लय और स्वर-भार बढ़ता जाता है और जैसे ही नायक इस दौरे के कारण डूबने लगता है संगीत भी उसी गति और परिमाण में क्षीण होता

---

1. रेडियो-नाटक—हरिश्चंद्र खन्ना—पृ. १६०

चला जाता है। अंत में रह जाता है, प्यानो का एक अकेला क्षीण स्वर जो नायक के बेहोशी की दशा में धीरे-धीरे साँस लेने जैसा है।[1]

संगीत नाटक के प्रभाव की पुष्टि करता है—कभी संगति से तो कभी विसंगति से। गेरहार्ड मेन्सेल के रेडियो-नाटक 'जॉन लैकलैंड'[2] मे एक जगह नायक ईश्वर-निंदा कर रहा है। जैसे-जैसे निंदा का स्वर उभरता है, पृष्ठभूमि के संगीत का स्वभाव रुष्ट और भीषण होता चला जाता है। ईश्वरनिंदक का स्वर और उभरता है और वह कुछ देर के लिए संगीत को दबा लेता है। लेकिन थोड़ी ही देर में संगीत फिर उभरता है और निंदक की वाणी को डुबो लेता है। संघर्ष का अंत होते ही संगीत का स्वभाव बदल जाता है और वह अपने मूल रूप में आ जाता है।

रेडियो-नाटक में संगीत का एक और प्रभावशाली प्रयोग लीटमोटिफ़ (Leit motif) बनाकर किया जाता है। आरंभ में ही प्रमुख चरित्रों या मनोदशाओं का एक सांगीतिक प्रतिरूप (musical counterpart) निर्धारित कर लिया जाता है। फिर जहाँ भी वह स्वर-लहरी सुनाई देगी, श्रोता उस चरित्र या विशिष्ट मनोदशा का संकेत पा लेगा। ऑर्थर मिलर के नाटक 'डेथ ऑफ़ ए सेल्समैन' के रेडियो-रूपांतर[3] में जब भी नायक विली अतीत में जाने लगता है पार्श्व मे बाँसुरी पर एक विशिष्ट सपनीली धुन बजती है और जब भी उसका मृत भाई बेन उसकी विक्षिप्त मनःस्थित में उसके सामने प्रकट होता है एक ख़ास डरावने संगीत का टुकड़ा आता है। अतिकल्पना रूपकों और प्रतीक-नाटकों में संगीत का महत्त्व और बढ़ जाता है। इनमें वाद्ययंत्रों के स्वभावगत अभिव्यंजनात्मक गुणों का पूरा लाभ उठाया जाता है। त्रिलोकचंद क़ौसर की फंतासी 'हयाते नौ' में इन्सान, मसर्रत, मुहब्बत, उम्मीद और ज़िंदगी पात्र हैं। प्रस्तुति में हर पात्र के वाद्य-प्रतिरूप तय किये गये—इंसान के लिए चेल्लो (गहन निराशा), मसर्रत

---

1 रेडियो नाटक—'नील दिशाएँ'—नरेश मेहता—आकाशवाणी नाटक-संग्रह-1 1955—पृ. 85

2. रेडियो नाटक—जॉन लैकलैंड—गेरहार्ड मेन्सेल—रेडियोज बेस्ट प्लेज़—पृ. 161

3. रेडियो नाटक—सेल्समैन की मौत—रूपां. ललित सहगल—आकाशवाणी नाटक संग्रह-16, वर्ष 1963—पृ. 36-73

है। उदाहरणस्वरूप, नायक का मित्रों के साथ हँसी ठट्ठा फ़ेड-आउट हो और उसकी पत्नी का उसे जली-कटी सुनाना फ़ेड-इन तो दृश्यांतर अनायास संप्रेषित हो जायेगा।

जब फ़ेड-इन और फ़ेड-आउट करने की क्रिया समानांतर होती है तो उसे क्रॉस-फ़ेडिंग (स्वर-विलयन) कहते हैं। दूसरे शब्दों में एक दृश्य को दूसरे में मिला देना—इस तरह कि एक ध्वनि-चित्र पूर्णतःविलीन होने के पूर्व ही दूसरा उभर आये, क्रॉस-फ़ेड करना है। सामान्य तौर पर क्रॉस-फ़ेडिंग ध्वनि-प्रभावों की होती है; जैसे—फ़ैक्ट्री के ध्वनि-प्रभाव को नदी के कल-कल से क्रॉस-फ़ेड करते ही श्रोता के समक्ष दृश्यांतर उपस्थित हो जायेगा। कभी-कभी संवादों को भी फ़ेड-इन करते हैं। लेकिन इसके लिए यह सावधानी बरतना ज़रूरी होता है कि फ़ेड-आउट होने वाले संवाद के अंतिम शब्द और फ़ेड-इन होने वाले संवाद के प्रारंभ के शब्द महत्त्वपूर्ण न हों।

क्रॉस-फ़ेडिंग के कई रचनात्मक प्रयोग हो सकते हैं। यह रेडियो-नाटक में कैमरा-इफ़ेक्ट का कार्य करता है। उदाहरणार्थ—

स्वर एक : उधर देखो।

स्वर दो : किधर?

स्वर एक : उधर। वोऽऽ......उस तरफ़।

स्वर दो : मुझे तो कुछ दिखाई नहीं देता।

स्वर एक : लो, मेरी दूरबीन से देखो। देखा, पहाड़ की तलहटी के साथ-साथ एक काफ़िला चला जा रहा है। ख़ानाबदोश लगते हैं। **(क्रॉस फ़ेड-इन घोड़े-खच्चरों का हिनहिनाना, घंटी आदि। दुबारा क्रॉस-फ़ेड वार्तालाप)।**

स्वर एक : देखा?

स्वर दो : हाँ। लेकिन रुको! अरे! इनके बीच-बीच मे तो हथियारो से लैस लोग हैं। नहीं ये ख़ानाबदोश नहीं, पाकिस्तानी हमलावर हैं। फ़ौरन चौकी को सूचना दो।

(वायरलैस का प्रभाव—क्रॉस फ़ेड इन भारी बूटों की द्रुत चाप)

सैनिक : (*उत्तेजित स्वर*)—श्रीमान्! सीमा पर घुसपैठिए सैनिक हैं।

दृष्टव्य है कि फ़ेड-इन फ़ेड-आउट से कैसे विस्तृत (panoramic) दृश्य निर्मित किये गये हैं। क्रॉस-फ़ेडिंग से यहाँ कैमरे के लाँग-शॉट और क्लोज़-अप का काम लिया गया है।

(इ) ध्वन्यात्मक विभेद **(Aural contrast)**—स्थित्यंतरण के लिए ध्वन्यात्मक विभेद यानी स्वरूप और स्वभाव की दृष्टि से दो बिल्कुल भिन्न प्रकार की ध्वनियों का प्रयोग एक प्रभावशाली उपकरण है। मान लें कि समाप्त होने वाले दृश्य में दो व्यक्ति शांत स्थान में धीरे-धीरे बात कर रहे हों और अगले दृश्य का आरंभ तीव्र जन-रव से हो तो यह ध्वन्यात्मक विभेद अनायास ही दृश्यांतर कर देगा। अगर पहले दृश्य के कार्यकलाप को प्रतिध्वनि वाली पृष्ठभूमि पर जैसे कि सभाकक्ष में और दूसरे को शांत कमरे की प्रतिध्वनिविहीन, सामान्य पृष्ठभूमि पर अंकित किया जाय तो श्रोता को स्थानांतर समझते देर नहीं लगेगी।

श्रव्य-शैली मूलतः इस सिद्धान्त पर आधारित है कि प्रत्येक ध्वनि एक विशेष भाव को जगाती है, एक विशेष अर्थ का बोध कराती है। ध्वनियों के साथ श्रोता की स्मृति-संवेदना में जुड़ी होती है और उन्हें सुनते ही उसके सामने संबद्ध परिपार्श्व उपस्थित हो जाता है। अतः दृश्य के परिपार्श्व को उसका नादपर्याय (Sound counterpart) देना नाटक की व्यंजना को निश्चय ही बढ़ा देगा।

(ई) स्मृति-दृश्य और स्वप्न-दृश्य—स्मृति दृश्य या विगताख्यान (Flashback) और स्वप्न-दृश्य का प्रयोग यूँ तो एक सीमा के अंदर मंच पर भी होता है, लेकिन रेडियो-नाटक में फ़िल्म या टी॰ वी॰ की ही तरह इसके प्रयोग की अपरिमित

संभावनायें हैं। वर्तमान मे अतीत और वास्तविक जगत से मनोजगत का संचरण यहाँ इतना सहज और सरल है कि रेडियो-नाटक के लेखक-प्रस्तुतकर्ता के लिए स्मृति-दृश्य और स्वप्न-दृश्य की योजना करना उतना ही साधारण है जितना कि सामान्य दृश्य की। भेष-भूषा, पृष्ठभूमि, सेट, प्रकाश, पात्रों की उम्र—किसी परिवर्तन का कोई खटराग नहीं—एक संवाद का संकेत आया—'मुझे आज भी याद है' या 'आज से बीस साल पहले की बात है' और श्रोता समझ गया कि कथाक्रम अतीत में गया। कई बार तो संवाद-संकेत की ज़रूरत भी नहीं पड़ती। स्वप्न/स्मृति-दृश्य के संगीत-संकेत से ही काम बन जाता है और कई बार ध्वन्यात्मक-विभेद से ही। यही कारण है कि रेडियो पर ऐसे नाटक सहजता से होते हैं जिनमें हर क़दम पर स्मृति, स्वप्न या अंतर्मन के हस्तक्षेप हों।

(उ) संयुक्त दृश्य-क्रम (Montage)—फ़िल्मों की ही तरह रेडियो नाटक में भी मोंताज का सरलतापूर्वक प्रयोग होता है। विभिन्न देश-काल की घटनाओं के अंशों को एक द्रुत दृश्य-क्रम में संयुक्त कर देना रेडियो में इतना आसान है कि इस महत्त्वपूर्ण उपकरण के व्यापक उपयोग की संभावना बन जाती है। एक लंबे देश-काल में फैले घटनाक्रम को बेहद संक्षेप में प्रस्तुत करने या ग्रंथिमयी मानसिक अवस्थाओं के प्रभावशाली चित्रण में मोंताज का महत्त्वपूर्ण उपयोग होता है।

ऑर्थर मिलर के नाटक 'डेथ ऑफ़ ए सेल्समैन' के रेडियो-रूपांतर के उत्कर्ष दृश्य में आत्महत्या करने के फ़ैसले पर पहुँचे मनोरोगी नायक के मानस-पटल पर उसका सारा जीवन घूम रहा है और सिर्फ़ गिनती के संवादांशों और ध्वनियों से निर्मित आधे मिनट के मोंताज से इस मानसिक अवस्था का बेहद प्रभावशाली चित्रण हो जाता है।[1]

5.1.6 रेडियो नाटकों के विभिन्न रूप

विषय की दृष्टि से रेडियो-नाटक के पारिवारिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक,

---

1. रेडियो नाटक—सेल्समैन की मौत, रूपांतर - ललित सहगल—आर्थर मिलर—पृ. 62

मनोवैज्ञानिक, जासूसी आदि कई वर्गीकरण किये जा सकते हैं लेकिन शिल्प की दृष्टि से उनमें कोई बड़ा अंतर नहीं है। शिल्प की सृष्टि से रेडियो-नाटक के कुछ मौलिक प्रकार निम्नलिखित हैं :—

(i) **एक पात्री नाटक**—जैसा कि नाम से ही ज़ाहिर है, इस नाटक में एक ही पात्र होता है। चूँकि संघर्ष या द्वन्द्व का नाटक के कथानक में बेहद महत्त्वपूर्ण स्थान है, एकपात्री नाटक का द्वन्द्व पात्र के बाहर न होकर अंतर्मन में घटित होता है। इकलौते पात्र के अनेक भाव-विचारों या भिन्न व्यक्तित्व-खंडों के संघर्ष के माध्यम से यह नाट्य-रूप आकार और उत्कर्ष पाता है। स्वाभाविक रूप से इसमें घटना-बाहुल्य की गुंजाइश नहीं होती। गिनी-चुनी घटनाओं या भाव-स्थितियों के पात्र द्वारा मंथन को ही प्रधानता दी जाती है। हाँ, भावाभिव्यक्ति में वैविध्य अनिवार्य है।

विष्णु प्रभाकर के नाटक 'सड़क'[1] में नायिका सड़क से बातें कर रही है, सड़क से अपनी तुलना कर रही है, पूरी नारी जाति की तुलना कर रही है, उसके दमन उसके संत्रास को स्वर दे रही है :—

"बड़े-बड़े ट्रैक्टर, लॉरियाँ, फ़ौलादी पहियों वाले टैंक, मोटर, तरनालों से चोट करते हुए घोड़े—इन सब की चोट सड़क के दिल में गूँज रही है। पर इन आँसुओं और पसीने की बूँदों की मूक वेदना यह कैसे सह लेती है। (धीमा स्वर) कैसे सह लेती है? (विराम्) जैसे मैं सह लेती हूँ। (चौंककर) मैं! ...... जैसे मैं सह लेती हूँ!! मुझसे सड़क का क्या संबंध है? (दृढ़ता से) संबंध है ...... औरत और सड़क का पूरा-पूरा संबंध है। (सहसा हँसकर) अब समझ में आया, अब समझ में आया। (विराम) सड़क के सीने पर जैसे पत्थर कुटते हैं, दुर्मुट चलते हैं, दानव जैसा सटीम-रोलर चलता है, जिस तरह उसके नीचे आकर इन्सान चटनी बन जाता है, उसी तरह औरत के सीने में अनगिनत तमन्नाओं और हसरतों की ख़्वाबगाह है। उस पर समाजी डर और बंधन के दुर्मुट चोट करते हैं और फिर कर्त्तव्य का स्टीम-रोलर सबको पीस कर समतल कर देता है।"

---

1 रेडियो नाटक—'सड़क'—विष्णु प्रभाकर—वि. प्र. के सम्पूर्ण नाटक भाग-2—पृ. 213

एकपात्री नाटक का लेखन बेहद कठिन है। यही कारण है कि ये बहुत कम लिखे गये हैं। हिन्दी मे विष्णु प्रभाकर ने 'नये-पुराने', 'धुआँ', 'नहीं नहीं नहीं' आदि कुछ अच्छे एकपात्री नाटक लिखे हैं।

(ii) **पद्यनाटक**—इसे काव्य-नाटक और गीति-नाट्य भी कहते हैं। नाम से ही स्पष्ट है कि इसमे संवाद गद्य में न होकर पद्य मे होते हैं। 'पद्य की भाषा लयात्मक तो होती ही है, वह ध्वन्यात्मक, बिंब-प्रधान, प्रतीकात्मक और अलंकृत भी होती है। पद्य का यह स्वरूप निर्दिष्ट होता है हमारे उस आंतरिक जीवन से जिसकी अभिव्यक्ति का माध्यम पद्य बनता है। स्पष्टतः जो कथानक अंतर्जीवन और उसके राग-विरागों को चित्रित करने का विशेष रूप से अवकाश देता है, वही पद्यनाटक का आधार बनता है।'[1] स्वाभाविक रूप से पद्यनाटक के विषय और कथानक के चुनाव में यही दृष्टि काम करती है। साथ ही यह याद रखना भी बेहद ज़रूरी होता है कि यह न सिर्फ़ काव्य है न ही नाटक बल्कि दोनों का समन्वित रूप है। काव्य और नाटकीयता की यह समन्विति जितनी सहज और प्रगाढ़ होगी, पद्य-नाटक उतना ही सफल होगा। धर्मवीर भारती का 'अंधा युग' मूलतः रेडियो के लिए ही लिखा गया था (निर्देशक-गौरीशंकर, आकाशवाणी इलाहाबाद)[2] और पद्य-नाटक का श्रेष्ठ उदाहरण है। एक अंश दृष्टय है—

गांधारी : तो, वह पड़ा है कंकाल मेरे पुत्र का
किया है यह सब कुछ कृष्ण
तुमने किया है यह
सुनो!
आज तुम भी सुनो

---

1. रेडियो-नाटक की कला—सिद्धनाथ कुमार—पृ. 159
2. ध्वनि-तरंगों की ताल पर—गोपालदास—पृ. 80

मैं तपस्विनी गांधारी

अपने सारे जीवन के पुण्यों का

बल लेकर कहती हूँ

कृष्ण सुनो!

तुम यदि चाहते तो रुक सकता था युद्ध यह।

मैंने प्रसव नहीं किया था कंकाल वह

इंगित पर तुम्हारे ही भीम ने अधर्म किया

क्यों नहीं तुमने वह शाप दिया भीम को

जो तुमने दिया निरपराध अश्वत्थामा को?

तुमने किया है प्रभुता का दुरुपयोग

यदि मेरी सेवा में बल है

संचित तप में धर्म है

तो सुनो कृष्ण

प्रभु हो या परात्पर हो

सारा तुम्हारा वंश

इसी तरह पागल कुत्तों की तरह

एक-दूसरे को परस्पर फाड़ खायगा

तुम खुद उनका विनाश करके कई वर्षों बाद

किसी घने जंगल में

साधारण व्याध के हाथों मारे जाओगे

प्रभु हो

पर मारे जाओगे पशुओं की तरह।

कृष्ण-ध्वनि : माता!

प्रभु हूँ या परात्पर

पर पुत्र हूँ तुम्हारा तुम माता हो।

मैंने अर्जुन से कहा

सारे तुम्हारे कर्मों का पाप-पुण्य, योगक्षेम मैं

वहन करूँगा अपने कंधों पर

अट्ठारह दिनों के इस भीषण संग्राम में

कोई नही केवल मैं ही मरा हूँ करोड़ों बार

जितनी बार जो भी सैनिक धराशायी हुआ

कोई नहीं था

वह मैं ही था

गिरता था घायल होकर जो रणभूमि में।

अश्वत्थामा के अंगों से

रक्त, पीप, स्वेद बनकर बहूँगा

मैं ही युग युगांतर तक

जीवन हूँ मैं

तो मृत्यु भी तो मैं ही हूँ माँ!

शाप यह तुम्हारा स्वीकार है।[1]

(iii) प्रहसन—आकाशवाणी में प्रसारित छोटी अवधि की हास्य-प्राधान नाटिकाएँ प्रहसन कहलाती हैं। विविध भारती के हवामहल कार्यक्रम से इनका नियमित

---

1. पद्यनाटक 'अंधा युग'—धर्मवीर भारती—पृ. 99-100

प्रसारण होता है। प्रहसन का शिल्प सामान्य रेडियो-नाटक से इसलिए भिन्न हो जाता है कि इसकी हास्य-चेतना इसके वस्तु-विन्यास, चरित्र, संवाद और भाषा-शैली, सबको एक विशेष प्रकार का स्वरूप प्रदान करते हैं।

रेडियो से प्रसारित होने वाले प्रहसनों के लेखक को इस प्रश्न से बार-बार टकराना पड़ता है कि प्रहसन की वस्तु क्या हो? विशाल जन-समूह को लक्षित होने के कारण समूह के विभिन्न घटकों की रुचि-विभिन्नताओं का ध्यान रखना पड़ता है। दूसरा सवाल आकाशवाणी जैसे सरकारी माध्यम की नीतियों को लेकर उठता है जो राजनीति या समाज की सबसे ज्वलंत समस्याओं और उनके यथार्थ एवं गहरे चित्रण से दामन बचाकर चलने में यकीन रखती हैं। फलतः प्रहसनों के विषय पति-पत्नी की नोंक-झोंक, पड़ोसियों से लड़ाई बिन बुलाये मेहमानों, बॉस-सेक्रेटरी प्रसंग आदि तक ही सीमित होकर रह जाते हैं।

उपेंद्रनाथ अश्क़ के प्रहसन, 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ'[1] में ऐन शो के दिन नाटक के प्रमुख पात्र बीमार पड़ जाते हैं, बाहर चले जाते हैं और अभिनेताओं के पात्र ताश के पत्तों की तरह फेंटे जाते हैं। जब चोबदार का रोल कर रहे सेठ चुन्नीलाल आख़िरी वक़्त पर दुर्योधन का रोल करेंगे तो हास्य की स्थिति उत्पन्न होगी ही :—

चुन्नीलाल : (घबराये स्वर में) दुर्योधन, षंड!......पाषंड!

प्रॉम्पटर : (जल्दी से) बैकेट में पदाधात......

चुन्नीलाल : (ज़ोर से) बैकेट में पदाघात! (अचानक संवाद याद आ जाता है। जल्दी-जल्दी बोलते हैं) यदि मैंने तेरी इस जंघा को गदा के प्रबल प्रहार से......प्रबल प्रहार से (खाँसकर) प्रबल प्रहार से......अरे प्रॉम्पटर! आगे क्या है?

(दर्शकों की हँसी, तालियाँ, सीटियाँ, हूटिंग)

---

1. रेडियो प्रहसन—पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ—लेखक : उपेंद्रनाथ अश्क—प्रहसन संकलन, 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ'—पृ॰ ३८-३९

(रुआँसी आवाज़ में) मैंने तो पहले ही कहा था कि मुझे चोबदार ही बना रहने दो। मुझसे यह भीम का पार्ट न होगा। कहने लगे नहीं, तू ही मोटा है तू बना-बनाया भीम है!

(दर्शकों के ठहाके)

जी चाहता है कि इस गदा से अपना और इस प्रॉम्पटर का सिर फोड़ दूँ। इन सब दरबारियों की गर्दनें तोड़ दूँ और स्टेज को चूर्ण-विचूर्ण कर दूँ।

दयाराम : (घबराकर, चिल्लाते हुए) पर्दा गिराओ! पर्दा गिराओ!!

प्रहसनों की प्रस्तुति में भी एक प्रमुख प्रश्न वातावरण के निर्माण का होता है क्योंकि हास्य एक समूहवृत्ति है जबकि रेडियो का श्रोता अमूमन अकेला या बहुत हुआ तो दो-चार के समूह में होता है। इस समस्या के निराकरण के लिए आमतौर से पहले से रेकॉर्ड किये गये हँसी के टुकड़ों का प्रयोग किया जाता है जो चुटीले संवादों के बाद डाल दिये जाते हैं। इससे श्रोता भी अपने-आपको एक बड़े समूह का हिस्सा महसूस करने लगता है और सामूहिक हँसी उस तक संचरित होने लगती है।

(iv) **अति-कल्पना नाटक**—अति-कल्पना या फ़ंतासी का आधार साकार वस्तु न होकर विशुद्ध कल्पना होता है। 'इसमें सब कुछ हो सकता है, सभी कुछ संभव और स्वाभाविक है। यहाँ तर्क का कोई स्थान नहीं, क्योंकि तार्किक विवेचना अति-कल्पना के अद्‌भुत वैचित्र्य और स्वप्निल लालित्य को नष्ट कर देती है।[1] फ़ैंटेसी देश-काल के बंधनों से मुक्त होती है। उसकी सृष्टि कल्पना की भाँति विशाल और अद्‌भुत होती है। इसमें लेखक दूसरे नक्षत्र के वासियों का हमला दिखा सकता है, मृत व्यक्तियों को सजीव कर सकता है, करोड़ों वर्ष पूर्व विलुप्त हो गयी डायनासोर

---

1 रेडियो-नाटक—हरिश्चन्द्र खन्ना, पृ. 70

जैसी या सुदूर भविष्य के गर्भ में छिपी प्रजातियों को साकार कर सकता है। जादू-टोने, परियाँ, तिलस्म, ऐयारी, राक्षस, देवी-देवता, भूत-प्रेत, बोलने वाले पेड़-पौधे, पशु-पक्षी—कल्पना की कोई भी और कैसी भी उड़ान रेडियो के अतिकल्पना नाटक मे सहज है। सिद्धनाथ कुमार अपने रेडियो—फ़ंतासी 'सृष्टि की साँझ'[1] में उस समय की कल्पना करते हैं जब तीसरा विश्वयुद्ध हो चुका है और परमाणु-अस्त्रों के निर्बाध प्रयोग से धरती मरघट में तब्दील हो चुकी है—सारे जीव-जंतु, वनस्पतियाँ नष्ट हो गयी हैं; तो रामकुमार वर्मा अपने नाटक 'उत्सर्ग'[2] में डॉ॰ शेखर एक ऐसे यंत्र का आविष्कार करता है जिसके ज़रिये वह मृत व्यक्तियों को उनका रूपाकार देकर वापस बुला सकता है, उनसे बातें कर सकता है। आमतौर से बच्चों के लिए प्रस्तुत ऐसे नाटकों में संगीत और विशेष ध्वनि-प्रभाव (Radiophonic Sounds) अति-कल्पना के बेहद महत्त्वपूर्ण उपकरण होते हैं।

(v) **प्रतीक-नाटक**—प्रतीक-नाटक में विभिन्न सामाजिक-राजनैतिक शक्तियाँ, भाव-विचार, प्रवृत्तियाँ, काल-खंड आदि पात्रों के रूप में चित्रित होते हैं। यूँ तो मंच पर भी ऐसे नाटक खेले जाते हैं लेकिन मेकअप आदि से उनकी वास्तविक सत्ता का प्रभाव नष्ट होने लगता है। कई बार तो वे हास्यास्पद लगने लगते हैं। सुमित्रानंदन पंत्र के प्रतीक-नाटक 'ज्योत्सना'[3] के पिक, शुक, झींगुर आदि पात्र अगर मंच पर मुखौटा लगाये अभिनेताओं द्वारा अभिनीत किये जायें तो कैसे लगेंगे? इसी नाटक की प्राकृतिक शक्तियाँ और तारे आदि और सबसे सूक्ष्म तो स्वयम् 'ज्योत्सना', साकार होते ही अपना वास्तविक लालित्य और सौंदर्य खो बैठेंगे। रेडियो-माध्यम में ऐसी कोई समस्या नहीं। थोड़ी सी स्वर-विकृति या ध्वनि-प्रभाव-संकेत श्रोता के मानस-पटल पर सहजता से इन पात्रों को साकार कर देते हैं।

---

1. सृष्टि की साँझ और अन्य काव्य-नाटक—सिद्धनाथ कुमार—पृ॰ 1 से 48
2. मेरे सर्वश्रेष्ठ एकांकी—डॉ॰ रामकुमार वर्मा—पृ॰ 35-67
3. नाटक 'ज्योत्सना'—सुमित्रानंदन पंत—सु॰ नं॰ पंतग्रंथावली खंड-1—पृ॰ 284-352

(vi) **धारावाहिक नाटक**—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह नाटक एक बार में (तीस या साठ मिनट में) समाप्त नही होता, बल्कि पंद्रह मिनट या आधे घंटे की अनेक कड़ियों में विस्तारित होता है। आम तौर से कड़ियो की संख्या तेरह या छब्बीस होती है। प्रसारण रोज़ एक नियत समय पर हो सकता है या प्रति सप्ताह एक नियत दिन भी।

धारावाहिक नाटक दो प्रकार के होते हैं। पहला प्रकार उन नाटकों का है जिनमें पात्र एक ही होते हैं लेकिन स्थितियाँ और समस्याएँ बदलती रहती हैं। आकाशवाणी इलाहाबाद से प्रसारित 'घर-घर की कहानी', 'मुंशी इतवारी लाल' (लेखक - नरेश मिश्र), और पटना से प्रसारित 'आईना', 'घर-बाहर' तथा सुप्रसिद्ध हास्य धारावाहिक 'लोहा सिंह' (लेखक - रामेश्वर सिंह कश्यप) आदि इसी श्रेणी के हैं।

दूसरा प्रकार उन धारावाहिक नाटकों का है जिनमें हर कड़ी में एक स्वतंत्र नाटक की जगह पहली कड़ी में शुरू हुई कहानी अंत तक चलती रहती है। वास्तव मे यह एक बड़ा नाटक होता है जिसके वस्तु-विन्यस में उपकथाओं के लिए अवकाश होता है। सामान्यतया बहुत बड़े उपन्यासों के नाट्य-रूपांतर कई कड़ियों में प्रसारित होते हैं जैसे विविध भारती से प्रसारित भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'भूले-बिसरे चित्र', रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'चोखेर बाली' (विनोदिनी), शरत् चंद्र चट्टोपाध्याय के 'पथ के दावेदार' या प्रेमचंद के 'निर्मला' आदि के नाट्य-रूपांतर का धारावाहिक प्रसारण।

धारावाहिक नाटकों का एक अन्य प्रकार यह हो सकता है जिसमें स्थितियाँ, समस्याएँ यहाँ तक कि पात्र भी बदल जायँ बस भावभूमि वही बनी रहे। भावभूमि ऐतिहासिक, सामाजिक, वैज्ञानिक कोई भी हो सकती है। जैसे 'ये क्रांतिवीर', 'लोकनायक', 'क़लम के सिपाही', 'कच्ची धूप', 'समाज के कोढ़', 'आधा आसमान' तथा आकाशवाणी इलाहाबाद से युगांतरकारी वैज्ञानिक खोजों पर आधारित इस शोधार्थी लिखित और प्रस्तुत 'दृष्टि' का भी

उल्लेख किया जा सकता है, जिसकी मूल भाव-भूमि यह थी कि विज्ञान की शिक्षा और व्यवसाय से अधिक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक दृष्टि है और जिसमे विज्ञान को पेशे से पादरी ग्रेगर जॉन मैंडल, पंसारी एंटेन वॉन लेवेन हुक और चार्ल्स डार्विन जैसे व्यक्तियों के अप्रतिम योगदान को रेखांकित किया गया था जिन्होंने विज्ञान की दिशा ही बदल दी थी।

5.2 रेडियो-रूपक

'रूपक' एक नया कला-रूप है और इसका आविष्कारक रेडियो है। यह न सिर्फ़ रेडियो की अविष्कृति है वरन् उसकी एक बेहद महत्वपूर्ण, बेहद विशिष्ट विधा है। इतनी कि एच॰ आर॰ विलियम्सन का मानना है कि—'यदि रेडियो को कला के रूप में मान्यता चाहिए, तो उसे अपना दावा अपने फ़ीचर्स के आधार पर करना चाहिए।' क्योंकि 'इसमें ध्वनि-माध्यम एक मौलिक, विधेयात्मक और सृजनात्मक रूप में प्रयुक्त किया जाता है।'[1]

ध्यातव्य है कि 'रेडियो-रूपक' पद में प्रयुक्त 'रूपक' का संस्कृत काव्यशास्त्र के रूपक, जो कि नाटक का पर्याय है, से कोई संबंध नहीं है बल्कि यह अंग्रेज़ी के रेडियो-फ़ीचर का अनुवाद है। बी॰ बी॰ सी॰ के रूपक-विभाग के आरंभिक अध्यक्ष लॉरेंस गिलियम रूपक को 'वस्तु का रेडियो-नाटकीय प्रस्तुतीकरण'[2] कहते हैं। यहाँ 'वस्तु' से तात्पर्य यथार्थ वस्तु या तथ्यों से है और रूपक की मूल चेतना वास्तविकता एवम् यथातथ्यता ही है। गिलियम के शब्दों में, "प्रसारण के संदर्भ में यह उन विभिन्न प्रकार के कार्यक्रमों का संकेत देता है जो सामान्यतः तथ्यपरक होते हैं, विविध-पद्धतियों से प्रस्तुत किये जाते हैं, लेकिन नाटकीकरण और संपादित वास्तविकता का प्रयोग विशेष रूप से करते हैं।"[3] आकाशवाणी की सालाना रिपोर्ट में रूपक का रूपकार निर्धारित कराते हुए कहा गया है—a feature programme is

---

1. रिफ़्लेक्शन्ज़ ऑन रेडियो-फीचर्स—एच. आर. विलियम्सन—बी. बी. सी. क्वार्टरली ऑटम 1951—पृ. 63
2. उद्धृत ऑन दि एयर—रोजर मैनवेल—पृ. 16
3. वही पृ. 19

a method of employing all the available methods and tricks of broadcasting to convey information or entertainment in a palatable form. Feature programme may range from a description of some process of manufacture interspersed with sound effects, conversation with workers, and so forth, to an arrangement of poetry and music compiled so as to present and develop an idea."[1]

स्पष्ट है कि इन दो छोरों के बीच बहुत विस्तृत कृतिक्षेत्र है। यह भी कि उक्त परिभाषा जितनी अस्पष्ट है उतना ही अस्पष्ट है रूपक का स्वरूप। परन्तु "रूपक एक कलाकृति है इसलिए उसका कुछ-न-कुछ रूप तो होगा ही। लेकिन रूपक का कोई निश्चित आकार नहीं है, जैसा कि नाटक का होता है। इससे यह संदेह उत्पन्न होगा कि रूपक में उच्छृंखलता का दोष होता होगा। उसमें वह ऐक्य, वह केंद्रीयता नहीं मिलती होगी जो नाटक में मिलती है। ऐसा नहीं है, क्योंकि रूपक की अरूप और मुक्त कृति को एकाग्र रखने वाली वस्तु है, केंद्रीय विचार। नाटक का ऐक्य कथानक पर निर्भर है तो रूपक का विचार पर। नाटक में एक घटना विकसित होती है; रूपक में एक विचार। एक विषय का अनेक दृष्टिकोणों से अवलोकन करते हुए एक विचार को प्रस्तुत किया जाता है, एक भाव को व्यक्त किया जाता है।"[2]

दो दशक तक बी॰ बी॰ सी॰ के नाटक विभाग के अध्यक्ष रहे गीलगुड के अनुसार, "कोई कार्यक्रम जो मूलतः नाटक के रूप में नहीं है, पर जो श्रोताओं के लिए अपनी प्रस्तुति में रेडियो-नाटक की टेकनीक़ का इस्तेमाल करता है, फ़ीचर है।"[3] परन्तु यह बात शिल्प की दृष्टि से कही गयी है। यह नाटक नहीं है लेकिन इसमें नाटक की टेकनीक का इस्तेमाल किया जाता है, यानी, इसमें संवाद ध्वनि-प्रभाव और संगीत का व्यवहार किया जाता है। इससे यह ध्वनि भी निकलती है कि नाटक न होते हुए भी किसी-न-किसी रूप में यह नाटकीयता से जुड़ा

---

1. आकाशवाणी की वार्षिक रिपोर्ट 1952—पृ॰ 148
2 रेडियो-नाटक—हरिश्चन्द्र खन्ना—पृ॰ 208
3. ब्रिटिश रेडियो-ड्रामा—वैल गीलगुड—पृ॰ 48

हुआ है। अतः समीचीन यह होगा कि एक नज़र नाटक और रूपक के संबंध पर भी डाल ली जाय।

5.2.1 नाटक और रूपक में समता-विभिन्नता

ऊपर हम देख आये हैं कि नाटक न होते हुए भी रूपक में नाटक की टेकनीक़, यानी संवाद, ध्वनि-प्रभाव और संगीत का व्यवहार किया जाता है। नाटक और रूपक में अंतर यह है कि "फ़ीचर तथ्य को लेकर चलता है, ड्रामा कल्पना को।"[1] फ़ीचर में वास्तविक घटनाओं, सूचनाओं, प्रसंगों आदि की आवश्यकता होती है, जबकि नाटक कल्पना पर आधृत होता है। हालाँकि ऐसे अनेक उत्कृष्ट रूपक प्रसारित हुए हैं जिनमें तथ्य और कल्पना दोनों का मिश्रण हुआ है। कई ऐसे रूपक हैं जिनमें शुरू से अंत तक एक कथानक विकसित होता चलता है। चिरंजीत कृत रूपक 'ऊँचा पर्वत ऊँचे लोग'[2] में दार्जिलिंग का प्राकृतिक सौंदर्य, संस्कृति, इतिहास, विकास—सब कुछ एक कथानक में अंतर्गुंफित है। एक विधवा वृद्धा अपने घर से भागे हुए बेटे को ढूँढ़ने दार्जिलिंग जा रही है। टॉय-ट्रेन की यात्रा में मिला वाचाल सहयात्री दार्जिलिंग-निवासी घोषाल उसे दार्जिलिंग के इतिहास-भूगोल, संस्कृति आदि पर विस्तार से बताता चलता है। बेटे की खोज में वृद्धा कभी टी-स्टेट तो कभी गिरिजा-बौद्ध मठ और कभी माउटेनियरिंग स्कूल पहुँचती है और इस बहाने श्रोता चाय की खेती का इतिहास-वर्तमान, नेपाली गोरखों की रस्मों-परंपराओं, महात्मा गाँधी के आगमन और उससे प्रेरित स्थानीय स्वतंत्रता-संग्राम, हिमालयन माउंटेनियरिंग इंस्टीट्यूट, करसियोंग के सेंट मेरीज़ कॉलेज और कैथेड्रेल की हिंदुस्तानी रंग में रंगी पूजा-अर्चना और हिंदुस्तानी रूप के ईसा मसीह, दुनियाँ के सबसे ऊँचे रेलवे स्टेशन, बौद्ध-धर्म के प्रचार-प्रसार, दार्जिलिंग की साक्षरता-दर दार्जिलिंग के अभिभूत कर देने वाले सूर्योदय—सबका परिचय पा लेता है। साथ ही, वृद्धा की कहानी भी विकसित होती चलती है कि कैसे आर्थिक विवशता में उसने अपने गोरखा प्रेमी को छोड़कर

---

1. रेडियो फ़ीचर—लॉरेंस गिलियम—ऑन दि एयर - रॉजर मैनवेल—पृ. 19
2. रूपक—ऊँचा पर्वत ऊँचे लोग—ले. चिरंजीत—आकाशवाणी नाट्य-संग्रह 1979—पृ. 23-56

वृद्ध सेठ में ब्याह कर लिया था लेकिन भागा हुआ बेटा प्रेमी नरबहादुर की निशानी है। अंत में वृद्धा को बेटा मिल जाता है, साथ मे नरबहादुर भी। फिर भी, नाटक और रूपक के अंतर को प्रधानता के आधार पर समझा जा सकता है। किसी विचार के विकास में तथ्यों, वास्तविक घटनाओं और वास्तविक चरित्रों या उनके अभिनीत अथवा प्रक्षिप्त रूपों का आधारभूत सामग्री के रूप में प्रयोग होता है जबकि नाटक मे (ऐतिहासिक नाटकों को छोड़कर) सामान्यतया काल्पनिक कथानक और पात्रों के माध्यम से विचार की प्राप्ति होती है।

5.2.2 रेडियो-रूपक का क्षेत्र

रूपक में तथ्यों और वास्तविकता के चित्रण से लेकर किसी विचार को कविता और संगीत के माध्यम से प्रस्तुत करने तक की बात हम आकाशवाणी की रिपोर्ट में दी गयी परिभाषा में देख आये हैं। स्पष्ट है कि यह एक अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र है और इसके अंतर्गत इतिहास, भूगोल, सभ्यता, संस्कृति, जीवन-चरित, विज्ञान आदि का कोई भी विषय लिया जा सकता है। रूपक के माध्यम से देश के स्वाधीनता-संग्राम का इतिहास बतलाया जा सकता है, किसी महान व्यक्ति का जीवन-चरित प्रस्तुत किया जा सकता है, किसी प्रदेश की संस्कृति से लोगों को परिचित कराया जा सकता है, वैज्ञानिक आविष्कारों की कहानी कही जा सकती है, रोगों की रोकथाम की बातें बतलाई जा सकती हैं। मतलब यह कि ज्ञान-विज्ञान, कला-संस्कृति आदि के किसी विषय पर रूपक की रचना हो सकती है। इनका उद्देश्य होता है मनोरंजक और आकर्षक रूप में ज्ञान का प्रसार—यह ज्ञान इतिहास का हो, विकास का या कला-संस्कृति का। रूपक प्रचारात्मक हो सकते हैं, सूचनात्मक हो सकते हैं, शिक्षात्मक हो सकते हैं, प्रासंगिक हो सकते हैं; जैसे—किसी महामानव की मृत्यु, कोई त्रासदी या कोई तीज-त्यौहार अथवा विशिष्ट घटना पर आधारित या साहित्यिक हो सकते हैं—किसी रचनाकार, किसी रचना, किसी विषय से सम्बद्ध रचनाओं, किसी साहित्यिक वाद या आंदोलन आदि पर।

5.2.3 रेडियो-रूपक का इतिहास

बी॰ बी॰ सी॰ से 1923-24 में नाटकों का प्रसारण शुरू हुआ, तब रेडियो-फ़ीचर नाम की कोई विधा नहीं थी। क्रिसमस, नव-वर्ष आदि पर विशेष कार्यक्रम प्रसारित होते थे,

जिन्हें फ़ीचर्ड प्रोग्राम कहा जाता था। धीरे-धीरे, बोलचाल मे यही फ़ीचर्ड-प्रोग्राम फ़ीचर हो गया जिसके अंतर्गत वे सभी रचना में प्रसारित होने लगीं जो शिल्प के लिहाज़ से प्रयोगशील थी। इस प्रयोगशीलता का झुकाव कल्पना-प्रधान रचनाओं की ओर कम, तथ्य-प्रधान रचनाओं की ओर अधिक था। उसी समय ग्रेट-ब्रिटेन में डॉक्यूमेंट्री-फ़िल्मों का विकास हुआ, और रेडियो के फ़ीचर-प्रोग्रामों के प्रस्तुतकर्ता उनकी ओर आकृष्ट हुए। वे वास्तविक जीवन की घटनाओं, व्यक्तियों के इंटरव्यू आदि के आधार पर कार्यक्रम तय्यार करने लगे। नये प्रकार की इन रचनाओं को रेडियो-डॉक्यूमेंट्री भी कहा जाने लगा।[1] आकाशवाणी में रेडियो-फ़ीचर को 'रेडियो-रूपक' और रेडियो-डॉक्यूमेंट्री को 'आलेख-रूपक', 'वृत्त-रूपक', 'वस्तु-रूपक' आदि नाम दिये गये।[2]

दूसरे महायुद्ध के दौरान नाज़ी प्रोपेगैंडा का प्रतिवाद करने एवं मित्र-राष्ट्रों की सेना के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने के लिए बी॰ बी॰ सी॰ और वॉयस ऑफ़ अमेरिका ने प्रचारात्मक रूपक का प्रसारण शुरू हुआ। 'आकाशवाणी से 'जंगनामा' और 'जवाबी हमला' शीर्षक के अंतर्गत सआदत हसन मंटो, चिराग़ हसन 'हसरत' आदि कई प्रसिद्ध रेडियो-लेखकों ने प्रभावोत्पादक रूपक लिखे।[3]

प्रचारात्मक रूपकों के साथ ही जनसामान्य और विद्यार्थी, ग्रामीण और शहरी महिलाओं, युवाओं, बच्चों आदि विशेष श्रोता समूहों के ज्ञानवर्द्धन के लिए सूचनात्मक रूपक भी लिखे जाने लगे। इसी काल में साहसी रेडियो-प्रस्तुतकर्त्ताओं ने अनेक रोचक और क्रांतिकारी प्रयोग किये। बंबई मे ज़ुल्फ़िकार बुख़ारी ने मायक्रोफ़ोन स्टूडियो से बाहर ले जाकर खुले जीवन में से विषय-चयन का प्रयास किया। चौपाटी पर मूँगफली बेचने वाला हो या बंदरगाह पर माल ढोने वाला पोर्टर, हर एक की अपनी कहानी थी जिसका जीवन में विशेष महत्त्व था। बुख़ारी ने प्रश्नोत्तर द्वारा मौलिक सामग्री एकत्र की और स्टूडियो में आकर सूत्रधार

---

1. दि रेडियो-प्ले—फेलिक्स फ़ेल्टन—पृ॰ ९९
2. रेडियो-नाटक की कला—सिद्धनाथ कुमार—पृ॰ 135
3. रेडियो-नाटक—हरिश्चंद्र खन्ना—पृ॰ 208

की कथा से उन टुकड़ों को क्रमबद्ध कर प्रस्तुत कर दिया। यह प्रयोग अत्यन्त सफल रहा और अन्य प्रसारण-केंद्रों से भी इसी प्रकार के कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये। प्रश्नोत्तर के अतिरिक्त बुख़ारी ध्वनि-प्रभाव भी रेकॉर्ड किया करते। इनकी सहायता से वह स्टूडियो में भी एक मुक्त और यथार्थ वातावरण की सृष्टि कर सकते थे। ऐसे कार्यक्रमों का उद्देश्य जीवन का यथार्थ और सप्राण चित्रण तो था ही विषय या विचार के केंद्रैक्य के लिए रूपक का प्रस्तुतकर्ता सामग्री को एक निश्चित दृष्टिकोण से संयोजित करने का प्रयास करने लगा। रूपक का यह प्रकार डॉक्यूमैंट्री की सीमा तक पहुँच चला था। उद्देश्य की प्रधानता भी क्रमशः बढ़ती जा रही थी।[1]

आकाशवाणी से प्रसारित होने वाले युद्धोत्तरकालीन रूपकों में सूचना और प्रचार के अतिरिक्त शिक्षा के तत्त्व का भी समावेश होने लगा। शिक्षात्मक रूपक का उद्देश्य विचारों और मतों का वैज्ञनिक ढंग से प्रचार था जिससे श्रोता के दृष्टिकोण में अपेक्षित परिवर्तन लाया जा सके। स्वतंत्रता के बाद जब ब्रॉडकास्टिंग ने अपना निर्माणात्मक कर्त्तव्य पहचाना तो नाटक की अपेक्षा रूपक के विकास पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। दिल्ली केंद्र का 'नवभारत' कार्यक्रम जिसमें जीवन के प्रत्येक अंग पर प्रकाश डाला गया था, और पटना केंद्र का 'उन्नति की ओर' कार्यक्रम इस दिशा में बहुत सफल प्रयास कहे जा सकते हैं। 'नवभारत' कार्यक्रम में अनेक प्रकार के रूपक लिखे गये। विष्णु प्रभाकर ने सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर लिखा तो रामचन्द्र तिवारी ने वैज्ञानिक, जन-स्वास्थ्य संबंधी और आर्थिक-औद्योगिक विषयों पर। उदयशंकर भट्ट ने ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और शिक्षा संबंधी विषयों को लिया। रेवती सरन शर्मा ने शरणार्थी-पुनःस्थापन की समस्या पर लिखा।[2] इस रूपक-समूह में जितना विषय-वैविध्य था उतना ही प्रकार-वैविध्य भी था। प्रत्येक लेखक प्रस्तुतकर्त्ता ने अपनी सामग्री को प्रस्तुत करने के लिए अनेक शिल्पगत प्रयोग किये।

इस प्रकार, रेडियो के इस मौलिक और अनंत रचनात्मक-कलात्मक संभावनाओं वाले कला-रूप का जन्म हुआ और उसका रूपाकार निर्धारित हुआ।

---

1. रेडियो-नाटक—हरिश्चंद्र खन्ना—पृ. 209
2. वही—पृ. 210

5.2.4 रेडियो-रूपक के प्रकार : सामान्य और आलेख-रूपक

जिस नाट्य-कृति में केवल यथार्थ वस्तु ही प्रधान हो उसे आलेख-रूपक या डॉक्यूमेंट्री कहते हैं। सामान्य रूपक या फ़ीचर मे भी वास्तविक तथ्यों का आधार लिया जाता है, पर उसके पात्र वास्तविक व्यक्ति नहीं होते, लेखक द्वारा कल्पित चरित्र होते हैं या फिर वास्तविक व्यक्तियों का अभिनय अभिनेताओं द्वारा किया जाता है। उदाहरणतः, अगर महाकवि निराला पर रूपक लिखना हुआ तो लेखक एक विशेष अभिनेता-स्वर की योजना कर सकता है जो निराला के प्रतिनिधि के रूप में उनकी कविताओं और विचारों को प्रस्तुत करे। उनसे जुड़े अन्य संबंधी, मित्र, संपादक, प्रकाशक आदि के लिए भी यह योजना की जा सकती है। साथ ही आवश्यकतानुसार कल्पित पात्र भी रखे जा सकते हैं। लेकिन अगर इसी विषय पर डॉक्यूमेंट्री या आलेख-रूपक बनाना हो, तो वह निराला के रचना-स्थलों से संबद्ध वास्तविक व्यक्तियों, जीवित-संबंधियों, मित्रों, संपादकों, समकालीन साहित्यकारों तथा उनके अध्येताओं, समालोचकों आदि से की गयी बातचीत की रेकॉर्डिंग तथा उनके रचनांशों का उन्हीं के हवाले से सूत्रधार द्वारा पाठ, गीतों आदि की संगीतबद्ध प्रस्तुति आदि के आधार पर निर्मित होगा। इसमे काल्पनिक पात्रों, घटनाओं आदि की कोई गुंजाइश नहीं होगी। विष्णु प्रकार के एक रूपक[1] में सूत्रधार पं॰ जवाहरलाल नेहरू के मित्रों के साथ पंडितजी की याद करता है। सब अपने-अपने संस्मरण सुनाते हैं और उनके संस्मरणों के बीच-बीच में संस्मरणों के पात्र भी आते हैं—अपनी व्यक्तिगत समस्याएँ लेकर पंडितजी तक जाने वाले लोग, भारत-भ्रमण पर आये और बीच में ही पैसा ख़त्म हो जाने पर पंडितजी से इंटरव्यू लेकर वापसी के ख़र्च का इंतज़ाम करने की इच्छा रखने वाला अमरीकी एडवोकेट, किताबें बेचकर पढ़ाई करने की इच्छा रखने वाला और बाद में किताबों की क़ीमत हड़प जाने वाला युवक, बाल-भवन के ग़रीब बच्चे और कर्मचारी, धरना देने वाले, दंगाई भीड़ के लोग आदि। नेहरू की आत्मकथा पढ़कर उन्हें लिखे अमृता शेरगिल के पत्र का अंश भी आता है। रूपक में मित्रों समेत इन सब चरित्रों का अभिनय द्वारा प्रतिनिधित्व किया गया है। घटनाओं को भी घटित होते दिखाया गया है। अब अगर इसी

---

1. रे॰ रूपक 'पंखुड़ी और फ़ौलाद'—विष्णु प्रभाकर—वि॰ प्र॰ के सम्पूर्ण नाटक भाग 2—पृ॰ 461-468

रूपक को आलेख-रूपक बनाना हो तो घटनाओं का नाट्य-प्रस्तुतीकरण तो नहीं ही हो सकता, मित्र और संस्मरण में आये सारे चरित्र भी वास्तविक होंगे न कि उनका अभिनय होगा। अमृता शेरगिल के विचार भी उन्हीं की आवाज़ में हों तो अत्युत्तम। दृष्टव्य है कि सामान्य रूपक की तुलना में आलेख-रूपक का निर्माण काफ़ी श्रम एवं व्ययसाध्य है और अनायास नहीं है कि आमतौर से आकाशवाणी के प्रोड्यूसर या अन्य कर्मचारी ही इसे लिखते हैं, जबकि सामान्य रूपक बाहर के लेखक भी सुगमता से लिख लेते हैं।

5.2.5 रेडियो-रूपक का स्थापत्य

रेडियो-रूपक के बारे में एक बेहद प्रचलित उक्ति है कि विश्व ज्ञान-कोष को कई स्वरों (नैरेटरों) में बाँटकर प्रस्तुत कर देने से वह रूपक नहीं हो जाता। निहितार्थ यह है कि तथ्यों, सूचनाओं या विचार को आकर्षक रूप में प्रस्तुत करना, उन्हें एक कला रूप देना रूपक का काम है। रेडियो-फ़ीचर वास्तविकता का नाटकीकृत रूप है। इसके लेखक को रिपोर्टर या कैमरामैन से कुछ अधिक होना चाहिए। उसे वास्तविकता की सामग्री का चयन सावधानी से करना चाहिए और उस पर ऐसा नियंत्रण रखना चाहिए कि वह एक निश्चित नाटकीय प्रभाव निर्मित कर सके। तथ्यों को किस प्रकार नाटकीय रूप दिया जाय यही रेडियो-रूपक के समक्ष सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

(i) शीर्षक

रूपक तथ्यों, विचारों, नीरस सूचनाओं और आँकड़ों आदि की आधारभूत सामग्री से निर्मित होता है। समस्या उन्हें आकर्षक और मनोरंजक कार्यक्रम में ढालने की होती है और इसकी शुरूआत रूपक के शीर्षक से होती है। शीर्षक किसी उपभोक्ता-उत्पाद की पैकिंग की तरह होता है। जैसे किसी उत्पाद का पैकेट हमें सबसे पहले आकर्षित करता है, वैसे ही कार्यक्रम का शीर्षक भी आकर्षक और उत्सुकता जगाने वाला होना चाहिए। अगर रूपक का शीर्षक ही कार्यक्रम की अंतर्वस्तु के बारे में सब-कुछ बता दे तो वह आकर्षण उत्पन्न करने के बदले विरक्ति ही जगाएगा क्योंकि श्रोता तथ्यों, सूचनाओं और प्रचार से बेहद बिदकता है। उसके कानों में 'जयप्रकाश नारायण', 'उ॰ प्र॰ के भारी उद्योग', 'साक्षरता', 'स्वाधीनता

आंदोलन का इतिहास' जैसे शीर्षक पड़े नहीं कि उसने स्टेशन बदला। वहीं 'एक बेचैन यात्राः भूदान से सम्पूर्ण क्रांति तक', 'हमारे ये नये तीर्थ', 'दीप से दीप जले', 'संघर्ष : सम्मान और समानता का', 'बोलती दीवारें', 'जंगल गाता है', 'अठहत्तर नदियों के पास', 'नरकद्वार से स्वर्ग की सीढ़ी तक', 'पैरों मे पंख बाँधकर' जैसे शीर्षक फ़ौरन श्रोता का ध्यान खींचते हैं और उनमे कार्यक्रम सुनने की उत्सुकता जगाते हैं।

(ii) प्रारंभ

जैसे लुभावने शीर्षक का महत्त्व है वैसे ही बेहद आकर्षक, कसे और उत्सुकता को चरम तक ले जाने वाले आरंभ का। अगर शीर्ष कार्यक्रम का पैकेट है तो आरंभ नमूने के माल की स्थिति रखता है। आरंभ इतना 'कैची' होना चाहिए कि श्रोता रूपक सुनने के लिए विवश हो जाय।

सीधे अपने मूल मुद्दे पर आ जाने से एक उपयुक्त वातावरण का निर्माण नहीं हो पाता। संगीत, ध्वनि-प्रभाव और एक सधी-रोचक भूमिका हमेशा कार्यक्रम को एक सटीक 'लाँचिंग-पैड' उपलब्ध कराती है। उदाहरणतः एक बेहद सहज, बिना किसी आडंबर के फिर भी सटीक भूमिका प्रस्तुत है[1]—

(किनारे से टकराती समुद्र की लहरों का शब्द)

यायावार : पश्चिमी समुद्र-तट के साथ-साथ एक लम्बी यात्रा—इस अतिरिक्त यात्रा की कोई बनी हुई रूप-रेखा मन में नहीं थी। बस एक अस्थिरता ही थी जो मुझे अंदर से धकेल रही थी। मन में बार-बार एक चित्र उभर आता था। खुला समुद्रतट। दूर-दूर तक फैली रेत। रेत में से उभरी बड़ी-बड़ी स्याह चट्टानें। ख़ामोश रात और एकटक उस विस्तार को ताकती लालटेन की मटियाली-सी रोशनी। मैं सराय के अहाते में बैठा समुद्र के क्षितिज को देख रहा हूँ। मेरे सामने एक बुड्ढा आदमी बैठा है। हम दोनों के बीच एक पुरानी मेज़ है जो कुहनी का

---

1. रे॰ रूपक 'आख़िरी चट्टान तक'—ले॰ मोहन राकेश—रात बीतने तक तथा अन्य ध्वनि-नाटक—पृ॰ 162-63

ज़रा-सा बोझ पड़ते ही चरमराने लगती है। बुड्ढे आदमी के सामने एक पुराना अख़बार फैला है। मेरे सामने चाय की प्याली रखी है। मैं कभी समुद्र की तरफ़ देखता हूँ और कभी उस बुड्ढे आदमी की आँखों की तरफ़, जिसमें समुद्र की-सी लहरें उठती महसूस होती हैं। मैं चाय की प्याली उठाकर होठों तक ले आता हूँ। तब तक एक नयी लहर का फेन पास की रेत पर एक और लकीर खींच जाता है।

(कुछ क्षण केवल लहरों का शब्द सुनायी देता रहता है जो धीरे-धीरे विलीन हो जाता है) ऐसे चित्रों का बार-बार मन में उभरना—सोचता था मन की यह भटकन क्या है? एक बार किसी ने इसे नाम दिया था—वांडर लस्ट। यह भटकन मन में बहुत थी, इसलिए उस बार थोड़ी सुविधा होते ही मैंने तुरंत चल देने का निश्चय कर लिया। घर से चलते समय कुछ निश्चय नहीं था कि कब-कहाँ कितने दिन रहूँगा। केवल इतना तय कर लिया था कि गोआ जाकर वहाँ से रेल, मोटर या नाव, जहाँ जो मिले, उसमें समुद्रतट के साथ-साथ कान्याकुमारी तक की यात्रा करूँगा। सबसे पहले बंबई से पूना, पूना से लोंडा और लोंडा से मार्मुगाँव तक की यात्रा गाड़ी में करनी थी, इसलिए उस दिन सुबह विक्टोरिया टर्मिनस से पूना एक्सप्रेस में बैठ गया।

(गार्ड की-व्हिसिल, इंजिन की सीटी और स्टेशन से गाड़ी छूटने का शब्द। फिर चलती गाड़ी के अंदर से सुनायी देते गाड़ी के स्वर–पुलों के ऊपर से जाने और घरों के पास से गुज़रने आदि के)।

(iii) मध्य

रूपक का यह भाग ऐसा होता है जिसे संभाले रखना सबसे अधिक चुनौतीपूर्ण कार्य है। आरंभ को तो रोचक भूमिका से, संवादों से, गीत-संगीत से, ध्वनि-प्रभावों से चित्ताकर्षक और 'कैची' बनाना आसान है लेकिन उसके बाद तो असली विषय पर आना ही पड़ता है, और तब शुरू होती है रूपक-लेखक की क्षमता की परीक्षा। शीर्षक-रूपी पैकिंग और आरंभ-रूपी ट्रेलर से उसने श्रोता की जो अपेक्षाएँ जगायी हैं अगर मूल विषय-निरूपण उस पर खरा नहीं उतरा तो उसे स्टेशन बदल देने या रेडियो-सेट ऑफ़ कर देने में थोड़ी सी देर नहीं लगती।

वह कोई सारे कामों से अवकाश निकाल कर, सिनेमा या नाट्यगृह तक आकर, महँगे टिकट ख़रीदकर रेडियो-रूपक सुनने तो बैठा नहीं है कि पैसे और श्रम की वसूली के लिए पूरा कार्यक्रम सुनता बैठा रहेगा।

मूल विषय पर आते ही तथ्य, सूचना और विचार से एक सीमा से अधिक आँख-मिचौली संभव नहीं रह जाती। और यहीं ज़रूरत पड़ती है कौशल की। कितनी सूचना दी जाय कि श्रोता को अजीर्ण भी न हो और ज़रूरी जानकारी रह भी न जाय? विचार कैसे रखे जायँ कि वे प्रवचन न लगें, रचना के बीच से ख़ुद निकल कर आयें? संगीत, ध्वनि-प्रभाव और रोचक संवादों की कैसी योजना हो कि श्रोता का मनोरंजन भी होता रहे और सुनने का आकर्षण भी बना रहे?

विष्णु प्रभाकर के मशहूर रूपक 'लाल-क़िला'[1] में आद्योपांत ख़ुद लाल क़िला अपनी कहानी कह रहा है। उसकी कहानी में ऐतिहासिक तथ्य हैं, सूचनाएँ हैं लेकिन तथ्यों के साथ भावनाओं की जुगलबंदी भी है। साथ ही जैसे ही लेखक को लगता है कि सूचनाएँ बोझिल हो रही हैं तुरंत किसी प्रसंग की नाट्य-प्रस्तुति आ जाती है। कभी शाहजहाँ और वास्तुकार मुक़र्रम ख़ाँ के संवाद आते हैं तो कभी ज़ीनतमहल और विद्रोहियों के, कभी बहादुरशह पर चलाये गये मुक़दमे का अभिनय आता है और कभी आज़ाद हिन्दी फ़ौज के अफ़सरों पर मुक़दमे का। बीच-बीच में बहादुरशाह ज़फ़र और ग़ालिब के शेरों का सस्वर पाठ आता है, नृत्य-संगीत आता है, बेर्नियर आदि के उद्धरणों का पाठ आता है। पार्श्व संगीत, ग़दर, क़त्लेआम, मज़दूर, घंटे-घड़ियाल, जवाहरलाल के जय-हिंद आदि के ध्वनि-प्रभावों का लगातार प्रयोग उपयुक्त वातावरण भी बनाये रखता है, और उच्चरित शब्दों की एकरसता भी तोड़ता चलता है।

(iv) अंत

रूपक का अंत भी आकर्षक होना चाहिए—निष्कर्षात्मक और प्रभावशाली। ध्यान

---

1 रूपक—'लाल किला'—विष्णु प्रभाकर—वि. प्र. के सम्पूर्ण नाटक, भाग-3—पृ. 437-445

रखने की बात यह है कि निष्कर्ष भी ऐसे हों जो रूपक के पूरे विकास-क्रम से सहज-रूपेण और स्वयमेव निकल कर आयें न कि ऐसे जो थोपे हुए लगें या भाषण जैसे बोझिल हों।

(v) सूत्रधार

वैसे तो नैरेटर या सूत्रधार का प्रयोग एक अर्से तक नाटकों में भी होता रहा लेकिन धीरे-धीरे यह स्थापित हो गया कि नैरेटर का विधान नाट्य-शिल्प की कमज़ोरी है और अब नाटकों के क्षेत्र से सूत्रधार प्रायः निष्कासित हो गया है। परन्तु रूपक में सूत्रधार का बेहद महत्त्व है—इतना कि प्रायः इसके बिना रूपक के ढाँचे की कल्पना ही नहीं हो पाती। हालांकि ऐसा नहीं है कि नैरेटर के बिना रूपक-लेखन असंभव होता है लेकिन यह ज़रूर है कि वह बेहद चुनौतीपूर्ण हो जाता है और बेहद कल्पनाशील और हमेशा नवीनता की तलाश में रहनेवाला दिमाग़ ही यह चुनौती स्वीकार कर सकता है। विष्णु प्रभाकर के रूपक 'बा और बापू'[1] में कहीं सूत्रधार नहीं है। उमा कस्तूरबा की एक शोधार्थी लिजा को अपनी परिचिता दीदी के पास लाती है जिन्हें बा के दीर्घ सान्निध्य का सौभाग्य प्राप्त रहा और इन्हीं तीनों के आत्मीय वार्तालाप से रूपक की रचना हुई है। इस शोध-छात्र ने भी आकाशवाणी इलाहाबाद से प्रसारित अपने धारावाहिक रूपक 'दृष्टि' में सूत्रधार का विधान नहीं रखा। अलग-अलग चरित्रों की आपसी अंतःक्रिया के माध्यम से ही रूपक की सभी कड़ियों का ताना-बाना बुना गया।

फिर भी, नैरेटर रूपक के स्थापत्य का एक अविभाज्य अंग है। नाटकीय-चरित्र सूत्रधार के विकल्प नहीं, बल्कि उसी का कायांतरण हैं। सिर्फ़ व्यक्तित्व और विशिष्टता कथानक की मिल जाने से वे अधिक आकर्षक हो उठते हैं।

सूत्रधार कभी अकेला होता है, कभी दो सूत्रधार होते हैं। तीन-चार सूत्रधारों का भी विधान रखा जाता है। एक से अधिक नैरेटर हों तो स्त्री और पुरुष-स्वर का मिश्रण विविधता और आकर्षण बनाये रखता है। विविध सूत्रधारों के गतिशील प्रयोग का यह उदाहरण दृष्टव्य है[2]—

---

1 रूपक 'बा और बापू'—विष्णु प्रभाकर—वि. प्र. के सम्पूर्ण नाटक भाग 2—पृ. 161-176

2. रूपक 'नीलोखेड़ी'—हरिश्चन्द्र खन्ना—रेडियो-नाटक—पृ. 271

सूत्रधार 1 — कुरुक्षेत्र के मैदान में, महाभारत के युद्ध ने एक सभ्यता का उपसंहार देखा। उसी मैदान में आज एक नयी सभ्यता का उदय हो रहा है। इस नयी सभ्यता का आधार है...

सूत्रधार 2 — हर इंसार को काम करने का बल मिला है।

सूत्रधार 3 — और उसे ज़िंदगी की ख़ुशी को बढ़ाने के काम में लाया जा सकता है।

सूत्र0 4 — और समृद्धि के साधनों पर सारे समाज का एकात्मक अधिकार होना चाहिए।

सूत्र0 1 — इस क्रांतिकारी विचार ने शिथिल जनता में स्फूर्ति भर दी, हताश दिलों में साहस भरा और पल-पल जल रहे विश्वास को दृढ़ बना दिया और जनता ने कहा...

सूत्र0 2 — हम भीख नहीं माँगेंगे।

सूत्र0 3 — हम अपने अंदर सो रही शक्ति को जगायेंगे।

सूत्र0 4 — हमें काम करने का अवसर दिया जाये।

सूत्र0 2 — हम धरती को चीरकर उसमें छुपे सोने को निकाल लायेंगे।

सब — हम नये भारत के जीवन को मुस्कुराहटों से भर देंगे।

यह ध्यान रखना बेहद ज़रूरी होता है कि नैरेशन कभी बहुत बड़ा न हो। यदि एक ही नैरेटर लगातार दो-तीन मिनट तक बोलता रह जाय तो नैरेशन भाषण हो जायेगा। इससे एकरसता ओर गतिरोध का ख़तरा भी उत्पन्न हो जाता है। छोटे-छोटे नैरेशन गतिशीलता बनाये रखते हैं।

सूत्रधार की भाषा सहज और आत्मीय होनी चाहिए। हालाँकि नाटकीय-पात्रों की तुलना में उसकी भाषा में सौन्दर्य के लिए अधिक अवकाश होता है फिर भी, स्मरणीय है कि एक सीमा के बाद वाग्वैदग्ध्यता हमेशा अवरोध और उकताहट उत्पन्न करती है। हाँ, नैरेटर की

भाषा का गति-वैविध्य और उतार-चढ़ाव रूपक के सौंदर्य में वृद्धि करता है। तटस्थ होते हुए भी नैरेटर प्रसंगों और भावों के अनुकूल अपनी गति बदलता है, अपने स्वर में कोमल, करुण और परुष भावों की सृष्टि करता है। एरिक बारनोउव के रूपक 'दि स्टोरी दे विल नेवर प्रिंट'[1] मे एक फ़ैक्ट्री का आदर्शवादी मालिक अपने यहाँ एक अश्वेत मेकैनिक को नौकरी पर रखता है और उसके प्रोडक्शन-मैनेजर के तमाम दुश्चक्रों के बावजूद अधिकतर श्वेत कर्मचारी उसे अपना लेते हैं। रूपक का आरंभिक नैरेशन है—

सूत्रधार — स्मिथ और हेरिस प्लांट में जो कुछ हुआ उसे अख़बार कभी नहीं छापेंगे। और यही वजह है कि हमें यह कहानी कहनी चाहिए। यह कहानी दुनियाँ भर में उन सभी लोगों को कही जानी चाहिए जो दमन से घृणा करते हैं और आज़ादी से प्यार।

रूपक का अंतिम नैरेशन है—

सूत्रधार — और अब आप जान गये होंगे कि स्मिथ एंड हैरिस फ़ैक्ट्री में जो घटा उसे अख़बार क्यों नहीं छापेंगे। आख़िर वो छापें भी क्यों? कोई ख़ून-ख़राबा नहीं। कोई दंगा नहीं। एक रिपोर्टर तो आया भी लेकिन जब कुछ हुआ नहीं तो लौट गया। लेकिन क्या सचमुच कुछ नहीं हुआ? नहीं, यह सही नहीं है। कुछ तो हुआ है। हाँ, वह एकदम असामान्य नहीं है। ऐसी ही घटना कई प्लांट्स में हुई है, कई नगरों में। तब भी क्या यह इस लायक नहीं है कि हम इसे इतनी ज़ोर से कहें कि दूर-दूर तक सुनाई पड़े? हम क्या सिर्फ़ यथास्थिति का ही ज़िक्र करेंगे? लेकिन जो बदल रहा है उसका? यहाँ, एक फ़ैक्ट्री में मानवता एक क़दम आगे बढ़ी है, बिना पीछे फिसले। आदमी ने संघर्ष के लक्ष्यों को याद रखा और सिर्फ़

---

1. रूपक 'दि स्टोरी दे विल नेवर प्रिंट'—ले. एरिक बारनोउव—रेडियोज़ बेस्ट प्लेज़—सं. जोसेफ़ लिस—पृ. 202-215

एक कोने मे उसे पूरा किया। इसे पूरे अमेरिका को बताइये और दूसरे देशों को भी—अफ्रीका को, इंडोनेशिया को और हिन्दुस्तान को जिससे मनुष्य कुंठित न हो और जाने कि वह सबके साथ मिलकर चल सकता है और एक ऐसा क़दम उठा सकता है जो उसने पहले नहीं उठाया।

रूपक के स्थापत्य में सूत्रधार के अतिरिक्त नाटक के ही सारे उपकरणों—संवाद, पाश्र्व-संगीत, ध्वनि-प्रभाव आदि का प्रयोग होता है जिनका विवेचन रेडियो-नाटक शीर्षक के अंतर्गत किया जा चुका है।

5.2.6 आलेख-रूपक

डॉक्यूमेंट्री या आलेख-रूपक, रूपक का एक बहुत विकसित प्रकार है। जितने शिल्पगत प्रयोग इस क्षेत्र में हुए हैं, उतने नाटक या साधारण रूपक के क्षेत्र में नहीं हुए। कम समय में ही इस नये रूप ने अपनी अद्‌भुत मौलिकता और जनोपयोगिता के कारण एक विशिष्ट और आदरणीय स्थान बना लिया है।

दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान रूपक का विकास हुआ और प्रसारण में सामाजिक चेतना के विकास के साथ ही वस्तु-प्रधान और सोद्देश्य कला के सृजन में वृद्धि हुई। आलेख-रूपक डॉक्यूमेंट्री-फ़िल्मों के साथ ही अस्तित्व में आया और उसकी भी प्रेरणा वही थी—सामाजिक चेतना। 1932 में 'सिनेमा क्वार्टरली' के शरद-अंक में सुप्रसिद्ध फ़िल्मकार ग्रियर्सन ने डॉक्यूमेट्री सिद्धांत के मूल सूत्रों को शब्दबद्ध किया और इन्हीं के आधार पर बी॰ बी॰ सी॰ के डॉक्यूमेंट्री-विभाग के अध्यक्ष लॉरेंस गिलियम ने 1934 में पहला आलेख-रूपक प्रस्तुत किया। सिद्धांतों का सार यह था कि स्टूडियो के बाहर निकल कर ही जीवन का अध्ययन किया जा सकता है। स्टूडियो में रचित अभिनय-कहानियाँ कृत्रिम पृष्ठभूमि पर होती हैं जबकि डॉक्यूमेंट्री प्राकृतिक जीवन और सजीव कथा को चित्रित करेगी। प्राकृतिक चरित्र और प्राकृतिक वस्तु जीवन की कहीं अधिक प्रबल अभिव्यक्ति कर सकते हैं, क्योंकि उनका क्षेत्र स्टूडियो-संसार से कहीं अधिक विस्तृत है। जीवन से सीधी ग्रहण की गयी वस्तु और कथाएँ, अभिनीत

जीवन से अधिक सत्य और प्रभावशाली होंगी। जितनी आत्मीयता और सूक्ष्म संवेदना इस चित्र में होगी उतनी स्टूडियो-निर्मित अलंकारपूर्ण कृत्रिम चित्रों में नहीं हो सकती।'[1] इस प्रकार स्पॉट-इंटरव्यू, वास्तविक ध्वनि-प्रभाव और संगीत का रचनात्मक प्रयोग आलेख-रूपक के महत्त्वपूर्ण उपादान बने।

5.2.7 आलेख-रूपक का निर्माण

(i) **रूपरेखा और वस्तु-संकलन**—आलेख-रूपक के निर्माण की दो तकनीकें हैं। पहली तो यह कि एक रूप-रेखा पहले तय्यार कर ली जाय और फिर उसके अनुसार वस्तु-संग्रह (ध्वनि-प्रभाव, गीत-संगीत, भेंट-वार्ता, उद्धरण आदि) किया जाय। दूसरी तकनीक पहले वस्तु-संग्रह और फिर रूप-रेखा निर्माण की है। स्वाभाविक रूप से पहली तकनीक अधिक व्यावहारिक है जबकि दूसरी अधिक श्रम साध्य लेकिन रचनात्मक।

(ii) **चयन और संपादन**—वस्तु-संग्रह के बाद उसमें से उपयोगी सामग्री का चयन किया जाता है और फिर उसका संपादन करके उसमें चुस्ती, तारतम्यता और तीव्रता प्रदान की जाती है।

(iii) **आलेख-निर्माण**—अब बारी आती है एक दृष्टि-सम्पन्न आलेख में इस संकलित-संपादित वस्तु को पिरोने की। एक ऐसे आलेख की जिसमें रूपक का केंद्रीय विचार प्रभावशाली लेकिन स्वाभाविक रूप से प्रकट हो। जिसमें संग्रहीत वस्तु का उचित क्रम, अनुपात और प्रभाव हो। जिसमें गुंफन का गुण हो और जो रूपक को एक सुगठित रूप में प्रस्तुत कर सके।

'आलेख-रूपक केवल टेप-रेकॉर्डर से की गयी पत्रकारिता नहीं है। यह एक कलाकृति है और इसकी परिकल्पना इस तरह की जानी चाहिए कि इसमें आरंभ से अंत तक आकर्षण

---

1. रेडियो-नाटक—हरिश्चन्द्र खन्ना—पृ. 261

बना रहे।'[1] आरंभ प्रभावशाली और अंत विचारोत्तेजक हो, नैरेशन की अपेक्षा ध्वन्यांकित सामग्री अधिक हो। इस सामग्री में भी प्रचुर विविधता हो—कहीं भेंटवार्ता, कहीं वक्तव्य, कहीं भाषण का अंश, कहीं ध्वनि-प्रभाव तो कहीं संगीत का विधान किया जाय। इंटरव्यू और वक्तव्य के अंश बहुत बड़े न हों। तथा यह सारी सामग्री रूपक के किसी एक भाग में केंद्रित न होकर पूरे रूपक में समुचित रूप से बँटी हो। संक्षेप में अन्विति, चयनात्मकता, महत्त्व एवं अनुपात, तीव्रीकरण और माध्यम पर दक्षतापूर्ण अधिकार—आलेख-रूपक में भी कला के इन सार्वभौम-सिद्धांतों का ध्यान रखना आवश्यक है।

5.3 रेडियो-वार्त्ता

रेडियो के आविष्कार नये जिन ने साहित्य-रूपों को जन्म दिया है उनमें रेडियो-वार्त्ता का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। कोई भी भारतीय या विदेशी प्रसारण-संस्थान ऐसा नहीं है जिससे वार्ताओं का प्रसारण न होता हो। 1989 में आकाशवाणी के विभिन्न केंद्रों से प्रसारित वार्ताओं की संख्या 4986 थी और यह संख्या सिर्फ़ वार्ताओं के कार्यक्रमों की है। अगर इनमें विभिन्न श्रोता समूहों—युवाओं, महिलाओं, बच्चों आदि के कार्यक्रमों में प्रसारित वार्ताओं को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो यह संख्या 6837 तक पहुँच जाती है।[2] लेकिन रेडियो-वार्ताओं का यह महत्त्व केवल संख्या की दृष्टि से है लोकप्रियता की दृष्टि से नहीं। रेडियो-कार्यक्रम में सबसे अनाकर्षक और नीरस वार्ता को ही समझा जाता है। और हमारे यहाँ ही नहीं विदेशों में भी स्थिति कमोबेश ऐसी ही है। बी॰ बी॰ सी॰ के वार्ता-प्रसारण के संदर्भ में लियोनेल गेमलिन 1940 में कहने को विवश हो गये थे कि—"चौथाई सदी के प्रसारण के बाद भी सफल कार्यक्रमों की अपेक्षा असफल कार्यक्रमों की संख्या अधिक है।"[3] लूथर वीवर वार्ता को 'बोरिंग' कहते हैं।[4] दरअसल, अदृश्य (वक्ता के) शब्दों की ग्रहणशीलता की एक सीमा

---

1 रेडियो-नाटक की कला—डॉ॰ सिद्धनाथ—पृ॰ 149

2 आकाशवाणी की वार्षिक रिपोर्ट 1989—पृ॰ 79

3. यू आर ऑन दि एयर—लियोनेल गेमलिन—पृ॰ 81

4. रेडियो ऑफ दि मेनी वॉयसेज—लूथर वीवर—पृ॰ 17

होती है। उस सीमा को लाँघने से मात्र जानकारी या एकेडमिक बहस बहुत देर तक रोक नहीं सकती।'[1] स्थिति यह हो गयी कि 'रेडियो वार्ताएँ जो उच्चरित शब्द की प्रभविष्णुता का सहज साक्षात्कार कराती थीं निरर्थक सिद्ध होने लगीं। (आकाशवाणी के) सरकारी प्रचार-माध्यम होने के कारण उसके ज़रिए अख़बारों की तरह ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता था जो सुनने वालों की दिलचस्पी को जगाता या उसे बनाये रखता। इसीलिए ये अझेल, खीझ पैदा करने वाली हो गयीं और फ़िल्मी गानों के सामने भी हार गयीं। सिर्फ़ विषयों का चुनाव या वार्ताक्रम की घिसी-पिटी रूपरेखा ही इस वितृष्णा का एकमात्र कारण नहीं था। वार्ताकारों के दिमाग़ में भी केवल छपे शब्दों में अभिव्यक्ति की परंपरा थी। उनका ज्ञान छपे हुए शब्दों से ही विकसित हुआ था और वे उसी तरह से अपनी बात सोचने या कहने के आदी थे।'[2] वैसे, यह सिर्फ़ आकाशवाणी की समस्या नहीं है। 'रेडियो के आने के पहले भी भाषण-कला समस्त कलाओं में सबसे नीचे आँकी जाती थी। रेडियो-श्रोताओं के समक्ष तो वक्ता की सशरीर उपस्थिति भी नहीं होती, जो अपनी भाव-भंगिमाओं से उसे आकर्षित या वशीकृत कर सके। फलतः वार्ताकार मे ईमानदारी की कमी फ़ौरन पकड़ में आ जाती है और वार्ता की नीरसता श्रोता की वितृष्णा को जगा देती है।'[3]

प्रश्न यह उठता है कि क्या वार्ता नामक साहित्य-रूप में न सिर्फ़ व्यवहारिक बल्कि फ़ॉर्म की मौलिक कमियाँ ही हैं? क्या इसमें कोई संभावना नहीं? इसके लिए सबसे पहले 'वार्ता' की शक्तियों और सीमाओं पर विचार करना होगा।

5.3.1 वार्ता की सीमाएँ और शक्तियाँ

सर्वप्रथम तो रेडियो-माध्यम की कमी यानी दृश्यता का अभाव वार्ता का भी अभाव है। मशहूर उक्ति है कि दरवाज़े की तरफ़ इशारा करने की अपेक्षा यह कहना कि 'कमरा छोड़

---

1. शब्द की साख—केशवचन्द्र वर्मा—पृ॰ 106
2. वही, पृ॰ 108
3. रेडियो ऑफ़ दि मेनी वॉयसेज़—लूथर वीवर—पृ॰ 47

दो', कम अभिव्यंजक है, 'मत बोलो' की तुलना में होठों पर उँगली रख देना अधिक शक्तिशाली है। स्वाभाविक रूप से रेडियो-वार्ताकार अभिव्यक्ति के इन सशक्त साधनों का उपयोग नहीं कर सकता।

द्वितीयतः, रेडियो-वार्ताकार श्रोताओं की 'इंस्टैंट' प्रतिक्रिया से वंचित रह जाता है और प्रत्यक्ष भाषण की तरह सम्मुख श्रोताओं की प्रतिक्रियाओं के अनुरूप अपने भाषण में परिवर्तन नहीं कर सकता। 'वह अंधकार में अपने शब्दों के तीर चलाता जाता है और समझ नहीं पाता कि वे कहीं लगते भी हैं या नही।'[1]

तृतीयतः, रेडियो-वार्ता मुद्रित निबंध की तरह अपने समग्र रूप में श्रोता को उपलब्ध नहीं रहती; सुने हुए एक-एक वाक्य को जोड़कर उसे पूर्ण संगठित कृति निर्मित करनी पड़ती है। वह वार्ता को एक साथ समग्र रूप में नहीं देख सकता, न ही कठिन अंशों को दुहरा सकता है।

अंततः, रेडियो-वार्ता जीवन के बहुविध व्यवधानों के बीच सुनी जाती है न कि उस शांतिपूर्ण वातावरण में और उस एकाग्रचित्तता के साथ जो कि मुद्रित-साहित्य के अध्ययन को अनिवार्यतः उपलब्ध करायी जाती है।

दूसरी तरफ़, उच्चरित शब्दों की शक्ति अपरिमित है। लिखित शब्दों में वह क्षमता नहीं है, जो उच्चरित शब्दों में होती है। और रेडियो-वार्ता का एकमात्र साधन शब्दों का उच्चरित रूप है। इसी की शक्ति को समझकर रेडियो-वार्ता में अप्राप्य साधनों की पूर्ति की जा सकती है।

बोलो और सुनी हुई भाषा में भावाभिव्यंजन की जो शक्ति है, वह लिखी और पढ़ी-जाने वाली भाषा में नहीं होती। शब्दों के उच्चरित रूप को हमारे भाव और विचार सजीव एवं प्राणवंत बनाये रखते हैं। लेकिन, उनके लिखित रूप में वह बात नहीं रह जाती, उन्हें सजीव बनाये रखने वाली हमारी अनुभूतियाँ उनसे पीछे हट जाती हैं। शब्द अपनी उच्चरित शक्ति से

---

1 रेडियोवार्ता-शिल्प—सिद्धनाथ कुमार—पृ. 20

वंचित होने पर, अपने मुद्रित रूप में केवल अर्द्धजीवित रहते हैं। भाषा का शरीर उन व्यक्त ध्वनियो से बना है, जिन्हें वर्ण कहते हैं, पर उसके कुछ सहायक अंग भी होते हैं। आँख और हाथ के इशारे अपढ़ और जंगली लोगों में तो पाये ही जाते हैं, हम लोग भी आवश्यकतानुसार इन संकेतों से काम लेते हैं। मुख-विकृति भी भाषा का दूसरा अंग मानी जा सकती है। गर्व, घृणा, क्रोध, लज्जा आदि भावों के प्रकाशन में मुख-विकृति का बड़ा सहयोग रहता है। बातचीत से मुख की विकृति अथवा भाव-भंगी का इतना घनिष्ठ संबंध होता है कि अंधकार में भी हम किसी के शब्दों को सुनकर उसके मुख की भाव-भंगी की कल्पना कर लेते हैं। ऐसी अवस्था में प्रायः कहने का ढंग अर्थात् आवाज़ हमारी सहायता करती है। बिना देखे भी हम दूसरे की 'कड़ी आवाज़' 'भरी आवाज़' अथवा 'भर्राये' और 'टूटे' स्वर से उसके वाक्यों का भिन्न-भिन्न अर्थ लगाया करते हैं। इसी से लहजा अथवा स्वरविकार भी भाषा का एक अंग माना जाता है। इसे वाक्य-स्वर भी कह सकते हैं। इसी प्रकार स्वर (अर्थात् गीतात्मक स्वराघात), बल-प्रयोग और उच्चारण का वेग (अर्थात् प्रवाह) भी भाषा के विशेष अंग होते हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि ये स्वरविकार, स्वराघात, बलाघात और प्रवाह के लाभ रेडियो-वार्ता को मिलते हैं।

द्वितीयतः जब कोई शब्द उच्चरित किया जाता है तब श्रोता के मन में उच्चरित ध्वनियों की प्रतिक्रिया होती है, और मानस-चित्र उभर आते हैं। जबकि 'लिखित शब्दों ने लेखकों में भाषा को वाक्य और अनुच्छेद के रूप में सोचने की आदत को जन्म दिया। इससे उच्चरित शब्दों की प्रतिक्रियाओं, चित्रों और अर्थों पर से लेखक और पाठक का ध्यान हटा दिया।'[1] इसके अलावा शब्दों में केवल अर्थ ही नहीं होता, ध्वनि भी होती है। ध्वनियों के श्रवण में भी आनंद होता है। जैसे कविता में इस नाद-सौंदर्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, लेकिन उसके लिखित रूप के मौन पाठ द्वारा इस आनंद की उपलब्धि नहीं हो सकती।

निष्कर्षतः, मुद्रण द्वारा अपहृत शब्दों की मौलिक शक्तियों—स्वर-विकार, टोन, बल और प्रवाह से रेडियो ने भाषा को पुनः सम्पन्न कर दिया है और रेडियो-वार्ता को ये सारी

---

1. निबंध 'दि स्पोकेन वर्ड'—सोमनाथ चिब—आकाशवाणी (अंग्रेजी) अप्रैल से जून 1976—पृ. 41

शक्तियाँ प्राप्त हैं। अब प्रश्न यह है कि वो कौन से बिन्दु हैं जिनका ध्यान एक वार्ताकार को सफल वार्ता के लिए ज़रूर रखना चाहिए।

5.3.2 सफल वार्ता की आवश्यक शर्तें

(i) **संवादी प्रवृत्ति**—तकनीकी रूप से तो वार्ता एक पक्षीय ही होती है। यद्यपि रेडियो की वार्ता में भी दो पक्ष होते हैं—वक्ता और श्रोता। लेकिन वहाँ संवाद की गुंजाइश नहीं होती। 'फिर भी एक अच्छी वार्ता के लिए यह अनिवार्य शर्त है कि उसमें प्रकारांतर से श्रोताओं की संवादी प्रवृत्तियों का भी प्रतिनिधित्व रहे।'[1] यानी अच्छी वार्ता के लिए यह लाजिमी है कि वार्ताकार दो-चार वाक्यों के बाद ऐसा भाव व्यक्त करे, जिससे यह स्पष्ट हो कि वह और श्रोता आमने-सामने हैं और समझदारी की एक जीवंत धारा दोनों के बीच प्रवाहित है। जैसे क़िस्सागो के लिए सुनने वालों की हुंकारी आवश्यक है। लेकिन रेडियो-वार्ता में श्रोता-पक्ष की हुंकारी का दायित्व भी वार्ताकार पर ही होता है। श्रोताओं की तरफ़ से संभावित प्रश्न पूछना, चुटकियाँ लेना, विस्मयादि का भाव प्रकट करना जैसे तरीक़े इस 'संवाद' में बेहद कारगर होते हैं। उससे भी अधिक कारगर होता है वार्ताकार का यह सटीक अनुमान कि अब श्रोता ऊब रहा होगा, अब ज्ञान या सूचनाएँ उसे गरिष्ठ हो रही होंगी और अब उसे कोई हल्की-फुल्की बात चाहिए, या अब विषय बदलने की ज़रूरत है।

(ii) **वार्ताकार की आत्मनिष्ठता, आत्मीयता और उसका व्यक्तित्व**—निबंध की ही तरह रेडियो-वार्ताकार की भी आत्मनिष्ठता अपरिहार्य है। वैसे तो 'प्रसारण में सबसे बड़ी चीज़ वैयक्तिकता ही है', वार्ता में इसकी ख़ासतौर से ज़रूरत पड़ती है।'[2] श्रोता सिर्फ़ किसी विषय पर जानकारी से हमेशा उचाट हो

---

1. रेडियो-लेखन—मधुकर गंगाधर—पृ. 75
2. दि रेडियो टॉक—जैनेट डनबर—पृ. 37

जाता है। उसे चाहिए होता है वार्ताकार का दृष्टिकोण, वार्ताकार के निजी अनुभव, उसकी राय। अगर वार्ताकार कनाडा का विवरण दे रहा है तो श्रोता हमेशा वार्ताकार की दृष्टि से कनाडा देखना चाहेगा। जैसा कि निम्नलिखित ब्यौरा है—

"टोरंटो का आजायबघर हमारे अब तक के देखे हुए बड़े आजायबघरों में एक था, और उसके कुछ संग्रह तो ऐसे थे जैसे हमने अब तक कहीं के आजायबघर में न देखे थे।"[1] 'प्रसारण (ख़ासतौर से वार्ता) में जिसका सर्वाधिक महत्त्व है वह है (वार्ताकार की) जीवन-दृष्टि। यह प्रसारण चाहे मनोरंजन का हो, शिक्षा का हो संगीत का हो, या और किसी दूसरे प्रकार के कार्यक्रम का। यह उन मानवीय प्राणियों के बीच आत्मीय संबंध प्रदान करती है और व्यक्तित्व के तत्त्व को बढ़ा देती है।"[2] यही कारण है कि जिन विषयों में वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति अधिकाधिक हो सके, जिनमें आत्मिक अनुभव एवं आत्मपरकता को व्यक्त करने के लिए अधिक अवकाश रहे, वे अन्य विषयों की अपेक्षा वार्ता के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं। 'सच्ची व्यक्तिगत वार्ता अधिक श्रोताओं में रुचिकर होती है, क्योंकि वह आत्मनिष्ठ होकर दी जाती है, और उसमें वैयक्तिक रंग अधिक रहता है।'[3] उदाहरणतः एक वार्ता 'कवि-सम्मेलनों के कड़ुए-मीठे अनुभव'[4] का अंश है—"मैंने प्रायः 1932-33 से कवि-सम्मेलनों में भाग लेना शुरू किया। इन पच्चीस वर्षों में छोटे-बड़े मिलाकर कोई पाँच सौ कवि-सम्मेलनों में तो भाग ले चुका हूँगा। और इनमें मुझे तरह-तरह के अनुभव हुए—सुखद, दुःखद, मनोरंजक और विचित्र भी। कुछ आपके सामने रख रहा हूँ।'

---

1. रे॰ वार्ता—झीलों का देश कनाडा—सेठ गोविंददास, आकाशवाणी प्रसारिका, जुलाई-दिसंबर 1955, पृ॰ 61
2. ब्रॉडकास्टिंग—हिल्डा मैथिसन, पृ॰ 29
3. दि रेडियोटॉक—जैनेट डनबर, पृ॰ 31
4. रेडियो-वार्ता—'कवि-सम्मेलनों के कड़वे-मीठे अनुभव'—डॉ॰ हरिवंश राय बच्चन, आकाशवाणी प्रसारिका, अक्तूबर-दिसंबर 1957, पृ॰ 33

आत्मीयता वैसे तो रेडियो-माध्यम की ही सबसे बड़ी विशेषता है लेकिन वार्ता में तो यह सफलता की पहली शर्त है। 'वास्तव में प्रत्येक प्रसारण एक आत्मीय अनुभव है जिसमें प्रसारणकर्त्ता और एकाकी श्रोता (अलग-अलग बैठे हुए लाखों लोगों में से एक) सहभोक्ता होते हैं।'[1] यह उक्ति सर्वाधिक रेडियो-वार्ता के लिए सही है। प्रत्यक्ष भाषण-कर्त्ता बेशक दर्शकों-श्रोताओं के समक्ष उपस्थित रहता है, पर यहाँ वह व्यक्तियों से नहीं, समूह से बातें करता है। मंच से अलग-अलग व्यक्तियों से बातें करना संभव ही नहीं है। वहाँ एक व्यक्ति एक बड़े समूह के संपर्क में आता है, फलतः व्यक्ति-व्यक्ति के बीच जो आत्मीय संबंध होना चाहिए वह नहीं बन पाता। रेडियो-वार्ता में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से ही बातें करता है, यह दीगर है कि श्रोता अलग-अलग बैठे हुए हज़ारों व्यक्तियों के समूह का ही अंग होता है। यहाँ व्यक्ति-व्यक्ति के बीच होने वाली आत्मीयता संभव है, क्योंकि इसमें व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सजीव संबंध रहता है। आत्मीयता के साथ ही वार्ताकार में श्रोता के प्रति सम्मान का भाव होना भी ज़रूरी है। अन्यथा 'आपको बता दें', 'जानकारी दे दें' जैसे वाक्यांश, जो कि वार्ताओं में भरपूर सुनाई पड़ते हैं, श्रोता में शत्रुता का भाव ही जगाते हैं। 'बता दें' की जगह हमेशा 'आप जानते ही हैं' कहना हमेशा श्रेयस्कर और सद्भाव बढ़ाने वाला होता है।

इसी तरह श्रोता को उपदेश देने से हमेशा बचना चाहिए। बेहतर हो कि अपनी बात भी कह दी जाय और वह उपदेश भी न लगे।

वार्ताकार के व्यक्तित्व का प्रेक्षण भी सफल वार्ता की एक आवश्यक शर्त है। 'इस सबसे नयी कला (रेडियो) की सबसे बड़ी विशेषता है—व्यक्तित्व। माइक्रोफ़ोन के माध्यम से व्यक्तित्व के कलात्मक प्रेक्षण पर ही किसी प्रसारण की प्रभावोत्पादकता निर्भर है।'[2] रेडियो-वार्ता कोई तटस्थ-वस्तुनिष्ठ कृति नहीं है, उसका संबंध वार्ताकार के व्यक्तित्व से होता है। सुप्रसिद्ध डेनिश फ़िल्म-डायरेक्टर कार्लड्रेयर ने बी॰ बी॰ सी॰ के लिए एक वार्ता लिखी। एक उद्घोषक ने उसका पाठ किया। अंतिम कुछ अंश ड्रेयर ने ख़ुद पढ़े। उद्घोषक के पाठ और

---

1. यू आर ऑन दि एयर—लियोनेल गैमलिन , पृ॰ 51
2. यू आर ऑन दि एयर—लियोनेल गैमलिन, पृ॰ 53

ख़ुद ड्रेयर के पढ़ने में आश्चर्यजनक अंतर रहा। वार्ता सजीव हो उठी। लगा कि उसके पीछे एक व्यक्तित्व आ गया, जो अपने विचारों को अभिव्यक्त कर रहा है। ड्रेयर की अंग्रेज़ी टूटी-फूटी थी, कहीं-कहीं उसको समझना भी कठिन था। फिर भी वार्ता में अद्‌भुत आकर्षण आ गया।'[1] स्पष्ट है कि वार्ता से अधिक महत्त्व वार्ताकार के व्यक्तित्व और उसके प्रेक्षण का है। साथ ही व्यक्तित्व भी ऐसा होना चाहिए जिसमें श्रोता की रुचि हो।

(iii) वार्ता की भाषा-शैली—जैसा कि वार्ता के अर्थ - बातचीत से ही स्पष्ट है, वार्ता की भाषा बातचीत की भाषा के निकट होनी चाहिए। बिल्कुल बातचीत की भाषा तो नहीं हो सकती क्योंकि बातचीत में कई वाक्य अधूरे छूट जाते हैं, 'समझे', 'माने', 'यूँकि' आदि निरर्थक शब्द और तकिया-कलाम आ जाते हैं लेकिन अपने सुगठित रूप में वार्ता की भाषा बातचीत की भाषा के जितने नज़दीक़ पहुँच सके उतना ही अच्छा।

चूँकि वार्ता में जन-ग्राह्यता का ध्यान रखना बहुत ज़रूरी होता है और यदि आप समझ नहीं पाते तो संसार के सुंदरतम शब्द भी निरर्थक ध्वनियाँ हैं, वार्ता में साहित्यिक शब्दावलियाँ अर्थहीन होती हैं। इसके लिए बी॰ बी॰ सी॰ के सुप्रसिद्ध वार्ताकार जॉन हिल्टन अपनी वार्ता लिखने में अथक परिश्रम करते थे—जिस साहित्यिक परंपरा में वे पले थे, उससे लड़ते हुए, लोकप्रिय भाषा की खोज करते हुए, और 'अच्छी' अंग्रेजी को पीछे छोड़ते हुए।'[2]

ग्रामीण श्रोताओं के लिए प्रसारित एक वार्ता का अंश है—'मनुष्य द्वारा उपभोग किये जाने वाले अधिकारों का न तो अस्तित्व चिरस्थायी है न ही स्वरूप। समाजवादी व्यवस्था में मिल-मालिक ही नहीं होता, निःसंतान मनुष्य के लिए पिता शब्द व्यवहृत नहीं हो सकता, प्रजातंत्र में न राजा और न ही राजा के अधिकार संभाव्य हैं।''[3] ग्रामीण श्रोताओं के लिए ही

---

1. रेडियो-वार्ता शिल्प—सिद्धनाथ कुमार—पृ॰ 76
2. दि रेडियो टॉक—जेनेट डनबर—पृ॰ 49
3. वार्ता—'जनता की सुरक्षा'—डॉ॰ सम्पूर्णानंद, आकाशवाणी प्रसारिका जनवरी से जून 1967—पृ॰ 43

प्रसारित एक अन्य वार्ता का अंश है—"आज किसन दादा के यहाँ शादी की धूमधाम मालूम होती है। कहते हैं, वह नागपुर से गहने लाया है, क़ीमती कपड़े और ढेर-भर बर्तन भी। और बहुत धूम-धाम से मनायी जायेगी शादी। कहाँ से आया इतना पैसा? बेचारा यह छोटा-सा काश्तकार ही बैलो से इतनी मिहनत करता है लेकिन कभी मालोमाल नहीं दीखता। पर शादी के लिए तो बहुत ख़र्च कर रहा है। कुछ तकाबी मिली है कुआँ खोदने के लिए, और सुनते हैं कि साहूकार से क़र्ज़ भी लिया है।"[1] कहने की ज़रूरत नहीं कि किस वार्ता की भाषा उपयुक्त है।

(अ) **भाषा का श्रव्य रूप**—वार्ता की भाषा में उसके श्रव्य रूप का विशेष ध्यान रखना अनिवार्य है। एक वार्ता का अंश है।—"यद्यपि आनुवंशिक राजपद का वर्णन ऋग्वेद में भी मिलता है, परन्तु राजा का उत्तराधिकारी विनय, नियमबद्धता, वृद्धोपसेवा, विद्याप्राप्ति, सुसंगति, सत्यवादिता, धर्मप्रियता इत्यादि गुणों से विभूषित होने पर ही राजा बन सकता था और किसी के राजपद पर अभिषिक्त होने के लिए वैदिक काल में सभा तथा समिति की और रामायण काल तथा महाभारत काल में पौरजानपाद संस्थाओं की स्वीकृति अनिवार्य होती थी।"[2] दृष्टव्य है कि यह भाषा का लिखित रूप है न कि श्रव्य। बोलते वक़्त हम इतने लंबे वाक्यों का इस्तेमाल नहीं करते, मिश्र और संयुक्त वाक्यों से बहुत कम काम लेते हैं। न ही हमारे शब्द ऐसे होते हैं जिन्हें बोलने और समझने में इतना व्यायाम करना पड़े।

एक अन्य वार्ता का अंश[3] है—"इस प्रकार कला-सृष्टि का क्रमबद्ध रूप यों बनता है—

---

1. वार्ता—कर्ज़ का बोझ—एम. एम. शाह, रेडियो-संग्रह, जुलाई से दिसबर 1966—पृ. 51
2. वार्ता—भारत की पुरानी राजनीति—कैलाश चंद्रदेव बृहस्पति—रेडियो-संग्रह अक्तूबर से दिसंबर 1953—पृ. 31
3. वार्ता—कला के कक्ष में यथार्थ और कल्पना—रामनाथ सुमन—रेडियो-प्रसारिका, अप्रैल से जून 1956—पृ. 29

: कला सृष्टि :

मूल

: अन्तर का अदृश्य आवेग या भाव :

शरीर

: यथार्थ के साथ उस भाव का संबंध और रूप-ग्रहण :

प्राण

सौंदर्य : आन्तर एवं बाह्य :

आत्मा

: रस :

लक्ष्य का फल

: आनंद :

कहना बेहद कठिन है कि इसे बोधगम्य वार्ता-रूप में कैसे प्रसारित किया जा सकता है क्योंकि यह ऐसी लिखित भाषा है जिसका वाचन कभी संप्रेषणीय नहीं हो सकता।

एक अन्य वार्ता का आरंभिक अंश इस प्रकार है—"शरीर-रचना में जो स्थाम शिराओं एवं धमनियों का है, वही स्थान राष्ट्र के जीवन में संचार एवं परिवहन का है। आर्थिक, युद्ध-संबंधी, प्रशासकीय, सांस्कृतिक एवं सामाजिक - सभी दृष्टियों से संचार एवं परिवहन राष्ट्र के समुत्थान के लिए अनिवार्य तत्व हैं।"[1] अगर इस 'लिखित-भाषा' में लिखी गयी वार्ता का 'श्रव्य भाषा' में अनुवाद करें तो वह कुछ ऐसी हो सकती है—आपने कभी सोचा है, हमारा शरीर किस प्रकार सुचारू रूप से काम करता है? यह हमारी शिराओं, धमनियों और स्नायुओं का सहकार है। इन्हीं के ज़रिये एक जगह का ख़ून दूसरी जगह पहुँचता है, एक स्थान की चेतना दूसरे स्थान पर पहुँचती है। कोई राष्ट्र भी सुचारु रूप से काम करे इसके लिए ज़रूरी

---

1 वार्ता—संचार एवं परिवहन का विकास—कमलेश्वरी शरण—रेडियो-संग्रह, जुलाई से अक्तूबर 1969—पृ॰ 24

चलना सहज हो जाता है। वह चलता भी रहता है और बातचीत भी करता रहता है। चलने की ओर ध्यान भी नहीं रहता।" गीता का सहज कर्मयोग का दर्शन इस उदाहरण से कितना सरल और आकर्षक हो उठा!

भाषा को श्रव्य और चित्रात्मक बनाने में उपमाओं का प्रयोग बेहद सहायक होता है। सावधानी बस इतनी बरतनी ज़रूरी है कि अपरिचित वस्तु या विचार की उपमा श्रोता की परिचित वस्तुओं से दी जाय। अगर राजस्थान की मरुभूमि की उपमा सहारा के रेगिस्तान से दी जाय तो यह उपमा कोई भी चित्र खींचने में असफल होगी क्योंकि सुनने वालों में से अधिकतर ने सहारा का रेगिस्तान नहीं देखा होगा।

दृष्टान्तों और तुलना के अलावे भाषा को श्रव्य बनाने का एक उपाय यह भी है कि अपने कथ्य को सामान्य के बदले विशेष के द्वारा व्यक्त किया जाय। वृक्ष सामान्य है पर आम या नीम कहना विशेष है। सामान्य में चित्र-निर्माण की शक्ति नहीं होती, विशेष में होती है। एक प्रसारित वार्ता[1] का अंश है—"पंचवर्षीय योजना के दो मुख्य उद्देश्य हैं—(अ) लोगों के लिए उच्च जीवन-स्तर, और (ब) सामाजिक न्याय।"

दृष्टव्य है कि जीवन-स्तर और सामाजिक न्याय का कोई स्पष्ट चित्र बने इसके लिए कुछ विशेषों का इस्तेमाल करना पड़ेगा। जैसे—पंचवर्षीय योजना का पहला उद्देश्य लोगों को सुखी बनाना है, देश में इतना धन पैदा करना है कि सब को अच्छा खाना मिले, अच्छा कपड़ा मिले, रहने को अच्छा घर मिले।

(iv) **श्रोता की ग्रहण व स्मरण-शक्ति का ध्यान**—यह एक बेहद महत्त्वपूर्ण बिन्दु है और अक्सर वार्ताकारों द्वारा विस्मृत कर दिया जाता है। एक उदाहरण[2] लें :—"कंट्रोलर ऑफ़ इंश्योरेंस द्वारा 31 दिसंबर, 1954 को प्रकाशित आँकड़ों के अनुसार विदेशी बीमा-कंपनियों के पास भारत के लोगों की 2 लाख

---

1. वार्ता—पंचवर्षीय योजना और नारी—नीलिमा मुखर्जी—रेडियो-संग्रह—अप्रैल-जून 1953—पृ. 38
2. वार्ता—जीवन-बीमा का राष्ट्रीयकरण—नंदलाल ऐश—आकाशवाणी प्रसारिका, अप्रैल-जून 1956, पृ. 32

44 हज़ार पॉलिसियाँ चालू थीं जो 1 अरब, 36 करोड़, 93 लाख रुपये की थी और हर साल 7 करोड़ 45 लाख रुपया उनको प्रीमियम के रूप में अदा किया जाता है। हिंदुस्तानी बीमा-कंपनियों की कुल जायदाद 31 दिसंबर, 1954 को 3 अरब, 1 करोड़, 33 लाख रुपये की थी और विदेशी कंपनियों की 50 करोड़ 91 लाख रुपये की। इनमें से भारतीय बीमा-कंपनियों ने 1 अरब, 64 करोड़, 90 लाख रुपया यानी 5.46 प्रतिशत सरकारी सिक्यूरिटियों में, 45 करोड़, 57 लाख रुपया यानी 16.31 प्रतिशत प्राइवेट कंपनियों के हिस्सों में 30 करोड़ 97 लाख, 71 हज़ार यानी 29.77 प्रतिशत रहन, भूमि और मकानों आदि में लगाया हुआ है।''

कहने की ज़रूरत नहीं कि सारे आँकड़े दे देने और दशमलव के दूसरे अंक तक शुद्ध होने की वार्ताकार की मिहनत एकदम व्यर्थ हो गयी है क्योंकि अव्वल तो इतने तथ्य और आँकड़े एक बार सुनकर कोई भी याद नहीं रख सकता। दूसरे, 1 अरब, 64 करोड़, 90 लाख की जगह डेढ़ अरब से भी कुछ अधिक और 5.46 प्रतिशत की जगह लगभग साढ़े 5 फ़ीसदी बहुत बेहतर होता। तीसरे, इतने सारे तथ्य और आँकड़े एक साथ परोस देने से किसी को भी अजीर्ण हो जायेगा। वह रेडियो-सेट बंद कर देगा और तब तक वार्ता सुनने को राज़ी नहीं होगा जब तक तथ्य, आँकड़े या ज्ञान-विज्ञान की कोई भी बात मनोरंजन की चाशनी में लपेट कर और ख़ुद श्रोता की ज़िंदगी से जोड़कर नहीं की जायेगी। तकनीकी शब्दों के प्रयोग में भी यह सावधानी आवश्यक है कि उनका पूरा अर्थ श्रोता को बताते हुए चला जाय। वैज्ञानिक, अर्थशास्त्री, चिकित्सक, जीवशास्त्री, दार्शनिक, साहित्यकार, कलाविशेषज्ञ सभी ऐसे पारिभाषिक शब्दों का इस्तेमाल बड़ी मात्रा में करते हैं, बिना उनका अर्थ बताये और मान लेते हैं कि श्रोता को इनका मतलब पता ही होगा। यह एक घातक भूल है। वार्ताकार को हमेशा याद रखना चाहिए कि वह विशेषज्ञों से नहीं सामान्य व्यक्तियों से बातें कर रहा है।

वार्ता में मुख्य बातें भी अधिक नहीं होनी चाहिए—दस मिनट की वार्ता में हद-से-हद चार या पाँच, और बेहद आवश्यक है कि उन्हें बार-बार दुहराया जाय। बेशक यह ध्यान

रहे कि दुहराव बिन्दु का हो न कि वाक्यों का और आवृत्तियों में वही बात दूसरे-तीसरे ढंग से कही जाय।

(v) **लक्षित श्रोता**—वार्त्ताकार को अपनी वार्त्ता तय्यार करते समय सबसे पहले यह सोचना चाहिए कि वार्त्ता किस श्रोता-समूह को लक्षित है। वह युवाओं के लिए है, या बच्चों के लिए या प्रौढ़ श्रोताओं के लिए। श्रोता-समूह ग्रामीण है या नागर, अनपढ़ है या सामान्य पढ़ा-लिखा, स्त्री है या पुरुष। जैसे अलग-अलग श्रोता-समूहों के लिए वार्त्ता के बहुत सारे विषय एक नहीं हो सकते वैसे ही समान विषयों पर भी सबसे बात करने का तरीका एक नहीं हो सकता। एक ही विषय पर बच्चों से बात करने की भाषा-शैली अलग होगी और वयस्कों के लिए अलग। अपढ़ ग्रामीण के लिए अलग होगी और शहरी पढ़े-लिखे समूह के लिए अलग। इतना ही नहीं, भिन्न श्रोता-समूहों को दी जाने वाली जानकारी में भी ज़मीन-आसमान का अंतर होगा।

(vi) **वार्ता का प्रारंभ, मध्य और अंत**—अंग्रेज़ी की एक कहावत है—'वेल बिगन हाफ़ डन'। हर विधा की तरह वार्ता पर भी यह सटीक बैठती है। वार्ताकार ने अगर आरंभ में ही श्रोता को पकड़ लिया तो वह आधी सफलता पा गया। दूसरी तरफ़, विमुख कर देने वाला आरंभ पूरी विफलता की गारंटी है क्योंकि एक बार रेडियो की सुई घुमा देने या स्विच ऑफ़ कर देने के बाद की वार्ता चाहे जितनी ही अच्छी हो, उसका मतलब ही क्या है?

आम तौर से वार्ता का आरंभ भारी-भरकम दार्शनिक क़िस्म की भूमिका से करने का प्रचलन है क्योंकि बहुत कम वार्ताकारों को यह पता है कि रेडियो-वार्ता में इसका कोई अवकाश नहीं। वैसे तो ऐसा आरंभ निबंध को भी अरुचिकर ही बनाता है लेकिन वार्ता में तो क़ीमती समय की बर्बादी होती है—आमतौर से दस मिनट की वार्ता होती है और उसमें चार पृष्ठ का आलेख पढ़ा जा सकता है; साथ-साथ श्रोता की विमुखता का भी ख़तरा रहता है।

भारी-भरकम भूमिका की जगह वार्ता का आरंभ बेहद 'कैंची' होना चाहिए—एकदम बाँध लेने वाला, और यह आरंभ कई तरह से हो सकता है। एक उदाहरण[1] लें :—

> "अनंतदानी प्रेमचंद की जय। सचमुच वे अनंतदानी थे। बिना कुछ पास हुए भी दिये ही गये और इस निरंतर दान में कहीं भी उस अप्राप्ति की रुक्षता या कड़वाहट नहीं। सच्चाई यह है कि प्रेमचंद अपने समय के बहुत बड़े कलाकार थे, पर उससे भी बड़े मनुष्य थे। उनकी आँखें बुराइयों की सघन-सपाट दीवार के आर-पार मनुष्य में देवत्व का दर्शन करने की आदी थीं। एक दिन मैंने उनसे पूछा—'कहने को तो आप कहते हैं कि मेरा ईश्वर में विश्वास नहीं है, मैं नास्तिक हूँ; पर अपने साहित्य में बार-बार आपका प्रयत्न है मनुष्यत्व में देवत्व का दर्शन, प्रचार और उभार। भला यह क्या बात है?'

अपने ख़ास लहजे में वे बोले—'जनाब ईश्वर में विश्वास करने की ज़रूरत ही उन्हें पड़ती है जो आदमी में देवत्व का दर्शन नहीं कर सकते।"

अगर यही वार्ता ठीक यहाँ से शुरू की जाती—'एक दिन मैंने प्रेमचंद जी से पूछा......' तो उसमें एक नाटकीयता आ जाती और श्रोता इस नितांत अनावश्यक भूमिका से बच जाता। वार्ता का नाटकीय और आकर्षक आरंभ किसी कविता की पंक्ति, छोटी-सी कहानी या कथासार, कविता की पंक्तियों, समीचीन उद्धरण आदि से किया जा सकता है। हास्यप्रधान उक्ति या घटना से किया गया आरंभ भी बेहद दिलचस्प होता है। एक उदाहरण[2] है—"एक साहब पिटते भी जा रहे थे और हँसते भी जा रहे थे। दर्याफ़्त हाल करने पर साहब मौसूफ़ ने बताया कि पीटने वाला ग़लत आदमी को पीट रहा था, इसलिए उसकी हिमाक़त से लुत्फ़अंदोज़ हो रहे थे। तो हज़रत, यह तो रहा पिटने का सलीक़ा। अब जीने का सलीक़ा।"

---

1. वार्ता—प्रेमचंद की जय—कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर—आकाशवाणी प्रसारिका, जुलाई-दिसंबर 1955, पृ. 28
2. वार्ता—जीने का सलीक़ा—रशीद अहमद सिद्दीक़ी—रेडियो-संग्रह—अक्तूबर-दिसंबर 1953, पृ. 24

अब एक उदाहरण कविता की पंक्तियों से किये गये आरंभ पर—

''नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास एहिकाल ।
अली कली ही सौं बंध्यो, आगे कौन हवाला ।।

बिहारी की इन पंक्तियों में छिपे व्यंग्य ने कर्त्तव्य-विमुख राजा को बिना आघात पहुँचाये झकझोर कर जगा दिया था। व्यंग्य उस चाबुक की तरह है जो अगर चोट पहुँचाता है, तो इसलिए कि हमें सचेत करना चाहता है।''[1]

दृष्टव्य है कि प्रसंग, कविता, हास्य आदि से किया गया प्रारंभ कितना आकर्षक हो जाता है।

मध्य भाग वार्ता का असली हिस्सा है। प्रारंभ का काम तो सिर्फ़ श्रोता की उत्सुकता जगा देना और विषय के लिए एक पूर्व-पीठिका भर तय्यार कर देना है। इसके बाद विषय का विस्तार करना, तर्क और विश्लेषण करना और एक तार्किक अंत तक पहुँचाना तो माध्य भाग का ही काम है। लेकिन श्रोता अंत तक वार्ता सुनता रहे, इसके लिए आवश्यक है कि मध्य भाग में भी पर्याप्त आकर्षण हो। 'रोचकता का सतत नवीन होते रहना ही श्रोताओं के ध्यान को जगाये रखता है।'[2]

वार्ता में **आरंभ से अंत तक रोचकता** किस तरह बनाये रखी जाय इसके कोई बँधे नियम नहीं हैं और यह पूरी तरह वार्ताकार की प्रतिभा पर निर्भर है। फिर भी, कुछ बिंदु ऐसे हैं जिनका ध्यान रखना हमेशा उपयोगी होता है।

सबसे पहले तो यह कि समूची वार्ता **एकरस न** हो। एकरसता रोचकता की सबसे बड़ी शत्रु है। अपनी बात कहने का तरीका लगातार बदलते रहना चाहिए। तथ्यों और तर्कों के बीच-बीच मे कभी रोचक प्रसंग, कभी, दृष्टांत, कभी उद्धरण और शेर-ओ-शायरी आदि एकरसता

---

1. वार्ता—हिन्दी में व्यग्य—नलिन विलोचन शर्मा—वही—पृ. 31
2. दि रेडियो-टॉक—जेनेट डनबर, पृ. 61

को प्रभावी ढंग से तोड़ते हैं। विविधता के लिए आवश्यक है : मनःस्थिति में परिवर्तन, दृष्टिकोण में परिवर्तन और स्पष्टीकरण में परिवर्तन। वार्ताकार अपने विषय को भिन्न दृष्टियों से देखे, उसके विभिन्न पहलुओं का उद्‌घाटन करे तथा सभी मुख्य बातों को एक साथ न कहकर कुछ-कुछ अंतर पर कहे।

वार्ता का **क्रमिक विकास** भी ज़रूरी है। विषय-वस्तु का विकास क्रमिक और तर्कसंगत रूप में तथा कार्य-कारण संबंध के आधार पर होना चाहिए। वार्ता की सभी कड़ियाँ सुसंबद्ध हों तभी श्रोता की जिज्ञासा बनी रहती है और चीज़ें उसके स्मरण में भी रहती हैं।

वार्ता का अंत भी प्रारंभ या मध्य से बहुत कम महत्वपूर्ण नहीं होता। यह अंत ही है जिसकी अनुगूँज श्रोता के मस्तिष्क में बनी रहती है। प्रभविष्णु अंत के लिए भी कुछ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है।

सर्वप्रथम तो यह कि **वार्ता अचानक ख़त्म हो गयी न लगे**। वार्ता की अंतिम पंक्तियों से लगना चाहिए कि वह समाप्त हो रही है। दूसरे, विवेचनात्मक वार्ता के अंत में तर्कों और सूचनात्मक वार्ता में तथ्यों को दुहरा देना हमेशा श्रोता की ग्रहणशीलता की दृष्टि से उपयोगी होता है। अगर वार्ता का लक्ष्य श्रोता को वैचारिक रूप से आंदोलित करना हो तो विचारोत्तेजक प्रश्नों से अंत करना हमेशा सफल होता है। और अंततः, वार्ता के अंत को भी प्रारंभ की तरह ही चुस्त और आकर्षक होना चाहिए। यह आकर्षकता किसी चुटीली उक्ति, किसी प्रसंग, किसी कविता की पंक्ति, किसी महापुरुष के उद्धरण और झकझोर देने वाले प्रश्नों से उत्पन्न की जा सकती है। 'दोस्त' शीर्षक एक वार्ता[1] का अंत है—

"आप ही बताइए, क्या आप ऐसे दोस्तों से घबराकर ऐसी जगह जाना चाहेंगे जहाँ कोई न हो? वक़्ती तौर पर शायद आपका दिल घबराये, लेकिन फिर आपको मोमिन के साथ कहना ही पड़ेगा—

---

1. वार्ता—'दोस्त'—मिर्ज़ा महमूद बेग़—आकाशवाणी प्रसारिका, जुलाई-दिसंबर 1955—पृ. 39

''ठानी थी दिल में अब न मिलेंगे किसी से हम,

फिर क्या करें कि हो गये लाचार जी से हम ॥''

(vii) **वार्ता का प्रस्तुतीकरण (पाठ/ वाचन)**—वार्ता के आलेख के बाद प्रश्न आता है उसके प्रस्तुतीकरण का। लेकिन महत्त्व की दृष्टि से यह कहीं से आलेख से कम नहीं है। वार्ता का आलेख भले ही ए-वन हो, अगर उसे श्रोताओं के सम्मुख प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत न किया जाय तो सब व्यर्थ है। ख़राब प्रस्तुतीकरण अच्छी से अच्छी वार्ता को मिट्टी में मिला सकता है और श्रेष्ठ प्रस्तुतीकरण कमज़ोर आलेख में भी एक सीमा तक जान फूंक सकता है।

वार्ता की सफलता के लिए अनिवार्य है कि वार्ताकार की आवाज़ साफ़ हो और उच्चारण शुद्ध-स्पष्ट। सफल पाठ के पीछे हमेशा वार्ताकार का आत्मविश्वास और आत्मीयता होती है। इनमें से एक की भी कमी सुनने वाले को विरक्त करती है।

विरामचिह्नों का सही लहजा और शब्दों की सही समझ वार्ता के पाठ में चार-चाँद लगाते हैं। यहाँ सही समझ से तात्पर्य शब्दों का ऐसा उच्चारण है जो उसका अर्थ खोल दे।

पाठ में अन्य बेहद महत्त्वपूर्ण तत्त्व है गति और लय। गति हमेशा मद्धम होनी चाहिए और लयपूर्ण। प्रभावशाली लय के लिए मुख्य शब्दों पर ज़ोर देना, आवाज़ की ऊँचाई में परिवर्तन, बोलने की गति में परिवर्तन और मुख्य विचारों के पहले और बाद में हल्का ठहराव बेहद महत्त्वपूर्ण हैं।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है अपने आलेख को इस तरह पढ़ना कि पढ़ा हुआ न लगे। श्रोताओं को यह महसूस न हो कि वार्ताकार लिखा हुआ पढ़ रहा है; बल्कि यह लगे कि सहज भाव से बोल-बतिया रहा है। यह लिखना या कहना जितना आसान है इसे साधना उतना ही कठिन और लंबे-श्रमसाध्य अभ्यास से ही यह आता है।

सफल वार्ता के इन सारे तत्त्वों की विवेचना के बाद यक्ष-प्रश्न यह बच रहता है कि आज इस रूप की सचमुच कुछ प्रासंगिकता है भी! अगर निर्ममता से इस प्रश्न का उत्तर दिया

जाय तो वह यही होगा कि नब्बे फ़ीसदी वार्ताएँ श्रोताओं में घोर वितृष्णा जगाने वाली होती हैं। वे कहीं से भी उपरोक्त मानदंडों पर खरी नहीं उतरतीं और प्रसारण समय का क्रूरतापूर्ण अपव्यय होती हैं। आकाशवाणी जैसे सरकारी रेडियो को तो इतना अलोकप्रिय बनाने में वार्त्ताओ का बहुत बड़ा हाथ है।

सच पूछा जाय तो इसके फ़ॉर्म में ही इसके असफल होने का बीज है। अपने अनुभव से हम जानते हैं कि वक्ता को सामने बैठकर सुनना भी बेहद कठिन होता है। हम ऊबने लगते हैं और हमारा ध्यान भटक जाता है। रेडियो पर तो हमारा ध्यान केंद्रित रखने के लिए उसके हाव-भाव, मुद्राएँ, अंग-संचालन आदि भी नहीं होते। अतः जब तक वार्ता का विषय ही आत्यंतिक महत्त्व का न हो या जब तक वार्ताकार ही आत्यंतिक ख्याति या क्षमता का न हो''[1] वार्ता के प्रसारण से बचना ही श्रेयस्कर है।

5.4 संगीत-रूपक

संगीत-रूपक पद का प्रयोग दो भिन्न प्रकार के प्रसारण-रूपों के लिए किया जाता है। पहला रूप है ओपेरा या संगीत-नाटक का। दूसरा फ़ॉर्म है रूपक का।

सामान्यतः संगीत-नाटक (ओपेरा), पद्य-नाटक या 'गीतिनाट्य' के अर्थ में संगीत-रूपक को समझ लिया जाता है। परन्तु, गीति-नाट्य मूलतः मुद्रित साहित्य और मंच का रूप है, जहाँ इसकी सुदीर्घ और अतिशय समृद्ध परंपरा है। रेडियो ने भी इसे अन्य साहित्य-रूपों की तरह ही अपनाया है—उन्हीं विभिन्नताओं और मौलिक अवदानों के साथ जैसे नाटक को अपनाया है। इसके दृश्य, संवाद, ध्वनि प्रभाव और संगीत-प्रभाव आदि की भी वही प्राथमिकताएँ और विशिष्टताएँ होंगी जो रेडियो-नाटक की हैं। ओपेरा की ही तरह यह नाटक भी संगीतधर्मी होगा। इसका आधार संगीत होगा। यानी इसकी परिकल्पना ऐसे शब्दों में होगी जो लय और ताल के माध्यम से गेय हों। देश, काल, पात्र आदि की परिकल्पना भी उनकी सांगीतिक विशिष्टताओं के माध्यम से की जायेंगी।

---

1. रेडियो ऑफ़ दि मेनी वॉयसेज़ : लूथर वीवर—पृ॰ 46

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री रचित 'पाषाणी' भगवतीचरण वर्मा कृत 'तारा' और 'कर्ण', गिरिजा कुमार माथुर कृत 'कल्पांतर', आर॰ सी॰ प्रसाद सिंह कृत 'मदनिका', सिद्धनाथ कुमार कृत 'सृष्टि की साँझ' आदि गीति-नाट्यों की एक बड़ी सूची है जिनका प्रसारण आकाशवाणी के विभिन्न केंद्रों से होता रहा है।[1] **परंतु, यहाँ 'संगीत-रूपक' का प्रयोग रूपक के ही संदर्भ में किया जा रहा है और यह साहित्य का एक नया रूप है।** रूपक की आयोजना में अगर संगीत एक अनिवार्य तत्त्व के रूप में परिकल्पित किया गया हो तो वह संगीत-रूपक की विधा होगी।

5.4.1 संगीत-रूपक का क्षेत्र

संगीत जहाँ इस रूपक की शक्ति है वहीं सीमा भी। इसकी अनिवार्यता इस विधा को रूपक की तुलना में संकुचित कर देती है। जहाँ रूपक किसी भी विचार, ज्ञान-विज्ञान के किसी भी क्षेत्र/विषय, सूचना, प्रचार आदि पर हो सकता है, वहीं संगीत की अनिवार्यता के कारण संगीत-रूपक का विषय अनिवार्यतः कोमल और भावना-प्रधान होना चाहिए। फिर भी, एक बड़ा कृति-क्षेत्र संगीत-रूपक का है। प्रेम, दांपत्यादि स्त्री-पुरुष संबंध, ममता, वार्द्धक्य, अकेलापन जैसे विषय ही नहीं दहेज, जाति, धर्मांधता, ऊँच-नीच, बेरोज़गारी, भुखमरी जैसी सामाजिक समस्याओं से लेकर विभाजन जैसी ऐतिहासिक त्रासदियों, स्वतंत्रता-संग्राम युद्ध और परमाणु-विभीषिका तक किसी भी विषय पर संगीत-रूपक की रचना हो सकती है। अगर आकाशवाणी के रेडियो-नाट्य-संग्रहों पर नज़र डालें तो स्वरोद्भ, जगमगद दीप जले, रूह-ए-ग़ज़ल, आयो फागुन मास, रिमझिम बरसो, युगपुरुष गाँधी, तिरंगा लहर-लहर लहराय, समन्वय के सूत्रधार कबीर, भारतपुत्र महाकवि भारती जैसे शीर्षक स्वयमेव संगीत-रूपक के विस्तृत क्षेत्र का परिचय देते हैं। बस उसकी शैली भावोत्तेजक होगी शुष्क विवेचनात्मक नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि विशुद्ध ज्ञान-विज्ञान और दर्शन की विवेचना करने वाले विषयों को छोड़कर अन्य किसी भी विषय पर संगीत-रूपक की निर्मिति खड़ी हो सकती है। श्री

---

1 हिन्दी गीति-नाट्य—कृष्ण सिंहल—पृ॰ 138-39

केशवचंद्र वर्मा लिखित संगीत-रूपक 'बादल-राग' सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' के वर्षा-गीतों पर आधारित है। मार्क ब्लिट्ज़ेस्टिन का संगीत-रूपक 'दि एयरबोर्न' द्वितीय विश्वयुद्ध की त्रासदी और उसमें वायुसेना की भूमिका को विषय बनाता है तो इस शोधार्थी द्वारा लिखित/प्रस्तुत रूपक 'चलो-चलो रे बंधु' स्वतंत्रता-संग्राम के दौरान गाये जाने वाले प्रसिद्ध गीतों पर आधारित था।

5.4.2 संगीत-रूपक का रूपाकार

रूपक की परिकल्पना अगर संगीत के आधार पर की जाय तो वह संगीत-रूपक हो जायगा। रूपक की ही तत्व इसमें भी सिर्फ़ एक विचार होता है कथानक नहीं। प्रारंभ से चरमोत्कर्ष तक पहुँचने वाले किसी कथानक का अभाव ही रूपक को नाटक से अलग करता है और यही कथानक विहीनता संगीत-रूपक को पद्य-नाटक और गीति-नाट्य से अलग करती है। वैसे रूपक और संगीत-रूपक में भी संगीत के अलावा एक और अंतर भी होता है। रूपक जहाँ तथ्य-प्रधान होते हैं, वहीं संगीत-रूपक विचार और भावना-प्रधान।

संगीत-रूपक में भी सूत्रधार हो सकते हैं, पत्रों की योजना हो सकती है, संवाद हो सकते हैं, घटनायें हो सकती हैं लेकिन जो केंद्रीय वस्तु होगी वह है संगीति। अभिव्यक्ति का एक बड़ा भाग गीति-संगीति के हिस्से आयेगा। शेष तत्त्व गौण और सहायक होंगे।

ब्लिट्ज़टीन के रूपक 'दि एयरबोर्न'[1] में कोई पात्र, संवाद, घटना आदि नहीं है। सिर्फ़ एक कोरेल-ग्रूप है जो गा रहा है—कभी एकल तो कभी समवेत स्वर में। बीच-बीच में एक मॉनीटर गानों को सूत्रबद्ध करता चलता है। लेकिन मॉनीटर के छंदबद्ध नैरेशन के दौरान भी कोरस का सहकार बना रहता है। उसी में भूमिका आती है और इतिहास में उड़ान के ब्यौरे आते हैं, फ़ासीवाद आता है, प्रतिरोध का युद्ध आता है और आती है उस युद्ध में वायु-सेना की भूमिका। रूपक का एक अंश है—

1. दि एयरबोर्न—मार्क ब्लिट्ज़टीन, रेडियोज़ बेस्ट प्लेज़, पृ. 38

BALLAD OF HISTORY AND MYTHOLOGY

Solo (Negro tenor)

Etana jumped on the back of an eagle, in Mesopotamia.

Tried to fly in forty-five hundred B.C. But he got dizzy; got dizzy and tumabled off;

got dizzy, tumbled off and fell and died. Old Etana had wings on the brain

CHORUS

To be airborne

SOLO

There was Phaethon, son of the Sun. Apollo, and he stole his son wagon.

But he didnot know how to steer that wagon when it rose up, we froze.

When it dropped on the down, we sizzled Going up and down we froze and sizzled in turns.

That was Phaethon had wings on the brain.

CHORUS

Wings on the brain wings on the brain Mad for to fly, and walk the sky. For they had wings on the brain.

SOLO

Leonardo designed a fine propeller model

CHORUS

Never sweller mode.

SOLO

There was a flying bicycle, did everything but fly.

A giant black umbrella kite did not go very high.

There was a rocket to the moon and as for the balloon.

Oh, every manner of balloon,

and some slayed up all right and some did

and some did, and some didnot,

and some went so high,

and some did, and some did,

and some went up and out of sight.

CHORUS and SOLO

Oh they tell of strings and springs and rubbers,

and vertical revolving serenes.

Tell of aerial steamers, multiple gliders.

1965 के रूपकों के अ॰ मा॰ कार्यक्रम में प्रसारित, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की बादल संबंधी रचनाओं पर केंद्रित संगीत-रूपक 'बादल राग'[1] में एक कल्पित नारी चरित्र और बादल के वार्तालाप से इन कविताओं की भूमिका बँधती है, विशेषताएँ उद्‌घाटित होती हैं—

गीत

अलि घिरि आये घन पावस के

मेघ के घन केश

बादल छाये

---

1. संगीत-रूपक—'बादल-राग'—ले॰ केशवचंद्र वर्मा सं० रघुनाथ सेठ—आकाशवाणी नाट्य-संग्रह 1965, पृ॰ 68

बादल : तुम मुझे बार-बार क्यों बुला रही हो?

नारी पात्र : कौन हो? तुम कौन हो?

बादल : अपने गृह-आँगन की सारी सीमाओं को छोड़कर यहाँ ऊपर आकर तुम मुझी को बुला रही थीं ना? मैं आ गया। मैं, बादल, श्याम घन।

नारी पात्र : बादल! धरती को समय पर रस से भिगोने की याद तुम्हें बनी रहती है?

बादल : हाँ। और भूले भी कैसे? सभी तो याद करते रहते हैं—कृषक का हल, कवि की लेखनी, तुम्हारी और तुम्हारे जैसे कितनों की भरी-भराई, डबडबाई आँखें! कैसे भूलें? सभी तो मुझको टेरते रहते हैं।

नारी पात्र : सच। सभी तुम्हें दोनों बाँहें उठाकर पुकारते रहते हैं। सभी की वेदनाओं और पीड़ा के तुम युगों से प्रतीक बन गये हो। इसीलिए तो संसार के सारे कवियों ने किसी-न-किसी रूप में तुम्हारा यश गाया है।

बादल : यश! (हँसता है) हाँ मेरी बहुरूपी काया का वर्णन।

नारी पात्र : लोकगीतों की खुरदुरी भाषा और कालिदास और रवींद्रनाथ जैसे महाकवियों की लेखनी—सब एक स्वर से तुम्हारा स्वागत सजाते हैं। कैसा लगता है तुम्हें यह सब? तुम्हें सबसे प्रिय क्या लगता है? कहाँ रमता है तुम्हारा मन?

बादल : निराला का नाम सुना है तुमने? उनके प्राण मुझमें ही बसते थे। निराला का स्वर मेरा ही स्वर था—कोमल भी, और कठोर भी। उनका बादल-राग मेरे माध्यम से कवि-मानस का ही राग है। जब वो मेरे झूम-झूम बरस पड़ने की कल्पना करते हैं, तो उनका कवि मन स्वयम् झूम-झूम बरस पड़ना चाहता है।

गीत

झूम-झूम मृदु गरज-गरज बरस घनघोर
राग अमर अंबर में भर निज रोर।

लू कूपर के संगीति-रूपक 'दि लास्ट स्पीच'[1] अमेरिका के राष्ट्रपति फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट की मृत्यु पर उनके अंतिम संदेश को आधार बनाकर तैयार किया गया था और उनके जीवन, कृत्यों और विचारों को रेखांकित करता है। इसका एक अंश इस प्रकार है :—

NARRATOR

The last speech - the final words.

"Let us move forward with strong and active faith."

And he called this faith the four freedoms.

And one of them the freedom from want.

"True individual freedom", said F.D.R.

"cannot exist without economic security".

TENOR

"Like a guiding star", said F.D.R.

BARITONE

"For greater heights, let's Set our sights"

"On an economic bill of rights."

---

1. संगीत-रूपक—दि लास्ट स्पीच—लू कूपर—'म्यूज़िकल फ़ीचर फ़ॉर ब्रॉडकास्ट—सं. नॉर्मन कॉरविन—पृ. 138

VOICES

"Human rights?"

"Seems I've heard about those before".

"But may be not like..."

"Like what?"

BARITONE

"Well ......"

Like the right to earn a living

Like the right to do some giving

Like the right to know you're free, from messy poverty.

CONTRALTO

"Like a guiding star", said F.D.R.

CHORUS

"Like a gruiding star."

BARTION

Like the right of freedm from want

CONTRALTO

Like the right of freedom from fear

CHORUS

Like the right to feel like an equal

BARITONE

Secure from year to year

SOPRANO

To always hold your head up high.

And always keep the things we like.

CONTRALTO

Said F.D.R., "Like a guiding star".

CHORUS

"Like a guiding star"

NARRATOR

I guess thats what he meant by government with soul.

(Music)

NARRATOR

Who never failed the people

in the little freedoms

As well as the big.

For he cherished those little freedoms we like

and the little, simple joys in life.

TENOR

He wrote the speech in his own heart's blood.

He wighed each word and found it good.

NARRATOR

The last speech was written and complete. Written by a citizen of the world and conceived by a mighty architect of peace

(Chorus hum in background of words by narrator)

BARITONE

We seek peace

Enduring peace

abiding peace

more than an end to wars

SOLOIST

More than an end to wars

We want an end to the beginning of wars.

To live and to work

in the same world together at peace.

लेकिन, कोई ज़रूरी नहीं कि संगीत-रूपक इतने ताम-झाम के माथ ही निर्मित हो। इसका रूपाकार बिल्कुल सीधा-सादा भी हो सकता है। पं॰ बालकृष्ण शर्मा नवीन की काव्यकृति पर आधारित संगीत-रूपक 'हम विषपायी जनम के'[1] की प्रस्तुति बिल्कुल सादी है। नवीन जी की रचनाओं को संगीतबद्ध कर दिया गया है और दो सूत्रधारों (पुरुष और महिला) की परिचयात्मक कमेंटरी से उन्हें जोड़ दिया गया है।

---

1. स॰ रू॰ हम विषपायी जनम के—ले॰ एवं प्रस्तुतकर्त्ता—इलाचंद्र जोशी—रेडियो-नाट्य-संग्रह 1959, पृ॰ 83-102

इस प्रकार, संगीत-रूपक एक नया और बेहद चुनौतीपूर्ण साहित्य-रूप है। चुनौतीपूर्ण इसलिए कि इसके लेखक का गीति और संगीत—दोनों ही विधाओं पर सम्यक् अधिकार होना अनिवार्य है और यह एक नितांत दुर्लभ संयोग है। यही कारण है कि विगत पाँच दशकों में भी उच्चस्तरीय, रचनाधर्मी संगीत-रूपक उँगलियों पर गिनाने लायक ही हैं।

5.5 रेडियो-कार्टून

'रेडियो-कार्टून' शीर्षक से ही यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कार्टून का संबंध सिर्फ़ लिखित शब्द से ही नहीं बल्कि चित्र से भी उतना ही है फिर कार्टून रेडियो का कला-रूप कैसे हो सकता है? दरअसल रेडियो के विशुद्ध श्रव्य रूप में ही इस प्रश्न का उत्तर निहित है। यह सही है कि लिखित/मुद्रित पृष्ठ पर तो चित्रांकन संभव है लेकिन रेडियो से किसी भी तरह का दृश्य-संप्रेषण उस रूप में नितांत असंभव है। रेडियो-प्रसारण से जो भी संप्रेषण होना है, वह ध्वनियों और शब्दों के माध्यम से और स्वाभाविक रूप से, अगर रेडियो से कार्टून का प्रसारण होना है तो वह भी इन्हीं के माध्यम से। इसीलिए रेडियो-कार्टून एक ऐसा कला-रूप हो सकता है जिसमें चित्रकला का कोई हस्तक्षेप नहीं।

5.5.1 रेडियो-कार्टून का इतिहास

रेडियो-कार्टून की कोई दीर्घ ऐतिहासिक या अविच्छिन्न परंपरा नहीं है। सातवें दशक में (1972) इस क्षेत्र में पहला प्रयोग आकाशवाणी कलकत्ता के तत्कालीन केंद्र-निदेशक श्री दिलीप कुमार सेनगुप्ता ने किया।[1] लेकिन, न तो रेडियो पर लिखी गयी देसी-विदेशी पुस्तकों, न ही केंद्रों से मिली सूचनाओं के अनुसार इस विधा में कोई उल्लेखनीय या नियमित काम हुआ है। श्री सेनगुप्ता संभवतः अकेले रचनाकार रहे जो कुछ समय तक इस क्षेत्र में नियमित कार्य करते रहे। आकाशवाणी पर सरकारी लौह-शिकंजे का अंकुश इस विधा को पनपने न

---

1 रेडियो-लेखन—मधुकर गंगाधर—पृ. 465

देने का एक बड़ा कारण रहा क्योंकि कार्टून अपने मूल चरित्र में ही व्यंग्यप्रधान होता है और व्यंग्य जितने प्रसिद्ध व्यक्तियों या गहरी विसंगतियों पर हो उतना ही सफल होता है और आकाशवाणी आज तक व्यक्तियों/संस्थाओं की स्वस्थ-सम्यक आलोचना तथा सम्पूर्ण राष्ट्र-राज्य को मथ डालने वाले प्रश्नों की जड़ों में जाने से हिचकता है।

5.5.2 रेडियो-कार्टून और झलकी

रेडियो-कार्टून को आरंभ से ही इस प्रश्न का सामना करना पड़ा कि आख़िर झलकी के रहते रेडियो-कार्टून की ज़रूरत ही क्या है, या, झलकी और रेडियो-कार्टून में अंतर ही क्या है?

वास्तव में, यह प्रश्न समीचीन भी है क्योंकि झलकी और रेडियो-कार्टून के फ़ॉर्म में अंतर सिर्फ़ विस्तार का है। झलकी जहाँ आमतौर से पंद्रह मिनट की होती है वहीं रेडियो-कार्टून डेढ़-दो मिनट का होता है। एक तरह से रेडियो-कार्टून झलकी का बेहद संघनित रूप है।

झलकी और रेडियो-कार्टून में आकार के अतिरिक्त भी एक महत्त्वपूर्ण अंतर है। झलकी जहाँ मुख्य रूप से हास्यपरक होती है वहीं रेडियो-कार्टून का मूल स्वर व्यंग्य का होता है। केले के छिलके पर पैर पड़ जाने से फिसल जाने का स्थूल चित्रण झलकी में हास्य पैदा कर सकता है लेकिन अगर यह रेडियो-कार्टून का विषय है तो इसे एक पिछड़े समाज की जहालत, सिविक-सेंस का अभाव और परले दर्जे की ग़ैर-ज़िम्मेदार स्थानिक-व्यवस्था तक जाना होगा। झलकी और रेडियो-कार्टून में एक अन्य अंतर इनके विषय और चरित्रों का है। झलकी की स्थितियाँ और चरित्र काल्पनिक होते हैं जबकि रेडियो-कार्टून के चरित्र और स्थितियाँ जितने वास्तविक और सुख्यात हों इसका प्रभाव उतना ही तीखा होगा।

5.5.3 रेडियो-कार्टून की शैली और इसका शिल्प

चूँकि रेडियो-कार्टून झलकी का लघु और संघनित रूप है इसलिए इसमें रेडियो-नाटक के सारे उपकरणों—चरित्र, संवाद, अभिनय, संगीत, ध्वनि-प्रभाव आदि का प्रयोग होता है। एक सांगोपांग और सुगठित कथानक झलकी में भी नहीं होता और रेडियो-कार्टून में भी नहीं।

(i) **संवाद**—रेडियो कार्टून में सर्वाधिक महत्त्व संवादों का होता है। चूँकि गिनती के संवादो में पूरा प्रभाव पैदा करना होता है, स्थिति और चरित्र की विसंगति को पूरी गहराई में पकड़ना और पैनेपन से उकेरना होता है, इसलिए रेडियो-कार्टून के संवाद बेहद चुटीले और कल्पनाशील होने चाहिएं।

आर॰ के॰ लक्ष्मण के एक कार्टून[1] में चपरासी मुख्यमंत्री से कहता है—साहब! यह बेचारा अकेला विधायक है, जिसे मंत्री नहीं बनाया गया। किसी तरह इसको भी कैबिनेट में ले लें। द्रष्टव्य है कि इन दो वाक्यों में उ॰ प्र॰ की जंबो मंत्रिपरिषद पर कैसा सटीक व्यंग्य किया गया है। लक्ष्मण के ही एक अन्य कार्टून में पेट्रोलियम मंत्री कह रहा है—"मेरा पी॰ ए॰ बेहद होशियार है। वह हर हफ़्ते अपनी तरफ़ से ही पेट्रोल की क़ीमत-वृद्धि का आदेश जारी कर देता है।"[2]

(ii) **अभिनय**—अभिनय का रेडियो-कार्टून में आत्यंतिक महत्त्व है। सिर्फ़ एक-दो वाक्य के संवाद में चरित्र और स्थिति दोनों को स्थापित करना बेहद कठिन काम है और इसे श्रेष्ठ अभिनय ही अंजाम दे सकता है।

(iii) **व्यवहार-वैचित्र्य (मैनरिज़्म)**—मुद्रित कार्टून में चरित्रों के स्केच हमारे सामने आते हैं और हम धोती-कुर्त्ता-टोपी की पोशाक़ और बड़ी तोंद से ही नेता तथा चिकने चेहरे, सूट और आभिजात्य से अफ़सर को पहचान लेते हैं। लेकिन रेडियो में न तो रेखांकन दिखा सकते हैं न ही कार्टून में इतना समय होता है कि चरित्रों का परिचय संवादों में आये। इसलिए रेडियो-कार्टून में प्रस्तुतकर्त्ता तथा अभिनेता के सामने चरित्र को स्थापित करने और उभारने का एकमात्र औज़ार मैनरिज़्म हो सकता है। एक नेता के बोलने में जो अक्खड़पन या काइयाँपन होगा और एक

---

1. दि टाइम्स ऑफ इंडिया—25 अक्तूबर, 2002—पृ॰ 1
2 वही—26 अक्तूबर, 2002 पृ॰ 1

अफ़सर के बोलने में जो रूखापन और दूसरी तरह का काइयाँपन होगा—रेडियो-कार्टून के अभिनेता को उसे पकड़ना होगा। लक्ष्मण के 'कॉमन मैन' को ही लें। चित्र में उसकी बेचारगी और किंकर्त्तव्यविमूढ़ता हम देख सकते हैं लेकिन अगर उसी को रेडियो में प्रस्तुत करना हो तो संभवतः हकलाहट, गड़बड़ा कर बोलना, थूक निगलते रहना आदि ऐसे तौर-तरीक़े हो सकते हैं जिससे उसका स्टॉक कैरेक्टर स्थापित हो सके।

(iv) **अनुकरण (मिमिक्री)**—मुद्रित कार्टून में कार्टूनिस्ट हमेशा प्रख्यात चरित्रों के चेहरे की किसी ख़ास विशेषता को उभारकार रखता है जो कि उस चरित्र की पहचान बन जाती है। इंदिरा गाँधी की लंबी नाक, जगजीवन राम की गोल थुथनी, लालू यादव के बाल, लालकृष्ण आडवाणी का गंजा सर और मक्खी-मूँछ आदि ऐसे फ़ीचर हैं जिन्हें कार्टूनिस्ट उभारकर चित्रित करता है और पाठक इनके सहारे फ़ौरन उस चरित्र को पहचान लेता है। परन्तु रेडियो में कार्टून का प्रस्तुतकर्त्ता सिर्फ़ श्रव्य विशिष्टताओं का ही इस्तेमाल कर सकता है और मिमिक्री इसमें बेहद उपयोगी सिद्ध हो सकती है। अटल बिहारी वाजपेयी, लालू यादव या सोनिया गाँधी के बोलने के जो ख़ास अंदाज़ हैं—वाजपेयी जी का लंबे अंतराल दे-देकर बोलना, लालू यादव की बिहारी शैली और सोनिया गाँधी का विदेशी लहजे में हिन्दी बोलना—रेडियो कार्टून में इनके प्रयोग से श्रोता उन व्यक्तियों की पहचान कर सकता है।

(v) **पार्श्व-संगीत**—शब्द और अभिनय के बाद पार्श्व-संगीत एक ऐसा साधन है जो रेडियो-कार्टून में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

पार्श्व-संगीत का पहला प्रयोग तो कार्टून के लिए हास्य-व्यंग्यपरक वातावरण निर्माण करने के लिए होता है और ख़ासतौर से पार्श्व-संगीत का ऐसा टुकड़ा तय्यार करना पड़ता है जो कुछ सेकेंड में ही ऐसा माहौल बना दे।

संगीत का दूसरा इस्तेमाल किसी ख़ास पात्र की उपस्थिति को रेखांकित करने के लिए होता है। उदाहरणतः, लक्ष्मण के कॉमन मैन की तरह कई कार्टूनिस्टों के स्टॉक कैरेक्टर होते हैं। रेडियो-कार्टून में अगर ऐसे चरित्रों के साथ एक विशेष पार्श्व-संगीत का इस्तेमाल हो तो वह संगीत अनायास ही उस स्टॉक कैरेक्टर को श्रोता के सम्मुख ला खड़ा करेगा।

रेडियो-कार्टून में संगीत का तीसरा इस्तेमाल संवाद द्वारा की गयी टिप्पणी को और तीव्र बनाने के लिए किया जाता है। साथ ही वह श्रोता को कुछ क्षणों का अंतराल भी प्रदान करता है जिससे श्रोता उसी माहौल में कुछ समय तक रहकर उस कार्टून का पूरा लुत्फ़ उठा सके।

5.5.4 रेडियो-कार्टून के कुछ नमूने—अंत में उदाहरणार्थ रेडियो-कार्टून के कुछ आलेख प्रस्तुत हैं :—

(i) **(संक्षिप्त हास्यपरक संगीत)**

मंत्री : अरे, पी॰ ए॰! प्रेस को मेरा बयान भिजवाया नहीं कि मैं सरकार की विनिवेश-नीति के खिलाफ़ मंत्री पद से त्याग-पत्र दे रहा हूँ?

पी॰ ए॰ : भिजवा रहा हूँ हुज़ूर। कहिए तो इस बयान का खंडन भी साथ ही भिजवा दूँ कि प्रेस ने मंत्री जी को ग़लत कोट किया है।

(हास्यपरक संगीत)

(ii) **(संगीत)**

एक भाषण : आज हिन्दी डे है। हिन्दी हमारी नेशनल लैंग्वेज है। हमें पूरे जोश के साथ यह डे सेलिब्रेट करना चाहिए और हमेशा हिन्दी ही यूज़ करनी चाहिए।

(संगीत)

(iii) (संगीत)

नेता : ठीक है, ठीक है, उसने जनता के लिए बहुत काम किया है और वह ईमानदार भी है। लेकिन उसने पार्टी के लिए कुछ नहीं किया न ही पार्टी के नेता के लिए। भला उसे कैसे टिकट दिया जा सकता है?

(संगीत)

5.6 निष्कर्ष : उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रेडियो की चुनौती के परिणामस्वरूप रेडियो-नाटक और रेडियो-रूपक के रूप में बेहद सर्जनात्मक कला-रूपों का जन्म हुआ है और इनमें रचनात्मक संप्रेषण की अनंत संभावनाएँ हैं। रेडियो-नाटक मंच-नाटक से साम्य रखते हुए भी एकदम नयी विधा है और इसकी अवधारणा से लेकर उपकरण तक बिल्कुल नये हैं। रेडियो-रूपक तो रेडियो की सृष्टि ही है और इसमें रचनात्मकता का अनंत क्षितिज सन्निहित है। संगीत-रूपक भी गीति और संगीत—दो-दो क्षेत्रों में सम्यक् अधिकार की माँग करने के कारण बेहद चुनौतीपूर्ण कला-रूप है। रेडियो-कार्टून अभी शैशवावस्था में ही है और सरकारी जकड़बंदी एवं साहस के अभाव के कारण इस विधा में कोई उल्लेखनीय काम नहीं हुआ है। फिर भी, इसमें संभावनाएँ काफ़ी हैं, ख़ासतौर से आज के अपेक्षाकृत उन्मुक्त प्रसारण के दौर में।

□□□

अध्याय-6

उपसंहार

अध्याय-6

उपसंहार

6.1 निष्कर्षों का सारांश

6.2 परिशिष्ट-एक : एक कला-रूप में रेडियो की वर्तमान स्थिति

6.3 परिशिष्ट-दो : ग्रंथ-सूची

उपसंहार

साहित्य और श्रव्य माध्यम के संबंध का स्वरूप

साहित्य और रेडियो समेत सचार-माध्यमो के संबंध का स्वरूप विरोधात्म माना जाता है। साहित्य में अन्वेषण, संवेदन, विचारात्मकता, भाषिक-सर्जनात्मकता, विमर्श की बहुस्तरीयता तथा ग्रहीता की रचनात्मक सहभागिता होती है, जबकि एलेक्ट्रॉनिक संचार-माध्यमों में तात्कालिकता का दबाव, संदेश की एक-पक्षीयता, सूचनाओं की परिप्रेक्ष्यहीनता, भाषिक तदर्थता तथा अर्थ की एकलस्तरीयता रहती है। परंतु, इसके मूल में इन माध्यमों की रूपगत सीमा नहीं, उन शक्तियों का चरित्र है, जिनके हाथों इनका विकास हुआ और जिनके नियंत्रण में ये जन-संचार करते हैं। आवश्यकता इन माध्यमों को नकारने की नहीं, वरन् इनके वृहत्तर हितों में रचनात्मक इस्तेमाल की है क्योंकि नये समाज की ज़रूरतें नये माध्यम को जन्म देती हैं और इन्हें नकारकर नहीं चला जा सकता। द्वितीयतः, रेडियो सिर्फ़ सूचना-संचार का ही माध्यम नहीं है, इसका एक अत्यन्त सक्षम और संभावनाशील कला-रूप भी है, जो न सिर्फ़ साहित्यिक विधाओ को संप्रेषण के नये आयाम प्रदान कर सकता है, वरन् इसके तहत नये साहित्य एवं कलारूपो का उद्गम और विकास भी हुआ है। अगर समाचार-संचार एवं मनोरंजन के कई चमक-दमक वाले एलेक्ट्रॉनिक दृश्य-श्रव्य माध्यमों की चकाचौंध में भी रेडियो को बने रहना है तो उसे एक कला-रूप में अपनी पहचान बनानी होगी, जहाँ उसका कोई विकल्प नहीं है।

निजता और कल्पनाशीलता ऐसे स्थल हैं, जहाँ से रेडियो एक कला-रूप में शक्ति पाता है क्योंकि रेडियो अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में एक नितांत निजी अनुभव है। श्रोता के एकांत में ही रेडियो ऐसा आत्मीय और अंतरंग हस्तक्षेप कर सकता है जो श्रोता की कल्पनाशीलता

को निर्बंध उड़ान भरने के लिए स्वतंत्र कर दे तथा रेडियो-प्रस्तुति में अपनी कल्पनाशीलता द्वारा किया गया श्रोता का यह रचनात्मक सहकार ही है जो रेडियो के कलारूप को अद्‌भुत और अद्वितीय अनुभव में ढालता है। रेडियो वर्णन नहीं, उद्‌बोधन करता है और यही उद्‌बोधन रेडियो को संप्रेषण का असीम आकाश प्रदान करता है। अपनी अद्‌भुत कल्पनाशील व्यंजकता के कारण रेडियो मंच अथवा टेलीविज़न और फ़िल्मों की तुलना में कहीं अधिक संप्रेषणीय है।

एक कला-रूप में **रेडियो के विशिष्ट उपकरण हैं**—उच्चरित शब्द, संगीत, ध्वनि-प्रभाव, कंठ-स्वर, स्वराभिनय, अंतराल एवं माइक का रचनात्मक प्रयोग।

रेडियो-अनुभव की धुरी **उच्चरित शब्द** पर टिकी है। बोले गये शब्द जीवित हो उठते हैं, रूपाकार और अर्थवत्ता ग्रहण करने लगते हैं। लिखित भाषण पढ़कर और फिर उसे सुनकर इस अंतर को समझा जा सकता है। आवाज़ भावनाओं को संप्रेषित और उत्तेजित करने का सबसे प्रभावशाली माध्यम है और उच्चरित शब्द की आत्मीयता का प्रभाव आत्यंतिक होता है। यह तथ्य कि श्रोता वक्ता से उतनी ही दूर है, जितनी दूर वक्ता से माइक, उसमें यह अनुभूति जगाता है कि वह सबसे छुपाकर, उसके कानों में अपने मन की गुप्त और निजी बातें कह रहा है, अपने विचार और अनुभव उससे बाँट रहा है और इस अपनेपन का वैसा ही आत्मीय प्रभाव भी पड़ता है।

रेडियो-संप्रेषण के शब्दों में कविता की ही तरह **उद्‌बोधकता और न्यूनोक्ति** होनी चाहिए। लिखित शब्द की तुलना में रेडियो द्वारा उच्चरित शब्द के प्रयोग में बेहद किफ़ायती और कल्पनाशील होना चाहिए क्योंकि इसे चंद सेकेंड के समय में अनुभूति के स्तरों और उसकी गहराई को व्यक्त करना होता है। **अप्रत्याशितता** उच्चरित शब्दों की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है। अप्रत्याशितता का गुण लिखे अथवा छपे पृष्ठों पर व्यर्थ चला जाता है क्योंकि पढ़ते समय आँखें चोरी से, आगे देख लेने की अभ्यस्त होती हैं। परन्तु, रेडियो में शब्द जितने ही आकस्मिक होंगे, श्रोता पर उतना ही गहरा प्रभाव डालेंगे।

पार्श्व-संगीत अथवा प्रासंगिक भाव-संगीत उच्चरित शब्द का सर्वाधिक शक्तिशाली साधन है। यह न सिर्फ़ क्रियाकलापों को सर्वाधिक जीवंतता और सुस्पष्टता से संप्रेषित करता

है और इस तरह अनावश्यक ब्यौरों और शब्द-चित्रों से बचाता है बल्कि एक भावनात्मक तनाव से दूसरे भावनात्मक तनाव तक की यात्रा में एक शॉर्ट-कट का भी काम करता है। यह तनाव को शीर्ष तक पहुँचाता है तथा उस पर टिप्पणी और उसकी पुष्टि करता है। परन्तु प्रासंगिक भाव-संगीत का प्रयोग रेडियो-मायक्रोफ़ोन की प्रकृति के ज्ञान के साथ और तभी करना चाहिए जबकि यह अपरिहार्य हो। साथ ही, सम्पूर्ण प्रस्तुति के एकीकृत अंग के रूप में इसकी परिकल्पना होनी चाहिए।

ध्वनि-प्रभाव वातावरण और कलात्मक विभ्रम निर्मित करने का बेहद किफ़ायती साधन हैं। साथ ही, दृश्य-बिंब उभारने की दृष्टि से, यथार्थ ध्वनि का अतिरिक्त आयाम जोड़ने के कारण ये उच्चरित शब्द के पूरक भी होते हैं। दरवाज़ा खुलने या बंद होने की आवाज़ अनायास ही कमरे का बिंब रच देती है तथा झिंगुर की आवाज़ रात का; संवाद 'नहीं-नहीं, ऐसा मत करो' के साथ ही गोली चलने का प्रभाव शब्दों को अर्थपूरित करता है।

ध्वनि-प्रभाव के अंतर्गत प्राकृतिक ध्वनियाँ और रेडियोफ़ोनिक-प्रभाव भी सम्मिलित होते हैं, जो यांत्रिक अभिरचना होते हैं और जिनका प्रयोग ग्रह-नक्षत्र, पुच्छल-तारे, भूत-राक्षस आदि के संप्रेषण के लिए किया जाता है।

नीरवता और अंतराल (पॉज़) रेडियो के मौलिक उपकरण हैं और ऐसी नीरवता और अंतराल जो सटीक बिंदु पर आयें एवम् सटीक बिंदु पर टूटें, श्रोता की कल्पनाशीलता के लिए सर्वाधिक उत्तेजक होते हैं। इनमें अपेक्षा, रहस्य, वातावरण और भावनात्मक व्यंजनाओं की सृष्टि की जा सकती है। रेडियो-संप्रेषण में यह मौन का अंतराल ही है, जिसमें श्रोता की रचनात्मकता अपने शिखर पर होती है। वह उस अंतराल को खुद रंगों, गतियों और अनुभूतियों से भरता है।

शब्द की पठ्यता बनाम शब्द की श्रव्यता—शब्द की पठ्यता और शब्द की श्रव्यता—दोनों में ही संप्रेषण अर्थात् अभिव्यंजना और आशंसा अनिवार्यतया सम्मिलित हैं। अभिव्यक्ति और संग्रहण दोनों क्रियाओं का एकतार हो जाना ही संप्रेषण है। अभिव्यंजना के अंतर्गत रचनाकार अपनी अनुभूतियों, अनुभवों और भावनाओं को एक माध्यम में ढालकर

प्रस्तुत करता है और आशंसा के अंतर्गत पाठक या श्रोता रचना द्वारा विमर्श किये गये अनुभवों और संवेगो को अपने अभ्यास, रुचि, पृष्ठभूमि और बोध के अनुरूप ग्रहण करते हैं। इस अर्थग्रहण में आशंसक के अतीत और वर्तमान के अनुभवों यानी साहचर्य और बिंब-ग्रहण का अत्यन्त महत्त्व होता है। आशंसक की बिंब-ग्रहण-क्षमता उसकी संवेदनशीलता, कल्पनाशीलता, स्मृति-कोष, अनुभवों और संस्कारों पर निर्भर करती है। वह इनका ग्रहण प्रत्यक्षीकरण और साधारणीकरण की प्रक्रिया द्वारा करता है।

बिंबात्मक रूपांतरण के द्वारा शब्द की पठ्यता को उसकी श्रव्यता में रूपांतरित किया जाता है तथा रेडियो-माध्यम की ऐंद्रिय, विमर्शक और तकनीकी विशेषताएँ लिखित शब्द की तुलना में रेडियो के बिंबाधायन को कई विशिष्ट शक्तियाँ प्रदान करती हैं।

रेडियो के श्रव्य-शब्द का बिंब हमेशा लिखित शब्द के बिंब की अपेक्षा **अग्रगामी** होता है क्योंकि उसमें पढ़ने की क्रिया का, पुस्तक और अक्षरों का व्यवधान नहीं होता। सुनना हमेशा पढ़ने की तुलना में अधिक सहज और अनायास होता है। यही कारण है कि सुने हुए शब्द का बिंब-ग्रहण अधिक त्वरित और अधिक प्रभावोत्पादक भी होता है। श्रव्य बिंब तो रेडियो की प्राकृतिक अनुकूलता के कारण अधिक प्रभावी होते ही हैं।

रेडियो के मौलिक उपकरण भी बिंबात्मक रूपांतरण और रेडियो के बिंबाधायन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। रेडियोकर्मी का सुसंस्कृत कंठ स्वर, उतार-चढ़ाव और लहजा, स्वराभिनय, संगीत, प्रासंगिक भाव-संगीत या पाशर्व-संगीत, ध्वनि-प्रभाव, माइक का आत्मीय, मायक्रोस्कोपिक और टेलेस्कोपिक प्रयोग तथा पॉज़ आदि रेडियो के बिंबाधायन को अत्यन्त प्रभविष्णु बनाते हैं।

रेडियो-प्रसारणकर्त्ता का सधा-संस्कारित स्वर और भावाभिव्यक्ति-सक्षम पाठ तथा रेडियो-अभिनेता का स्वराभिनय लिखित शब्द के बिंबों को श्रोता तक कहीं अधिक संवेदन-सघन बनाकर संप्रेषित करने की क्षमता रखते हैं। गेय कविताओं को संगीतबद्ध कर देने से उनका बिंबात्मक संप्रेषण कई गुना अधिक और आसान हो जाता है; शर्त बस इतनी होती है कि संगीत-रचनाकार कवि के मंतव्यों और बिंबों तक ख़ुद पहुँच सके और उन्हें प्रभावशाली ढंग

से श्रोता तक पहुँचाने की क्षमता रखता हो। पार्श्व-संगीत उच्चरित शब्द को रेखांकित करने, उनकी मानसिक और भावात्मक भूमि को संप्रेषित करने तथा अनकही रह गयी भावनाओं और प्रतिक्रियाओं को व्यंजित करने की व्यापक संभावनाएँ रखता है। ध्वनि-प्रभाव उन स्थितियों, घटनाओं, स्थानों, कार्यकलापों और मानसिकताओं के बिंब चंद सेकेंड में रच डालता है जिनके वर्णन में लेखक को कई-कई पृष्ठ ख़र्च करने पड़ते हैं। साथ ही, ये बिंब लिखित शब्दों द्वारा निर्मित बिंबों से कहीं अधिक जीवंत और प्रभावशाली होते हैं क्योंकि रेडियो अपने ध्वनि-प्रभावों से सिर्फ़ संकेत देता है, उन्हें रचता तो श्रोता स्वयम् है। माइक का टेलेस्कोपिक प्रयोग श्रोता को सुदूर-दृश्य दिखा सकता है, मायक्रोस्कोपिक प्रयोग पात्र की एक-एक प्रतिक्रिया को जैसे ख़ुर्दबीन के नीचे रखकर श्रोता तक पहुँचा सकता है, पैनोरैमिक प्रयोग पूरे परिदृश्य की परिक्रमा करा सकता है और आत्मीय प्रयोग सीधे श्रोता के अंतर्मन तक जाता है। अंतराल (पॉज़) उन बिंबों को, जहाँ शब्द अक्षम हो जाते हैं, सुगमता और कहीं अधिक प्रभविष्णुता से व्यक्त कर देता है क्योंकि इस अंतराल का भावात्मक अनुवाद श्रोता ख़ुद कर रहा होता है।

प्रचलित साहित्य-रूप और रेडियो में उनके प्रसारण की समस्याएँ—प्रचलित सभी साहित्य-रूप लिखित शब्द को ही ध्यान में रखकर अवधारित किये जाते हैं। समस्या यह है कि लिखित अथवा मुद्रित शब्द पर बार-बार लौटा जा सकता है, उनका दुबारा-तिबारा पाठ किया जा सकता है परन्तु रेडियो में दूसरे मौक़े की गुंजाइश नहीं होती। ऐसे में, आज के जटिल एवं संश्लिष्ट यथार्थ को अभिव्यंजित करने वाली साहित्यिक विधाओं को उनकी सूक्ष्मताओं ओर बहुस्तरीयता में संप्रेषित कर पाना रेडियो के समक्ष एक बहुत बड़ी चुनौती है।

रेडियो से प्रायः सभी प्रमुख साहित्य-रूपों—कहानी, उपन्यास, नाटक, कविता, संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत, रेखा-चित्र, व्यंग्य-विनोद आदि का प्रसारण होता है और अधिकतर विधाओं मे अपनी अल्प समय-सीमा के अंतर्गत रेडियो प्रभावशाली प्रसारण करने में सफल रहता है।

(i) **कहानी** के प्रसारण में आमतौर से लेखक स्वयम् कथा-पाठ करते हैं परन्तु अधिकतर लेखकों के पास प्रभावशाली आवाज़ और स्पष्ट-शुद्ध उच्चारण नहीं

होता जो इसके संप्रेषण में अवांछित व्यवधान खड़े करता है। अगर किसी व्यावसायिक रूप से सक्षम प्रसारणकर्त्ता से यही पाठ कराया जाय तो उसका संस्कारित स्वर तथा भावोत्तेजक पाठ कहानी के प्रसारण में चार-चाँद लगा सकते हैं। आवश्यकता सिर्फ़ इसकी होती है कि लेखक से इतर पाठकर्त्ता कहानी की मूल संवेदना को आत्मसात करके कहानी का पाठ करे।

कहानी के प्रसारण का दूसरा तरीक़ा उसके **नाट्य-रूपांतरण** का है परंतु नाटक के रूप में परिवर्तित होकर कहानी कहानी नहीं रह जाती, एक स्वतंत्र रूप ले लेती है, उसका विधागत साहित्य-रूप ही विलुप्त हो जाता है। दूसरे, नाट्य-रूपांतर में अक्सर कहानी के विवरणात्मक और विचारात्मक-व्याख्यात्मक हिस्सों को छोड़ देना पड़ता है जो कई बार कहानी के श्रेष्ठ हिस्से होते हैं तथा इनके अंतर्ग भाषा की सर्जनात्मकता के शिखर भी होते हैं जिनके साक्षात्कार का सुख भी जाता रहता है।

कहानी के प्रसारण का एक तीसरा तरीका भी हो सकता है और वह है **पाठ-सह-अभिनय** का। अगर कहानी का पाठ एक अनुभवी प्रोफ़ेशनल करे तथा उसके कथोपकथन का अभिनय किया जाय जिसमें नाटक के सारे उपकरणों—संगीत, पार्श्व-संगीत, ध्वनि-प्रभाव आदि का प्रयोग हो तब कहानी का ऐसा प्रसारण हो पायेगा जिसमें रेडियो-माध्यम की संप्रेषणीयता भी उसकी संवेदनाओं की अभिव्यंजना में योगदान कर सकेगी।

(ii) **उपन्यास** का प्रसारण सिर्फ़ धारावाहिक रूप में ही संभव है वह भी दीर्घकाय उपन्यासों को संपादित करके। इसके प्रसारण का भी श्रेष्ठ ढंग पाठ-सह-अभिनय का ही होगा।

(iii) **नाटक** का प्रसारण उसका रेडियो-रूपांतरण करके ही किया जा सकता है, चाहे वे पढ़े जाने के उद्देश्य से लिखे गये हों या, मंचित करने के। लिखित शब्दों और दृश्य-अवधारणाओं—दोनों का ही रूपांतर रेडियो की प्रकृति के अनुरूप

आवश्यक है। परन्तु, सिर्फ़ मंच-निर्देशों को निकाल देने तथा कार्य-व्यापार को श्रव्य बनाने के लिए उन्हें संवादों में परवर्तित कर देने और उनमें संबोधित किये जाने वाले पात्रों का नाम डाल देना ही रूपांतरण नहीं होता। रूपांतरण एक तरह का पुनर्लेखन होता है और यह रेडियो को ध्यान में रखकर किया जाता है।

रेडियो-नाटक दिखा नहीं सकता लेकिन यह रेडियो की शक्ति भी है क्योंकि जब श्रोता के समक्ष दृश्य नहीं होता तो उसकी कल्पना दृश्य रचने को उन्मुक्त हो जाती है, बशर्ते उसे उत्तेजित और निर्देशित करने वाले संकेत नाट्य-रूपांतर में हों। रेडियो-नाटक की दूसरी विशेषता श्रोता के निजी एकांत में घुसपैठ करने की उसकी क्षमता है, जिसके चलते इसमें अंतर्मन की सूक्ष्म भावनाओं का बख़ूबी चित्रण हो सकता है। ध्वनि-प्रभाव, पार्श्व-संगीत, स्थित्यंतरण की तकनीक, माइक का कैमरे की तरह इस्तेमाल आदि ऐसे साधन हैं जिनका सर्वश्रेष्ठ प्रयोग रेडियो-नाटक में ही हो सकता है और इनकी सहायता से इसमें किसी भी तरह के दृश्य चित्रित किये जा सकते हैं, चाहे जितने दृश्य-परिवर्तन किये जा सकते हैं। परंतु इसमें न बहुत अधिक पात्रों की योजना की जा सकती है, न बहुत लंबे या अधिक संवादों की। मूलकथा-धारा को केंद्रित करना और महत्त्वहीन घटनाओं एवं पात्रों को छोड़ देना, संवेदनशील स्थलों को प्रमुखता से उभारकर रखना तथा संवादों के चयन एवं रूपांतर में शब्द के उद्‌बोधक और न्यूनोक्ति वाले रूप को ध्यान में रखना आदि कुछ बिंदु हैं जिन्हें आत्मसात करते हुए ही नाटक का सफल रेडियो-रूपांतरण हो सकता है। अगर रेडियो की उक्त सीमाओं और शक्तियों के अनुरूप नाटक का रेडियो-रूपांतरण किया जाय तो कोई कारण नहीं कि उसका प्रसारण असफल हो।

(iv) **कविता** का प्रसारण एक ऐसा क्षेत्र है, जिसमें रेडियो बहुत-कुछ नहीं कर सकता। वाचिक परंपरा की कविता अपनी छंदबद्धता, लयात्मकता, सरलता तथ भाषा के वाचिक रूप के कारण प्रसारण हेतु सर्वथा उपयुक्त है परन्तु, आज की विचार-संवेदनाश्रित और जटिल यथार्थ को संश्लिष्ट रूप में व्यक्त करने वाली

कविता के दौर में वैसी कविता पीछे छूट गये अतीत की बात हो गयी है। फिर भी, स्पष्टता के अतिरेक और सपाटबयानी से बचते हुए भी, अर्थ-गर्भित और व्यंजनात्मक कविताएँ आज भी लिखी जाती हैं। ऐसी कविता का सफल प्रसारण किया जा सकता है।

सस्वर पाठ कविता के प्रसारण में कंठ के माधुर्य और धुन के आकर्षण का एक नया आयाम जोंड़ता है परन्तु, कवि अगर बेसुरे हों तो ऐसा काव्य-पाठ श्रोता में वितृष्णा ही जगाता है और कविता अपनी मूल संप्रेषणीयता भी खो बैठती है। दूसरे, एक विशेष मीटर में बँधी कविता-रचना अनिवार्यतः सीमित अभिव्यक्ति वाली होती है। इसका प्रसारण सफल भले ही रहे, रचनात्मकता की दृष्टि से बहुत उपयोगी नहीं है।

कविताओं की **नाट्य-प्रस्तुति** हो सकती है परंतु, इसके लिए उसका प्रबंधात्मक होना, उसमें कथोपकथन इत्यादि होना आवश्यक है। कथानक अभिनय और नाटक के अन्य उपकरणों से युक्त कविता का ऐसा प्रसारण निःसंदेह आकर्षक होगा परन्तु, समकालीन कविता में ऐसी रचनाए भी विरल हो गयी हैं।

कविताओं की **सांगीतिक प्रस्तुति** की जा सकती है। इसके लिए कविता में गेयता व गीति के अन्य आवश्यक तत्त्व होने चाहिएं। इसकी सफलता हेतु स्वर-संयोजन और गायन का भावानुकूल होना आवश्यक है। परन्तु, गीत विधा ही आज की जटिल संवेदनाओं का भार वहन करने में अक्षम सिद्ध हो चुकी है, अतः समकालीन कविता के एक बहुत छोटे हिस्से की ही संगीतमय प्रस्तुति संभव है। दूसरे, इसमें अभिव्यक्ति के साथ कविता की अस्मिता का भी संकट आ खड़ा होता है क्योंकि सुगम-संगीत एक स्वतंत्र विधा है और उसमें कविता की एकल सत्ता नहीं होती।

प्रबंधात्मक कविताओं की **संगीत-सह-नाट्य** प्रस्तुति भी की जा सकती है। ऐसी प्रस्तुतियाँ होती हैं और बेहद सफल भी रहती हैं। परन्तु, संकट फिर वही आ खड़ा होता है कि समकालीन काव्य-सृजन में कथात्मक आख्यानों का घोर अकाल है और इनके लिए मैथिलीशरण गुप्त और निराला आदि की तरफ़ ही ताकना होगा। सिर्फ़ भावबोधक पाठ ही एक

ऐसी युक्ति है जो कविता के प्रसारण में रेडियो की तरफ़ से कुछ जोड़ सकती है। ऐसा पाठ कविता की परतों तक श्रोता की पहुँच आसान बना सकता है, उसका कथ्य श्रोता पर अधिक सरलता और प्रभविष्णुता से खोल सकता है। समकालीन कविता का भी अगर पूरी भावाभिव्यक्ति के साथ पाठ किया जाय तो श्रोता अनायास ही उसकी संवेदना तक पहुँच जायेगा। परन्तु, यह एक अनुभवी और दक्ष प्रसारणकर्त्ता द्वारा ही हो सकता है और कविता की संवेदना को आत्मसात् करके ही किया जा सकता है।

अकाल्पनिक साहित्य-रूपों के अंतर्गत निबन्ध, संस्मरण, रेखाचित्र, यात्रा-वृत्तांत, जीवनी, आत्मकथा, व्यंग्य-विनोद आदि के प्रसारण में आवश्यक है कि भाषा के श्रव्य-रूप का, यानी सरल-सहज-प्रवहमान भाषा का प्रयोग हो और उसे वार्तालाप के रूप में परिकल्पित और अवधारित किया जाय। साथ ही, शैली में अधिक अलंकारिकता या वाग्वैदग्ध्य न हो। पाठ की प्रभविष्णुता भी आवश्यक है।

(i) **निबंध** अपनी वैयक्तिकता, आत्मीयता और लालित्य के कारण प्रसारण के सर्वथा उपयुक्त विधा है बशर्ते यह भाषा-शैली और पाठ के रेडियो के मानदंडों पर खरा उतरे।

(ii) **संस्मरण** का प्रसारण उसकी आत्मीयता, रोचकता, सरलता, प्रवाह और संक्षिप्ति के कारण सफल रहता है। आवश्यकता इस बात की होती है कि संस्मरण का विषय यदि व्यक्ति है तो वह विख्यात हो और अगर घटना हो तो रोचक।

(iii) **जीवनी और आत्मकथा** का प्रसारण, इनके बड़े आकार के कारण धारावाहिक रूप में ही किया जा सकता है, वह भी इन्हें चुस्ती से संपादित करने के बाद। इनके चरितनायक का विख्यात एवं महत्त्वूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व का स्वामी होना अनिवार्य है, अन्यथा श्रोता में इनके प्रति कोई उत्सुकता उत्पन्न नहीं होगी। महत्त्व और प्रसिद्धि के साथ ही चरित-नायक का जीवन रंगारंग और कुतूहल उत्पन्न करने वाले विविधवर्णी प्रसंगों से भी भरा होना चाहिए। रचनात्मक प्रस्तुति

जीवनी और आत्मकथा के प्रसारण में संप्रेषण के कई आयाम जोड़ देती है। एकाधिक वाचक-स्वरों का इस्तेमाल, उपयुक्त प्रसंगों का अभिनय, पार्श्व-संगीत, ध्वनि-प्रभाव आदि का प्रयोग इनके प्रसारण को नवीन आकर्षण और प्रभाव दे देता है।

(iv) **यात्रा-वृत्तांत** का प्रसारण लोकप्रिय होता है। सहज मानवीय स्वभाव के तहत श्रोता अनजानी जगहों, संस्कृतियों, प्राकृतिक सुषमा के लिए प्रसिद्ध स्थानों, ऐतिहासिक-पौराणिक जगहों के बारे में जानना चाहता है। अतः आवश्यक है कि यात्रा-वृत्तांत श्रोता की इन जिज्ञासाओं का सम्यक परिशमन करे। साथ ही श्रोता सिर्फ़ विवरण नहीं, लेखक की दृष्टि से वृत्तांत चाहता है अतः, इसमें आत्मनिष्ठता अर्थात लेखक का व्यक्तित्व और दृष्टिकोण भी उभर कर आना चाहिए। यात्रा-वृत्तांत में रोचक और रोमांचक घटनाओं का भी समावेश अवश्य किया जाना चाहिए। साथ ही, यह रोचकता इसकी शैली का भी गुण होना चाहिए। अत्यधिक अलंकरण या दार्शनिकता यात्रा-वृत्तांत के श्रोता को विमुख कर देती है।

(v) **रेखाचित्र** का प्रसारण भी उसकी संवेदनशीलता के कारण श्रोता को बाँधे रखने वाला होता है। आवश्यकता इस बात की होती है कि उसका विषय संवेदनाओं को झकझोकरने वाला हो। अगर विषय कोई घटना हो तो उसका सामाजिक परिप्रेक्ष्य भी ज़रूर होना चाहिए, अगर वातावरण हो तो विवरणों का ऐसा चयन होना चाहिए कि उसे सजीवता में प्रस्तुत कर सके साथ ही, श्रोता की कल्पना-शक्ति को भी उत्तेजित कर सके। रेखाचित्र का विषय अगर व्यक्ति है तो उसमें तब तक आकर्षण नहीं आ सकता जब तक कि सर्वथा वे विशिष्ट न हों। सफल प्रसारण हेतु रेखाचित्र में बिंबात्मकता और चित्रात्मकता का गुण अपरिहार्य है। भावात्मकता एक अन्य तत्त्व है जो इसके प्रसारण में और संवेदनशीलता जोड़ता है। रेखाचित्र के प्रसारण में सूक्ष्मता, तीव्रता और संकेतात्मकता के तत्त्व भी ज़रूरी

होते हैं, शैली की आडंबरहीनता और अनुभूतिप्रवणता भी।

(vi) **हास्य-व्यंग्य** के प्रसारण मे अनिवार्य है कि वह अश्लील और मर्यादाहीन न हो। व्यंग्य का मिठासयुक्त होना भी आवश्यक है क्योंकि श्रोता पाठक की तुलना में कम प्रबुद्ध और प्रतिबद्ध होता है। एक सीमा के बाद खुला और कठोर प्रहार पचाना उसके लिए कठिन होने लगता है। कौतुकपूर्ण पाठ हास्य-व्यंग्य के प्रसारण को कई गुना अधिक प्रभावी और संप्रेषणीय बना देता है। इसकी अभिव्यक्ति में जो विनोदवक्रता होती है वह अगर उसके पाठ मे न आये तो अच्छे-से-अच्छा हास्य-व्यंग्य अपना प्रभाव खो बैठेगा। अतः, अनिवार्य है कि हास्य-व्यंग्य के पाठ में भी आलेख की दृष्टि मुखर होकर आये।

रेडियो की चुनौती और नये साहित्य एवं कला-रूप—हर नयी तकनीकी अपेक्षाकृत अधिक विकसित समाज की आवश्यकता होती है। साथ ही, यह अन्य सामाजिक एवं व्यवस्थागत परिवर्तनों का कारण बनने के अतिरिक्त साहित्य एवं कला-रूपों को भी बदलती है। यह सर्जनात्मकता के समक्ष एक चुनौती रखती है और इसका प्रतिफलन साहित्य और कला-रूपों में परिवर्तन मे होता है, अथवा नये रूपों के उद्भव में एलेक्ट्रॉनिक श्रव्य-माध्यम रेडियो के आविष्कार के बाद मुख्य रूप से रेडियो-नाटक, रेडियो-रूपक, संगीत-रूपक, रेडियो-वार्त्ता और रेडियो-कार्टून आदि साहित्य एवं कला-रूपों ने जन्म लिया है।

(i) **रेडियो-नाटक** एक नवीन कला-रूप है। यह प्रत्यक्षता के बंधन से मुक्ति का नाटक है। रूप-रंग, दृश्यबंध, प्रकाश-योजना और संकलन-त्रयी आदि के बंधनों से वह पूर्णतया मुक्त होता है। यही कारण है कि यह विषय और प्रस्तुति—दोनों ही दृष्टियों से असीम संभावनाएँ रखता है। इसमें कोई भी दृश्य प्रस्तुत किया जा सकता है। मानवीय कल्पना में जो भी संभव है, वह रेडियो-नाटक में चित्रित हो सकता है क्योंकि यह प्रत्यक्ष-चित्रण के स्थान पर उद्बोधन को अपना साधन बनाता है। इसमें अद्भुत गतिशीलता और नमनीयता होती है। इसमें देशकला की अनिर्बंध यात्राएँ की जा सकती हैं, बहिर्जीवन के साथ

अन्तर्मन का भी पूर्ण चित्रण किया जा सकता है। वर्तमान से अतीत और वास्तविकता से कल्पना तक का इसमे सहज और क्षिप्र आवागमन सरलतापूर्वक हो सकता है। अदृश्य और अत्यंत आत्मीय होने के कारण यह अपनी प्रकृति से ही अतर्मन का नाटक है। ग्रहीता की दृष्टि से रेडियो-नाटक एक आत्मनिष्ठ नाट्य-रूप है। चूँकि यह श्रोताओं में कल्पना के स्तर पर कार्य करता है, इसलिए हर श्रोता की पात्रों, परिवेश और कार्य-व्यापार की कल्पना अपनी तथा दूसरो से भिन्न होती है।

रूप-विधान की दृष्टि से, रेडियो-नाटक का **कथानक** अत्यंत चुस्त और सुसंगठित होना चाहिए। किसी भी शिथिलता का इसमें कोई स्थान नहीं होता क्योंकि रंग-नाटक की तरह यहाँ, शिथिलता की क्षतिपूर्ति दृश्य-तत्त्वों से नहीं की जा सकती। अतः, कथानक ऐसा होना चाहिए कि आद्योपांत उसका प्रभाव कहीं भी बिखरने न पाये। समस्या और संघर्ष रेडियो-नाटक के कथानक के प्राण हैं। इनके अभाव मे क्रिया-तत्त्व विकसित नहीं हो पाता और श्रोता की उत्सुकता नहीं जग पाती।

रेडियो-नाटक मे चरित्रो की सारी विशेषताएँ स्वर द्वारा ही व्यक्त की जाती हैं अतः उनकी परिकल्पना स्वर के माध्यम से ही की जानी चाहिए तथा उनकी ध्वन्यात्मक रूपरेखा को गहराई से उकेरना चाहिए। रेडियो-नाटक में वेषभूषा, हाव-भाव आदि की जगह पात्रों की भाषा, बोलने की शैली, विस्मयादि का तरीक़ा और उनके परस्पर स्वर-भेद से ही उनकी छवि श्रोता के मन में बनती है। इसमें हर स्वर प्रवृत्ति का प्रतीक होता है और चरित्रो को जितनी ही स्वरगत विशेषताएँ दी जा सकें उतना ही यह प्रभावशाली बनता है।

रेडियो-नाटक के **दृश्य-संयोजन** में स्थान, काल आदि की एकता की कोई बंदिश नहीं होती। छोटे-बड़े कितने भी दृश्य रखे जा सकते हैं—दस सेकेंड के भी और पाँच मिनट के भी। दो-चार संवादों के भी और चालीस-पचास संवादों के भी। दृश्य-संयोजन का वास्तविक लक्ष्य नाटक का सम्पूर्ण प्रभाव होता है।

दृश्य-क्रम की रचना सर्वाधिक सुगमता एवं सहजता से की जा सकती है। किसी भी अन्य माध्यम मे अतिकल्पनाएँ उतनी वास्तविक और स्वाभाविक नहीं लग सकतीं, जितनी कि रेडियो मे।

रेडियो-नाटक के प्रकारों में पद्य-नाटक, संगीत-नाटक, एकपात्री नाटक, अति-कल्पना-नाटक, प्रतीक-नाटक प्रहसन और धारावाहिक नाटक प्रमुख हैं। धारावाहिक नाटक की तो मंच पर कल्पना भी नहीं की जा सकती। संगीत-नाटक भी संगीत-तत्त्व की प्रमुखता के कारण रेडियो के ही अधिक उपयुक्त है। अति-कल्पना और प्रतीक-नाटक भी रेडियो के ही अनुरूप हैं क्योंकि इन्हें दृश्यता में प्रस्तुत करते ही ये अस्वाभाविक लगने लगते हैं।

(ii) **रेडियो-रूपक** संप्रेषण का ऐसा क्षेत्र है जिसमें रेडियो की एकाधिकारी स्थिति है। पत्रकारिता के समाचार-फ़ीचर की तुलना में यह अत्यन्त उन्नत और प्रभावोत्पादक होता है। यह रेडियो की अतिमहत्त्वपूर्ण और अतिविशिष्ट विधा है।

रेडियो-रूपक यथार्थ वस्तु का नाटकीय प्रस्तुतीकरण है। इसका रूप मूलतः नाटक का नहीं है लेकिन यह अपनी प्रस्तुति में रेडियो-नाटक के समस्त उपकरणों—संवाद, अभिनय, संगीत, ध्वनि-प्रभाव तथा उसकी तकनीक का इस्तेमाल करता है। सामान्य रूपक और आलेख-रूपक—इसके दो प्रकार हैं। सामान्य रूपक में कल्पनाशीलता की गुंजाइश रहती है। आधार इसके भी यथार्थ व्यक्ति, घटनाएँ और तथ्य ही होते हैं परंतु, इनका प्रतिनिधित्व अन्य स्वरों एवं अभिनेताओं द्वारा किया जा सकता है; यथार्थ घटनाओं की काल्पनिक प्रस्तुति भी की जा सकती है, जबकि आलेख-रूपक में कल्पना की कोई छूट नहीं होती। इसमें वास्तविक व्यक्ति ही भाषण की रेकॉर्डिंग भेंटवार्त्ता आदि के माध्यम से अपने उद्गार व्यक्त कर सकते हैं या, सूत्रधार द्वारा उन्हें कहा जा सकता है।

रेडियो-रूपक का कृतिक्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। तथ्यों और सूचनाओं से लेकर व्यक्तियो और विचारों तक की प्रस्तुति इनके माध्यम से हो सकती है।

इसके अंतर्गत इतिहास-भूगोल, सभ्यता-संस्कृति, जीवन-चरित, वैज्ञानिक खोज, ऐतिहासिक घटना, साहित्यिक-वाद, दार्शनिक विचार आदि समाज, राजनीति, विज्ञान, कला एवं संस्कृति का कोई भी ऐसा विषय नहीं है जिस पर रूपक की रचना न की जा सकती हो।

स्थापत्य की दृष्टि से रेडियो-रूपक का एकमात्र लक्ष्य यथार्थ तथ्यों को संवेदनप्रवण, आकर्षक और मनोरंजक रूप में प्रस्तुत करना है। रूपक की सामग्री का चयन और प्रस्तुति ऐसी होनी चाहिए कि वह एक निश्चित नाटकीय प्रभाव उत्पन्न कर सके। इसके लिए सूत्रधारों, सामग्री और प्रस्तुति-तकनीकों की विविधता—भेंटवार्ता, वक्तव्य, भाषण का अंश, ध्वनि-प्रभाव, संगीत, अभिनय आदि का ऐसा रूपाकार खड़ा किया जाना चाहिए कि विविधता और रोचकता आद्योपांत बनी रहे। तथ्यो, सूचनाओं और विचारों को भी थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बाँटकर, अवसरानुकूल ऐसे प्रस्तुत करना चाहिए कि श्रोता ऊबने न लगे। अन्विति, चयनात्मकता, अनुपात और तीव्रीकरण एक सफल रूपक के अनिवार्य तत्त्व हैं।

(iii) रेडियो के आविष्कार ने **रेडियो-वार्त्ता** नामक अत्यंत महत्त्वपूर्ण साहित्य-रूप को जन्म दिया है। इसमें संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत, रेखा-चित्र, व्यंग्य-विनोद आदि सभी विधाएँ समाहित हैं। प्रथम दृष्ट्या इससे निबंध का भ्रम हो सकता है परन्तु यह मुद्रित निबंध की तरह अपने समग्र रूप में श्रोता को उपलब्ध नहीं रहती। वह वार्त्ता को एक साथ, समग्र रूप में नहीं देख सकता, न ही उसके कठिन अंशों को दुहरा सकता है। दूसरे, निबंध की भाषा-शैली उच्चरित शब्द और वार्तालाप की नहीं होती। वास्तव में, रेडियो-वार्त्ता अपने शाब्दिक अर्थ के अनुरूप ही अदृश्य श्रोता से की गयी बातचीत है। इसमें सफल एकल-संभाषण की सारी ख़ूबियाँ होती हैं।

सफल रेडियो वार्ता के लिए आवश्यक है कि इसकी प्रवृत्ति संवादी हो। इसके लिए वार्त्ताकार को ही अदृश्य श्रोता की तरफ़ से संभावित प्रश्न पूछने चाहिएँ, चुटकियाँ लेनी चाहिएँ और विस्मयादि प्रकट करना चाहिए। उसे इसका ध्यान रखना चाहिए कि कब श्रोता ऊबने

लगेगा या कब उसे सूचनाएँ गरिष्ठ हो रही होंगी।

आत्मनिष्ठता और व्यक्तित्व का प्रेक्षण वार्त्ताकार के लिए आवश्यक है क्योंकि श्रोता सिर्फ़ जानकारी नहीं वार्त्ताकार का दृष्टिकोण भी चाहता है। आत्मीयता वार्त्ता का प्राण है। इसी तत्त्व के कारण श्रोता को यह अनुभव होता है कि वार्त्ताकार किसी श्रोता-समूह से संबोधित नहीं है, सिर्फ़ उसी से अपने मन की बात कह रहा है, चुपचाप उसके कानो में।

वार्त्ता की भाषा-शैली में ही उसकी अस्मिता है। इसकी भाषा शब्द के उच्चरित और श्रव्य रूप को दृष्टि मे रखती है तथा चित्रात्मकता एवं सामान्य का विशेषीकरण इसके तरीक़े हैं। वार्त्ता की शैली एक मित्र से किये जाने वाले सरस वार्तालाप की होती है। इसी सरस वार्त्तालाप के बीच-बीच मे सूचनाएँ, जानकारियाँ और विचार भी संप्रेषित किये जाते हैं लेकिन, श्रोता की ग्रहण-क्षमता और रुचिकरता की सीमाओं में।

रेडियो-वार्त्ता के आलेख के बाद महत्त्वपूर्ण होता है उसका प्रस्तुतीकरण, जिसके अंतर्गत स्पष्ट स्वर, शुद्ध उच्चारण, पाठ का आत्मविश्वास, आत्मीयता और लयात्मकता तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह होता है कि वार्त्ता पढ़ी हुई न लगे। श्रोता को लगे कि वार्त्ताकार सहज भाव से बोल-बतिया रहा है। परन्तु, रेडियो-वार्त्ता के उक्त अपेक्षित मानदंडों पर अधिकतर वार्त्ताएँ खरी नहीं उतरतीं और प्रसारण-समय का क्रूरतापूर्ण अपव्यय होती हैं। आकाशवाणी को अलोकप्रिय बनाने में वार्त्ताओं का बहुत बड़ा हाथ है। अतः, जब तक वार्त्ता का विषय आत्यंतिक महत्त्व का न हो या, जब तक वार्त्ताकार ही अत्यंत महत्त्वपूर्ण, विख्यात या क्षमता-सम्पन्न न हो, वार्त्ता के प्रसारण से बचना ही श्रेयस्कर है।

संगीत-रूपक रेडियो-रूपक और संगीत का सम्मिलित रूप है। जब रूपक की परिकल्पना संगीत को अनिवार्य तत्त्व के रूप में रखकर की जाती है, तो संगीत-रूपक बनता है। इसकी कथानकविहीनता इसे संगीत-नाटक से अलग करती है। परन्तु, संगीत की अनिवार्यता इसके क्षेत्र को सीमित कर देती है क्योंकि सिर्फ़ कोमल और भावना-प्रधान विषय ही इसके लिए उपयुक्त होते हैं। फिर भी, एक बड़ा कृतिक्षेत्र सगीत-रूपक का है। प्रेम, दांपत्य, वार्द्धक्य, ममता, अकेलापन आदि ही नहीं; जातिवाद, धर्मांधता, बेरोज़गारी,

भुखमरी जैसी समस्याओ से लेकर विभाजन जैसी ऐतिहासिक त्रासदियो, स्वतंत्रता-संग्राम, युद्ध और परमाणु-विभीषिका तक किसी भी विषय पर संगीत-रूपक की रचना हो सकती है। सिर्फ़ उसकी शैली भावोत्तेजक होगी, शुष्क विवेचनात्मक नही। अर्थात्, विशुद्ध ज्ञान-विज्ञान और दर्शन की विवेचना करने वाले विषयों को छोड़कर अन्य किसी भी विषय पर रूपक का निर्माण हो सकता है।

रूपविधान की दृष्टि से इसमें भी सिर्फ़ एक विचार होता है, कथानक नहीं। परन्तु, रूपक जहाँ तथ्य-प्रधान होते हैं; वहीं संगीत-रूपक भावना-प्रधान। इसके विचार भी इस भावनात्मक निरूपण से ही उभरकर आते हैं।

संगीत-रूपक में सूत्रधार हो सकते हैं; पात्र, संवाद और घटनाओ की योजना की जा सकती है लेकिन इसकी केंद्रीय वस्तु संगीत होगा। अभिव्यक्ति का एक बड़ा भाग गीत-संगीत के हिस्से जायेगा। शेष तत्त्व गौण और सहायक होंगे।

इस प्रकार, संगीत-रूपक एक नया और बेहद चुनौतीपूर्ण कला-रूप है। इसके लेखक/ प्रस्तुतकर्त्ता का विचार के अतिरिक्त नाटक, गीति और संगीत—तीनों ही विधाओं पर सम्यक् अधिकार होना चाहिए और यह एक दुर्लभ संयोग है।

रेडियो-कार्टून एक बेहद चुनौतीपूर्ण कला-रूप है। दृष्टि से संबंध रखने वाले कार्टून का विशुद्ध ध्वनि के माध्यम से प्रसारण एक कठिन काम है। परंतु, रेडियो-नाटक के उपकरणों के सहयोग से यह संभव हो पाता है। वास्तव में, रेडियो-कार्टून रेडियो-झलकी का एक बेहद संघनित रूप है क्योंकि जहाँ, झलकी की अवधि दस से पंद्रह मिनट की होती है वहीं, यह एक-डेढ़ मिनट का होता है। साथ ही, झलकी और रेडियो-कार्टून में विषयवस्तु और कथ्य का भी अंतर होता है। झलकी जहाँ, विशुद्ध हास्यपरक होती है वहीं, रेडियो-कार्टून का मूल स्वर व्यंग्य होता है। दूसरे, झलकी की स्थितियाँ और चरित्र काल्पनिक होते हैं वहीं, इसके चरित्र और स्थितियाँ जितने ही वास्तविक और विख्यात होंगे, इसका प्रभाव उतना ही गहरा और तीखा होगा।

शिल्प की दृष्टि से, रेडियो-कार्टून में सर्वाधिक महत्त्व संवादों का होता है, जिनका

अत्यंत चुटीला और कल्पनाशील होना अनिवार्य है, क्योंकि गिनती के संवादो से स्थितियो और चरित्रों की विसंगति को पूरी गहराई में पकड़ना होता है और पैनेपन मे उकेरना होता है।

रेडियो-कार्टून में व्यवहार-वैचित्र्य (मैनरिज़्म) द्वारा चरित्रों को पहचान दी जाती है और उभारा जाता है तथा वाणी की शैलीगत विशिष्टताओ के स्वाँग (मिमिक्री) द्वारा विख्यात चरित्रों का संप्रेषण किया जाता है। पार्श्व-संगीत जहाँ हास्य-व्यंग्यपरक वातावरण का निर्माण करता है वही, व्यंग्य के प्रभाव को और गहरा करता है। पार्श्व-संगीत का प्रयोग किसी विशेष चरित्र के सांगीतिक प्रतिरूप (म्यूज़िकल काउटरपार्ट) के रूप में भी किया जा सकता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण निष्कर्षों के सार-रूप में कहा जा सकता है कि रेडियो एक बेहद संभावनाओं वाला और उत्तेजक माध्यम है, जिसका बिंबाधायन अत्यंत सहज, त्वरित और तीव्र होता है, जो न सिर्फ़ साहित्य-रूपो का सम्यक् और कई बार कहीं अधिक प्रभावशाली संप्रेषण कर सकता है वरन् जिसकी चुनौती के फलस्वरूप अनेक संवेदन-सघन एवं संभावनापूर्ण साहित्य और कलारूप अस्तित्व में आये हैं।

□□□

परिशिष्ट 1

परिशिष्ट-एक

एक कलारूप में रेडियो-संप्रेषण की वर्तमान स्थिति

पचहत्तर-अस्सी वर्ष के जीवन में रेडियो-माध्यम ने चमत्कारी संख्या मे प्रस्तुतियाँ दी हैं और कहने की ज़रूरत नहीं कि उनमें से अधिकतर विस्मृति के गर्त में बिला गई हैं। हालाँकि मास्टरपीस रोज़-रोज़ नहीं दिये जा सकते, ख़ासतौर से रेडियो में, जहाँ हर प्रस्तुतकर्ता को ख़ुद तजरबा कर करके ही सीखना होता है—इस जटिल माध्यम की छानबीन करनी होती है, इसके उपकरणो को आत्मसात करना होता है और असाधारण गति से हो रहे तकनीकी विकास के साथ संगति बिठाए रखनी होती है; तब भी कुछ श्रेष्ठ प्रस्तुतियाँ तो आनी ही चाहिएं। परन्तु समस्या यह है कि रेडियो-लेखक/प्रस्तुतकर्ता को शांति से अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग नहीं तलाशने दिया जाता क्योंकि एक तरफ़ तो सिर्फ़ कला-माध्यम न होने बल्कि मुख्यतया संचार-माध्यम के रूप में काम करने का दबाव उस पर भयंकर रूप से बना रहता है; दूसरी तरफ़, महान साहित्यिक/मंचीय कृतियों से उसकी तुलना अनिवार्यतः की जाती है। साथ ही रेडियो के भाड़े के कलमघिस्सुओं की रद्दी में, जिन पर रेडियो अधिकांशतः निर्भर करता है, उसके काम के विलुप्त हो जाने का ख़तरा भी मंडराता रहता है। उपेंद्रनाथ अश्क, राजेंद्र सिंह बेदी, सआदत हसन मंटो, प्रफुल्ल चंद्र ओझा 'मुक्त', फणीश्वरनाथ रेणु, भगवतीचरण वर्मा, इलाचंद्र जोशी, सुमित्रानंदन पंत, विष्णु प्रभाकर, कमलेश्वर, गिरिजा कुमार माथुर, दुष्यन्त कुमार, प्रभु जोशी समेत सारी भारतीय भाषाओं में ऐसे सैकड़ों सम्मानित रचनाकार हैं जिन्होंने थोड़े या लंबे समय के लिए रेडियो विधा में रचनाएँ/प्रस्तुतियाँ दी हैं लेकिन किसी स्थाई महत्त्व की

रचना का उल्लेख संभवतः बेहिचक नहीं किया जा सकता। 1952 से ही आकाशवाणी की नीति का अभिन्न हिस्सा रहा है कि विदेशी और भारतीय भाषाओं की महान कथा और नाट्यरचनाओं के रेडियो रूपांतर नियमित रूप से प्रसारित किए जाएँ। आकाशवाणी के अखिल भारतीय प्रसारण और विभिन्न केंद्रो के वार्षिक शेड्यूल देखें तो हम पाएँगे कि देश के सारे थिएटर मिलकर उतने नाटक नही करते जितने कि आकाशवाणी से प्रसारित होते हैं। इब्सन, चेख़ोव, मॉलियर और शॉ से लेकर शंकर शेष, हबीब तनवीर, मोहन राकेश और धर्मवीर भारती तक वहाँ होंगे—सारी भारतीय भाषाओं के महत्त्वपूर्ण उपन्यासो और कहानियों के नाट्यरूपांतरण होंगे और इसके अलावा होंगे रूपक (feature)–रेडियो की अपनी विशिष्ट और शक्तिशाली विधा। (यहाँ कहानियों, कविताओं, वार्ताओ (निबंध) आदि मूल रूप से लिखित शब्द माध्यम/ प्रिंट मीडियम की विधाओं को सम्मिलित नहीं किया जा रहा है—हालाँकि बहुत बड़ी संख्या में होते वे भी हैं। झलकी, नाटिका और प्रहसन तथा रेडियो-कार्टून और रेडियो-उपन्यास जैसी प्रयोगात्म विधाएँ भी हो सकती हैं) आकाशवाणी इस पर थोड़ा गर्व कर सकती है कि लाखों ऐसे श्रोताओं तक उसने उच्चस्तरीय रचनाएँ पहुँचाई हैं जो अन्यथा उन तक कभी न पहुँचतीं।

हालाँकि मनोवैज्ञानिक या कल्पना की उन्मुक्त उड़ान (free fancy) को केंद्र में रखने वाले नाटक, उदाहरणतः 'ए मिड समर नाइट्स ड्रीम' अपेक्षाकृत सुगमतापूर्वक रेडियो पर प्रस्तुत किए जा सकते हैं। फिर भी, इसमें नुकसान तो है ही और यह नुकसान उतना ही अधिक होगा अगर श्रोता ने पहले ही वह नाटक मंच पर देख रखा हो क्योंकि देखे हुए नाटक की वह अनिवार्यतः रेडियो-प्रस्तुति से तुलना करेगा और उसके लिए रेडियो-प्रस्तुति को वस्तुनिष्ठता/ तटस्थता से ले पाना बेहद मुश्किल होगा।

समस्या यह है कि मच-नाटकों के रेडियो-रूपांतरण कभी भी पूर्णतया संतुष्टिदायक नहीं हो सकते। ये हद से हद 'असली चीज़' के विकल्प हो सकते हैं और जो नाटक जितनी गहराई से मंचीय अपेक्षाओं और उपकरणों के अनुरूप लिखा गया होगा, उसके रेडियो रूपांतरण मे यह नुकसान उतना ही अधिक होगा। रेडियो माध्यम की प्रकृति ही ऐसी है कि

इसकी प्रस्तुतिका आलेख मंच-प्रस्तुति के आलेख से अनिवार्यतः भिन्न होगा। श्रेष्ठ श्रेडियो-प्रस्तुति अनिवार्यतः सूक्ष्मतम अर्थछायाओ को श्रोता के निकटतम पर्यवेक्षण के लिए प्रस्तुत करने की अपनी विशिष्ट क्षमता का भरपूर इस्तेमाल करने पर केंद्रित होगी। अफ़सोसजनक तथ्य यह है कि रेडियो अब तक ऐसे लेखकों/प्रस्तुतकर्ताओं की कोई परपरा नही तय्यार कर सका है जो उसे उसके माध्यम के अनुरूप मौलिक रचनाएँ निरंतर देते रहे। यही नहीं, नाटको और रूपकों के अलावा रेडियो की मौलिक अभिव्यक्ति-विधाएँ विकसित करने की तो कोई सुगठित कोशिश ही नही हुई है।

यह एक बेहद तकलीफ़देह स्थिति है कि गंभीर नाट्य-साहित्य की विचारणीय सेवा करते हुए रेडियो ने अनजाने ही अपने फ़ॉर्म को पूरी तरह समझने और विकसित करने के मार्ग में अवरोधक पैदा कर लिए हैं। श्रोताओं के लिए तो रेडियो-लेखन को मंचीय पैमानों से जाँचना किसी भी तरह असामान्य नही है। रेडियो-नाटक या तो मंच-नाटक का पुनर्निरूपण समझा जाता है या मंच नाटक को रिले करना। एक ऐसी प्रस्तुति के लिए एक नया पैमाना विकसित करने का तो प्रश्न ही नही उठता जो मंच-नाटक से साम्य रखते हुए भी उसके अलावे कुछ हो, ख़ासतौर से तब, जब वह संवाद-रूप में लिखी गयी हो।

समालोचना की स्थिति तो और भी दयनीय है। रेडियो-क्रिटिक, अगर कुछ जगहों पर अब भी उसे अस्तित्व बनाए रखने की इजाज़त दी गई हो, के पास एक बेहद छोटा कॉलम होता है जिसमें उसे विभिन्न वेवलेंग्थ्स पर प्रसारित प्रोपेगैंडा से लेकर चालू मनोरंजन तक, हर प्रकार के कार्यक्रमों की समीक्षा करनी होती है। इस भीड़ में अगर इक्का-दुक्का वास्तविक रचनात्मक प्रसारण हो भी तो यह उम्मीद करना बेहद महत्वाकांक्षी होगा कि रेशा-रेशा अलग कर उसकी समीक्षा की जाएगी। अक्सर तो इनका नोटिस तक नहीं लिया जाता। बी॰ बी॰ सी॰ के प्रख्यात प्रोड्यूसर डोनाल्ड मैकव्हीनी ने अपनी पुस्तक 'दि आर्ट् ऑफ़ रेडियो'[1] में पीटर गर्नी के नाटक 'दि मास्क़ ऑफ़ फ़ॉल्सहुड' का उदाहरण दिया है। पहले दो प्रसारणों में

---

1 दि आर्ट ऑफ़ रेडियो—डोनैल्ड मैकव्हिनी, पृ॰ 157

आलोचकों/स्तंभकारों ने इसका कोई नोटिस नहीं लिया। सिर्फ़ बी॰ बी॰ सी॰ के अपने जर्नल 'दि लिस्नर' मे एक समीक्षा आई। लगभग छः महीने बाद जब तीसरी बार इसका प्रसारण हुआ तब 'दि मैन्चेस्टर गार्डिमन' ने 'रेडियो क्लासिक' शीर्षक से इसकी बेहद प्रशंसात्मक समीक्षा प्रकाशित की। और इसे रचनात्मक रेडियो के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कलात्मक प्रस्तुति माना।

यह एक कटु यथार्थ है कि जहाँ नाट्य-कृतियों की गंभीर समीक्षाएँ आती हैं, भले ही वे उस लायक हों या नही—वहीं रेडियो-लेखक अपने काम को तालाब में फेंके गए पत्थर की तरह देखने को अभिशप्त है, जिसकी नियति चुपचाप गुमनामी के गर्त मे डूब जाना है। हो सकता है वर्षों बाद उसे एक नितांत अपरिचित व्यक्ति बताए कि उसने उस प्रस्तुति में नया सत्य या सत्य का नया आयाम पाया था लेकिन ऐसे श्रोता से अनायास भेट होने की संभावना बेहद दुर्लभ होती है। वह देखता है कि विशुद्ध व्यावसायिक टेलीविज़न प्रस्तुति की समीक्षा में गंभीर प्रेस भी स्तंभ के स्तंभ समर्पित कर रहा है और उसे अपनी क़िस्मत सराहनी होती है अगर उसका ज़िक्र भी कर दिया जाय। किसी थिएटर मे लगातार छः वर्ष तक चलने जैसी संभावना तो सुदूर क्षितिज पर भी अकल्पनीय है। रेडियो प्रस्तुतकर्ता को पता है कि आधा घंटा और बस—उसकी रचना के जीवन का अंत! व्यावसायिक रूप से इसकी री-रेकॉर्डिंग नहीं होगी, इसका प्रकाशन नहीं होगा। भले ही यह एक आकर्षक मिनिएचर हो लेकिन इसे फ्रेम कराकर दीवाल पर नहीं सजाया जाएगा। बस एक छोटा-सा भुगतान होगा, प्रसारण होगा और कुछ लोगों के द्वारा सुना जाएगा। संभवतः कोई इसे याद भी रखे लेकिन किसी थिएटर या सिनेमाघर में एक छोटी अवधि तक भी लगातार दिखाए जाने का स्थायित्व तक इसकी क़िस्मत में नहीं। आधा घंटा और उसकी रचना का महत्त्व समाप्त। उसे अगर काम करना है तो सिर्फ़ इस माध्यम से प्यार के लिए—सिर्फ़ एक कलात्मक संतोष की उपलब्धि के लिए, भले ही वह कितना भी क्षणजीवी हो।

ब्रॉडकास्टिंग एक उद्योग है—जहाँ कि भारी मात्रा मे सूचना और मनोरंजन का उत्पादन होता है। एक ऐसा उद्योग जो बॉक्स-ऑफ़िस के तहत काम करने को विवश है और जहाँ फ़िल्म उद्योग की ही तरह यह भ्रम बहुप्रचारित और बहु-स्वीकृत है कि पलायनवाद ही मनोरंजन का एकमात्र प्रारूप है। यह एक बेहद तकलीफदेह स्थिति है कि एक ऐसे माध्यम

को, जिसमें कलात्मक अभिव्यक्ति की अपार संभावनाएँ हैं, एक ही समय में अधिकाधिक श्रोताओं को संतुष्ट करने की दुराशा से अभी भी मुक्त होना है। फिर भी, उम्मीद को नई साँसें मिल जाती हैं, जब इस तथ्य के बावजूद कि पूरे प्रसारण में वास्तविक रचनात्मक-कार्यक्रमों का हिस्सा बेहद न्यून होता है और वह भी अक्सर उपेक्षित ही रह जाता है, हम अक्सर लेखकों और प्रस्तुतिकर्ताओं को इस माध्यम के संसाधनो की नई और गहरी पड़ताल करते पाते हैं और आधे घंटे की प्रस्तुति पर इस तरह काम करते पाते हैं गोया यह 'हैमलेट' हो। इसी जज़्बे और ऐसे ही 'अल्पसंख्यक' प्रसारण पर ही इस कलारूप का सकारात्मक भविष्य निर्भर है।

* * *

परिशिष्ट 2

परिशिष्ट 2

आधार-ग्रंथ

1. आधुनिक कवि-14, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 1973

2. निराला रचनावली, सं0-नंद किशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1983

3. प्रतिनिधि कहानियाँ—निर्मल वर्मा, राजकमल पेपर बैक्स दिल्ली,1987

4. कहानियों से गुज़रती सदी, अनुवाद-अनुराधा महेंद्र, संवाद प्रकाशन मेरठ, 1999

5. अमरकांत की सम्पूर्ण कहानियाँ अमर कृतित्व, इलाहाबाद 1996

6. रेडियो-नाट्य संग्रह, 1956, 1962, 1964, 1968, 1969, 1979, आकाशवाणी, सू0 प्र0 मंत्रालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली

7. केशर-कस्तूरी—शिवमूर्ति, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली 1994

8. ख़ामोशी की परतें—इंद्रमणि उपाध्याय, संवाद प्रकाशन, मेरठ 2002

9. वो आख़िरी पत्ता—ओ0 हेनरी, अनु.-मीनू मंजरी, संवाद प्रकाशन, मेरठ 2002

10. प्रतिनिधि कहानियाँ—ज्ञानरंजन, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 1984

11. ख़ामोश अदालत जारी है—विजय तेंदुलकर, अनु0सरोजिनी वर्मा, विद्या प्रकाशन मंदिर, नयी दिल्ली, 1994

12. स्कंदगुप्त—जयशंकर प्रसाद, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2000

13. लहरों के राजहंस—मोहन राकेश, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1965

14. चिंतामणि भाग-1—रामचन्द्र शुक्ल, इंडियन प्रेस लि0 प्रयाग, 1950

15. संधिनी—महादेवी वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1988

16. मुक्तिबोध-रचनावली, खड 6, सं0-नेमिचंद्र जैन, राजकमल पेपरबैक्स, 1985

17. भारत-भारती—मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य-सदन, चिरगाँव, 1969

18. प्रतिनिधि कविताएँ—नागार्जुन, राजकमल पेपरबैक्स, 1993

19. फूल नहीं रंग बोलते हैं—केदारनाथ अग्रवाल, परिमल प्रकाशन इलाहाबाद, 1965

20. युग की गंगा—केदारनाथ अग्रवाल, हिन्दी ज्ञान मंदिर लि0, मुम्बई, 1947

21. बंद न करना द्वार—रमानाथ अवस्थी, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, 1979

22. प्रतिनिधि कविताएँ—सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, राजकमल पेपरबैक्स, 1989

23. प्रतिनिधि कविताएँ—श्रीकांत वर्मा, राजकमल पेपरबैक्स, 1992

24. प्रतिनिधि कविताएँ—रघुवीर सहाय, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

25. प्रतिनिधि कविताएँ—मुक्तिबोध, राजकमल पेपरबैक्स, 1989

26. अपने सामने—कुँवर नारायण, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1981

27. सात गीत-वर्ष—धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1959

28. तार-सप्तक, सं0—स0 हि0 वा0 अज्ञेय, भा0 ज्ञानपीठ, काशी, 1966

29. अशोक के फूल—हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली, 1948

30. टूटा तारा—राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, राज राजेश्वरी साहित्यिक मंदिर, शाहाबाद, 1948

31. संस्मरणांजलि—बनारसीदास चतुर्वेदी, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1957

32 लोकदेव नेहरू—रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल प्रकाशन, पटना, 1969

33. आवारा मसीहा—विष्णु प्रभाकर, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1974

34. सत्य के प्रयोग—मो0क0 गाँधी, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली, 1927

35. मेरा बचपन—मैक्सिम गोर्की, विदेशी भाषा प्रकाशन-गृह, मॉस्को, 1929

36. प्रेमचन्द्र : कलम का सिपाही—अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962

37. अरे यायावर रहेगा याद—स0 ही0 वा0 अज्ञेय, सरस्वती प्रेस, वाराणसी, 1952

38. पैरो मे पंख बाँधकर—रामवृक्ष बेनीपुरी, लोकसेवक प्रकाशन, वाराणसी, 1953

39. आख़िरी चट्टान तक—मोहन राकेश, प्रगति प्रकाशन, दिल्ली, 1953

40. हिमालय-परिचय, भाग-1—राहुल सांकृत्यायन, लाजर्नल प्रेस, प्रयाग, 1953

41. पथ के साथी—महादेवी वर्मा, भारती-भंडार, इलाहाबाद, 1956

42. माटी की मूरतें—रामवृक्ष बेनीपुरी, अजंता प्रेस, पटना, 1946

43. दस तस्वीरें—जगदीश चन्द्र माथुर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1979

44. अतीत के चलचित्र—महादेवी वर्मा, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1995

45. सदाचार का ताबीज़—हरिशंकर परसाईं, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, 1967

46. अंगद का पाँव—श्रीलाल शुक्ल, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1959

47. शिकायत मुझे भी है—हरिशंकर परसाई, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1970

48. खुली धूप मे नाव पर—रवीन्द्र नाथ त्यागी, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1963

49. विष्णु प्रभाकर के सम्पूर्ण नाटक, भाग-2 और 3, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1987

50. रात बीतने तक तथा अन्य ध्वनि-नाटक—मोहन राकेश, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, 1974

51. अंधा-युग—धर्मवीर भारती, किताब महल, इलाहाबाद, 1955

52. ध्वनि-तरंगों की ताल पर—गोपालदास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1996

53. पर्दा उठाओ, पर्दा गिराओ—उपेन्द्रनाथ अश्क, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 1951

54. सृष्टि की साँझ और अन्य काव्य-नाटक—सिद्धनाथ कुमार, पुस्तक-मंदिर, बक्सर, 1954

55. मेरे सर्वश्रेष्ठ एकांकी—डॉ0 राजकुमार वर्मा, साकेत प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972

56. सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1979

57. Collected Plays–Samuel Beckett, Grove. Weiden field, New York, 1984

58. Collected Radio Plays, Editor–Lionel Gamlin, Chapman & Hall Ltd., London, 1947

59. Radio's Best Plays, Ed.–Joseph Liss, Greenberg Publisher, New York, 1947

60. Romeo and Juliet–William Shakespeare, Foundation Books, New Delhi, 1999

61. Collected Plays–Arthur Miller, Allied Publishers Pvt. Ltd., 1967

62. Hamlet–William Shakespeare, S. Chand & Co. Ltd., New Delhi, 1999

63. Radio Theatre, Editor–Val Gielgud, Macdonald & Co. Ltd., London, 1955

64. British Radio Drama, Editor–Val Gielgud, Faber & Faber, London, 1953

65. Musical Features for broadcast, Editor–Norman corwin, Greenberg Publisher, New York, 1948

संदर्भ-ग्रंथ

1. साहित्य का परिवेश, सं0—स0 ही0 वात्स्यायन अज्ञेय, नेशन पब्लिशिंग-हाउस, दिल्ली, 1985

2. साहित्य के नये दायित्व—रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोक-भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1991

3. दूरदर्शन : दशा और दिशा—सुधीश पचौरी, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, नयी दिल्ली, 1994

4. उत्तर-आधुनिकताः साहित्य और संस्कृति की नयी सोच—देवेन्द्र इस्सर, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, 1996
5. शब्द की साख—केशवचंद्र वर्मा, प्रदीपन प्रकाशन एकांश, इलाहाबाद, 1990
6. सौंदर्य-शास्त्र—डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्यभवन लि०, इलाहाबाद, 1953
7. अथातो सौन्दर्य-जिज्ञासा—डॉ० रमेश कुंतलमेघ, मैकमिलन प्रकाशन, दिल्ली, 1977
8. आधुनिक हिंदी कविता में बिंब-विधान—डॉ० केदारनाथ सिंह, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, 1971
9. काव्य-बिंब—डॉ० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग-हाउस, दिल्ली, 1967
10. रस-मीमांसा—रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत 2023
11. सौंदर्य शास्त्र के तत्व—डॉ० कुमार विमल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1967
12. उत्तर-आधुनिकता और मार्क्स, सं० देवीशंकर नवीन और सुशांत कुमार मिश्र, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2000
13. रेडियो-लेखन—डॉ० मधुकर गंगाधर, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1974
14. कहानी : स्वरूप और संवेदना-राजेन्द्र यादव, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1968
15. कहानी : नयी कहानी—नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1989

16. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत 2007

17. हिन्दी उपान्यास : एक अंतर्यात्रा—रामदरश मिश्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1968

18. नाट्य शास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक—हज़ारी प्रसाद द्विवेदी और पृथ्वीनाथ द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, 1963

19. हिंदी नाटक का उद्‌भव और विकास—डॉ0 दशरथ ओझा, राजपाल ऐंड संस, दिल्ली, 1958

20. नाटक-साहित्य का अध्ययन—ब्रैंडर मैथ्यूज़, अनु0-इंदुजा अवस्थी, आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली, 1964

21. चिंतामणि—रामचंद्र शुक्ल, इण्डियन प्रेस लि0, प्रयाग, 1950

22. कविता के नये प्रतिमान—नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1968

23. हिंदी कहानी की रचना-प्रक्रिया—परमानंद श्रीवास्तव, ग्रंथम, कानपुर, 1965

24. साहित्यालोचन—श्यामसुन्दर दास, इंडियन प्रेस प्रा0 लि0, इलाहाबाद, 1999

25. निबंधकार बालकृष्ण भट्ट-गोपाल पुरोहित, हिंदी साहित्य-समाज, लखनऊ, 1953

26. रेडियो वार्ता-शिल्प—सिद्धनाथ कुमार, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1990

27. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत—डॉ0 गोविन्द त्रिगुणायत, भारतीय साहित्य-मंदिर, दिल्ली, 1956

28. हिन्दी गद्य का विकास और परम्परा—डॉ0 पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', साहित्य-संस्थान, दिल्ली, 1963

29. हिन्दी जीवनी-साहित्य : सिद्धांत और अध्ययन—डॉ0 भगवानशरण भारद्वाज, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 1978

30. काव्य शास्त्र—डॉ0 भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1990

31. आधुनिक हिंदी साहित्य—डॉ0 रामगोपाल सिंह चौहान, विनोद पुस्तक-मंदिर, आगरा, 1964

32. हिंदी का स्वातंत्र्योत्तर हास्य और व्यंग्य—डॉ0 बालेंदुशेखर तिवारी, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर, 1978

33. हिन्दी व्यंग्य-साहित्य—डॉ0 ए0एन0 चंद्रशेखर रेड्डी, शबरी संस्थान, दिल्ली, 1989

34. व्यंग्य के मूलभूत प्रश्न-डॉ0 शेरजंग गर्ग, सामयिक प्रकाशन, 1976

35. रेडियो-नाटक—हरिश्चन्द्र खन्ना, आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली, 1955

36. रेडियो-नाटक की कला—डॉ0 सिद्धनाथ कुमार, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1992

37. हिन्दी गीति-नाट्य—कृष्ण सिंहल, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1964

38. Psychological Types–C.G. Jung, Translation–H.G. Byness, Kegan Paul Trench Truvner & Co., London, 1944

39. The Technique of Radio-writing—Luther Weaver, Prentice Hall Inc., New York, 1948

40. Aristotle on the art of poetry, Oxford Publication, 1947

41. The Radio play : Its technique and possibilities–Felix Felton, Sylvan Press, London, 1949

42. The right way to Radio play-writing—Val Gielgud, Glade House, Surrey, 1950

43 Radio of the many voices—Luther Weaver, Prentice Hall Inc., New York, 1968

44. The Radio-talk—Genett Dunrab, Sylvan Press, London, 1949

45. The art of Radio–Donald Mc Whinnie, Faber & Faber, London, 1949

46. You are on the AIR-Lionel Gamlin, Chapman & Hall Ltd., London, 1947

पत्र-पत्रिकाएँ

1 हस

2. आजकल

3. पहल

4. माधुरी

5. आकाशवाणी प्रसारिका

6. नयी कहानियाँ

7. Aakashwani

8. B.B.C. Quarterly

9. The Times of India

रिपोर्ट

1. आकाशवाणी की वार्षिक रिपोर्ट 1952 और 1989

कोश

1. मानक हिंदी कोश, सं0-रामचंद्र वर्मा, हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1966
2. हिन्दी साहित्य-कोश, सं0-धीरेंद्र वर्मा, ज्ञानमंडल, वाराणसी, सं0 2020
3. हिंदी विश्वकोश, खंड-1, ले0-प्रभाकर माचवे, नागरी प्रचारिणी-सभा, वाराणसी, 1960
4. Chambers Dictionary, Allied Chambers (India) Ltd., New Delhi, 1993